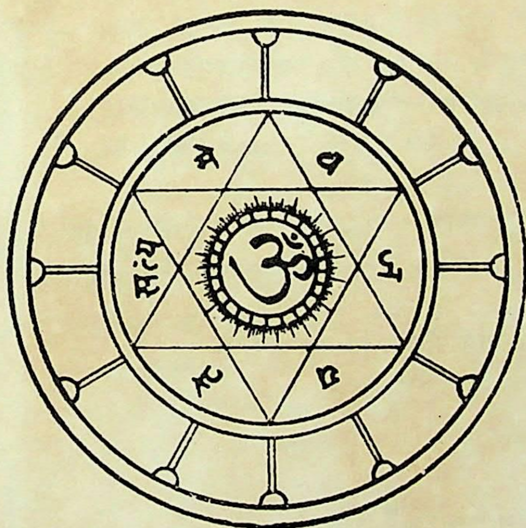
आर्या

या

आर्यदृष्टि



ऋषिकुमार

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा-संस्थान,
मथुरा (उ०प्र०) २८१००१ ।

प्रथम संस्करण—श्रीमती कलावतीदेवी, वाराणसी द्वारा
वि०सं० २०१० में १००० प्रतियों का ।

वर्तमान द्वितीय संस्करण—साधारण संस्करण २००० प्रतियां ।
राज संस्करण २०० प्रतियां ।

प्रकाशन-तिथि—चैत्र पूर्णिमा वि०सं० २०३८
१९ अप्रैल, १९८१

मूल्य : साधारण संस्करण—१२.००
राज संस्करण—१६.००

मुद्रक :

लक्ष्मी प्रिंटिंग वर्क्स,
गली मदरसा मीर जुमला,
लाल कुआं, दिल्ली-११०००६ ।

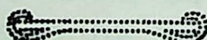
ग्रन्थ-परिचय

श्री ऋषिकुमार जी द्वारा विरचित 'आर्या' नामक पुस्तक को देखने का मुझे अवसर मिला। 'आर्या' शब्द का प्रयोग लेखक ने एक नये अर्थ मे किया है अर्थात् 'आर्यभूमि' की आर्य-संस्कृति मे विकसित आर्य जीवन की दृष्टि और पद्धति। इस अर्थ के अनेक सूत्रों पर लेखक ने प्राचीन साहित्य और संस्कृति की सहायता से प्रकाश डाला है। ब्रह्मचर्य अर्थात् संयमप्रधान जीवन, प्रकृति की सबसे रमणीय और रहस्यमयी कृति स्त्री के साथ पुरुष का नियमानुकूल सम्बन्ध और उसके फलस्वरूप उत्तम संतति का जन्म, शिक्षा, संस्कृत भाषा, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य आदि विषयों पर लेखक ने श्रद्धायुक्त चिन्तन किया है। उनका दृष्टिकोण नये राष्ट्रीय उत्थान के लिये प्राचीन आदर्श की सम्प्राप्ति है। आत्मचैतन्य और निजी व्यक्तित्व को ठीक प्रकार पहिचान कर हम अपने राष्ट्र मे विदेशों से आनेवाले तत्वोंको स्वस्थरूपमे पचा सकते हैं। संतुलित गृहस्थ जीवन भारतीय संस्कृति की धुरी है। इसी जय-पताका के द्वारा यह सस्कृति उस समन्वय को प्राप्त कर सकी जो इसकी अमरता का कारण है। गृहस्थ जीवन प्रवृत्तिमूलक होते हुये भी निवृत्ति-धर्म की आवश्यक और श्लाघनीय सीढ़ी है। जिस निवृत्ति-धर्म के मूल मे प्रवृत्ति-परक गृहस्थाश्रम का विधान नहीं है, वह निवृत्ति मानवीय मन के साथ विश्वासघात है। उसकी सफलता क्षणिक होती है। अतएव भारतीय ऋषियों का धर्म प्रवृत्ति-मूलक गृहस्थाश्रम को यथासम्भव अधिक से अधिक विशुद्ध और संस्कारसम्पन्न

बनाकर निवृत्ति की उस स्थिति मे पहुँचता था जहाँ से पुनः स्खलन नहीं होता, जहाँ मानवीय मन अपना स्वाभाविक विकास प्राप्त करता है। भारतीय संस्कृति मे जो कुछ भी मोक्ष, शम्-धर्म या आत्मसंयम के विषय मे कहा गया है, वह जीवन का एकांगी मार्ग कभी नहीं था, उस सबकी मूलभित्ति गृहस्थ आश्रम था। पुस्तक मे लेखक ने जिस श्रद्धापरायण शैली से बार-बार सात्विक आदर्शों की ओर ध्यान दिलाया है, वह इस देश की संस्कृति के सत्य के अनुकूल है।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय
२१-९-५३

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
प्रोफेसर, कालेज आफ इण्डालोजी



एक विरक्त बालक

बन्दउँ सन्त समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोउ॥
सन्त सरल चित जगत हित, जानि आपु पर नेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, राम चरण रति देहु॥

संसारमे सन्तोंका आविर्भाव लोककल्याणके लिये होता है। सन्त भगवत्स्वरूप हैं। वे प्राणियोंके उद्धारार्थ भगवान्की ओरसे भेजे जाते हैं अथवा भगवान् ही सन्तरूपसे समय-समय पर अवतीर्ण होकर जीवोंको मार्ग दिखाते हैं। परोपकार सन्तोंका सहज स्वभाव है "पर उपकार वचन मन काया, सन्त सहज स्वभाव खगराया"।

सिद्ध और साधक भेदसे सन्तोंकी दो कोटियाँ होती हैं। जो जन्मसिद्ध आत्मायें हैं उन्हें भगवान् विशेष अंश देकर संसारमे अपना सन्देश प्रचार करने या कोई नियतकर्म सम्पादन के लिये भेजते हैं। वे एक विशेष जनसमूहको साथ लेकर प्रभुकी ओर स्वयं अग्रसर होते और लोगोंको भी प्रेरितकर आगे बढ़ाते हैं। उनके द्वारा विश्वके अधिकाधिक लोगोंका कल्याण होता है। इनकी गणना अवतारी महापुरुषोंमे होती है। स्वामी रामानुज, भगवान् शंकराचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि इसी कोटिके महापुरुष हैं।

दूसरे हैं पूर्वजन्मके योगभ्रष्ट साधक जो कि स्वयं भगवान्के ही शब्दोंमे अनेक वर्ष पर्यन्त पुण्यलोकोंमे निवास-

कर धीमान् योगियोंके कुलमे उत्पन्न होते हैं। लोकमे ईदृश् जन्म दुर्लभतर है। यहाँ वे पूर्वदेहके बुद्धिसंयोगको लाभकर योगसिद्धिके लिये पुनः प्रयत्न करते हैं। पूर्वाभ्यास उन्हें योगसाधनकी ही ओर खींच लेजाता है। अनेक जन्मोंकी साधनासे वे निष्पाप तो होते ही हैं, जो थोड़ी सी कमी रह जाती है उसे वे अल्पप्रयासके द्वारा पूर्णकर इसी जन्ममे परागति प्राप्त करलेते हैं। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्। गीता अध्याय ६, श्लोक ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, द्रष्टव्य।

ऐसे सन्तोंकी साधना पूर्वजन्मोंसे लगातार चली आती है और जब पूर्णताके समीप पहुँचती है तब साधकमे बचपनसे ही चमत्कार देखे जाते हैं। जिस साधनके लिये अन्य साधकों को दीर्घकाल श्रम करना पड़ता है, इनमे बालपनसे ही उसके लक्षण प्रकट होजाते हैं। संसारमे इनका जन्म ही साधनके उद्देश्यसे होता है अतएव ये गृहस्थाश्रमके पंकमे नहीं फँसते, आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर बालयोगी होते हैं। एक ऐसे ही योगलक्षणसम्पन्न अल्पवर्षीय बालकको देखने और उसके सम्पर्कमे आनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। मै था अध्यापक और लड़केका ननिहाल था मेरे ही तित्तिरपुर ग्राममे पं० दुर्गाप्रसाद शुक्लके यहाँ, अतः मुझे उससे मिलनेका पूरा-पूरा सुयोग लगा। मेरे यहाँ ग्रीष्मावकाशमे गीता, पंचदशी, रामचरितमानस और भर्तृहरिके वैराग्यशतककी प्रायः चर्चा होती और कभी-कभी "कल्याण" एवम् "कल्पवृक्ष" पत्रिकाके निबन्ध पढ़े जाते। एक ओर था उक्त मामाजी का अगाध स्नेह और दूसरी ओर सत्संगका चाव अतः बच्चेका प्रायः प्रत्येक ग्रीष्मावकाश मातुलालयमे बीतता और कभी-कभी वह कई दिन लगातार मेरे ही घर रह जाता, खाता-पीता और सो जाता। मैने "ज्ञान वैराग्य प्रकाश" परमहंस रामकृष्णदेवका चरित्र, स्वामी

रामतीर्थके उपदेश और श्रीअरविन्दकी माता नामक पुस्तक पढ़नेको दिया। बालकका जनेऊ होगया था, मैने एकदिन विनोदमे कहा "बेटा! तुम वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण हो, तुम्हें वसिष्ठ जैसा ही होना चाहिए। आम्रके बीजसे सदा आमका पेड़ होता है और आम ही फलता है। ब्रह्मतेजको प्रकट करनेके लिये सन्ध्यावन्दनका अनुष्ठान एवम् भगवती गायत्रीका जप अनिवार्य है। इसके अभावका ही कारण है कि आज आममे आमका गुण लुप्त है।" पूर्व संस्कारोंके कारण बच्चेके दिलमे बात चुभ गई और उसने सविधि सन्ध्या और गायत्रीका जप प्रारम्भ करदिया। एकदिन हिन्दी माध्यमिक पाठशाला रामपुर नैकिनमे जहाँ कि बालक शिक्षा पाता था, सत्य और ब्रह्मचर्यके विषयमे कई अध्यापकोंके व्याख्यान हुए और "ब्रह्मचर्य ही जीवन" नामकी पुस्तक कई विद्यार्थियोंको दीगई। सूर्यास्त होने जारहा था। सभा विसर्जनके बाद बालक उठकर सीधे विद्यालयसे संलग्न एक सुन्दर सरोवरमे गया और स्नान करके सायंसन्ध्या करने लगा। दिवाकरको अर्घ्यदानके समय लड़केने यह भीष्मप्रतिज्ञा करलिया कि वह आजीवन सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन करेगा। बालकके हृदयमे व्याख्यानका अद्भुत प्रभाव पड़ा और वह एकदम बदल गया। वह जमीनमे सोने लगा और जूता पहिनना छोड़ दिया। गाँव-घरकी अन्य स्त्रियोंको देखना-सुनना तो बड़ी दूरकी बात थी उसने अपनी मा के पास भी अधिक उठना-बैठना और बोलना-चालना बन्द कर दिया, जिससे घरवालोंको बहुत चिन्ता हुई। सन्ध्या-बन्दनके साथ ही कहीं इधर-उधरसे आसन-प्राणायामकी प्रक्रिया सीखकर वह प्रगाढ़ ध्यानी बनगया और घर-द्वारसे सर्वथा उदासीन रहने लगा। जब भी समय मिले एकान्त बगीचोंमे जाकर घण्टों बैठे और मीरा-तुलसीके भजन गाये।

बच्चेके प्रति माता-पिताका मोह होता ही है, अब वे इस चिन्तामे पड़गये कि शीघ्रातिशीघ्र मिडिल पास कराकर बच्चे को नौकरी और वैवाहिक बन्धनमे जकड़ देना चाहिये। बालक बचपनसे खद्दरधारी था और विना चर्खा काते अन्न-जल ग्रहण नहीं करता था। इसके वैराग्यभावको देखकर घरवालोंने जब पढ़ाईका खर्च देना बन्द करदिया तब वह सूत कातकर उससे जनेऊ बनाता, बेंचता और विद्यालयमे अध्ययनका खर्च चलाता था।

एकबार की घटना है बालक मेरे साथ कैमोर पर्वत पार कर रहा था। जातिकी कोलिन एक ६० वर्षकी बुढ़िया शिरपर भारी बोझ रखकर बड़े कष्टसे पहाड़ चढ़रही थी। बालक बुढ़ियाका बोझ अपने शिरपर रखकर उसे पहाड़ उतार आया। प्रेमके आवेशमे बुढ़ियाने बालकको पकड़कर इतने चुम्मे लिये कि गालमे तमाम उसका थूँक लगगया। उस समय बालककी आयु १३-१४ की रही होगी। होनहार बिरवानके होत चीकने पात।

बच्चेके मातुलालयकी बात ऊपर आगई, अब पित्रालयका थोड़ा शैशव समाचार कहकर तब आगे बढ़ना चाहिये। विन्ध्यप्रदेशान्तर्गत (रीवाँ राज्य) जिला सीधीके एक पहाड़ी की उपत्यकामे पवित्रनद शोणभद्रके तटपर बसा हुआ भितरी नामका एक विशाल ग्राम है। वहीं वसिष्ठ गोत्रीय सरयूपारीण त्रिवेदी ब्राह्मण कुलमे विक्रमी सम्वत् १९७२ वैशाख शुक्ल पक्ष सप्तमी बुधवासरमे इसका जन्म हुआ। पिताका नाम श्रीउग्रसेनजी त्रिवेदी और माताका नाम श्रीमती अन्नपूर्णा देवी था। अपने पिता श्रीप्रभुनाथजी त्रिवेदीके चार पुत्रोंमे उग्रसेनजी थे सबसे छोटे। अन्न-गोधन सम्पन्न एक प्रतिष्ठित

बृहत् संयुक्त परिवार था। मा अन्नपूर्णाके तीन सन्तानोंमे यह बालक है सबसे जेठा। बच्चेमे बाल्यकालसे ही शिक्षाप्राप्ति की अभिरुचि थी और गृहसदस्योंके बाधा पहुँचाने पर भी अध्ययन न छोड़ा।

एक विचित्र बात यह हुई कि ८—९ वर्षकी अवस्थामे उपनयन कराकर बालक जब प्राथमिक पाठशाला गोपालपुरमे भर्ती किया गया तभी ग्रामीण कुलप्रथाके अनुसार यज्ञोपवीतके समय बलात् लड़केका बाल्य-विवाह करदिया गया। सुविधा की बात यह थी कि इनके यहाँ कुलरीत्या पाणिग्रहणके समय वर-वधू नहीं मिलते, एक दिनके लिये भी वधू घर नहीं आती, यौवनारूढ़ होने पर गवनाके समय वधू श्वशुरालय जाती है, फिर ८—९ वर्षके लड़की-लड़के विवाहका मर्म भी क्या जानें अत: यह विवाह होना न होना बराबर था। एक शास्त्रीय रश्म अदा करना था, वास्तवमे इसे विवाह न कहकर पण्डित, नापित और वरपक्षीय लोगोंका कन्यापक्षसे धनका सौदा कहना अधिक उपयुक्त है। जो भी हो आगे चलकर बाल्य-विवाह और बालब्रह्मचर्यका नन्हें बालकके जीवनमे ऐसा घोर नकुलसर्पसंघर्ष चल पड़ा जिसपर विजय प्राप्त करना परिपक्ववय-बुद्धिवालोंके लिये भी अत्यन्त कठिन था, परन्तु बालक व्रतसे विचलित न हुआ और सबके सामने कह दिया कि संसारकी सब स्त्रियाँ माता हैं, मै दार-परिग्रह नहीं करूँगा।

१९३२ ईसवी सन्मे माध्यमिक पाठशाला रामपुर नैकिनसे बालकने हिन्दीमिडिल पास किया। पिताजी नौकरी लगवाने रीवाँ नगरी पकड़कर लेगये। अनमने अर्जी दे दीगई। इधर बालक घोंघर नदीके तटपर एक सप्ताहके लिये गायत्री जपका अनुष्ठान कर बैठा और जगदम्बासे प्रार्थना करने लगा कि

यदि तू सत्य है तो मेरी नौकरीकी अर्जी मंजूर न हो, क्योंकि ऐसा होनेसे मै पिताकी आज्ञा टाल न सकूँगा और संसारमे फँस जाऊँगा। दफ़्तरोंकी खाक छानते-छानते बृद्ध पिताके पैरोंमे छाले पड़गये, कहीं कोई सुनवाई नहीं हुई। आखिर निराश होकर रीवामे एक सम्बन्धीके यहाँ लड़केको छोड़कर पिताजी घर चले आये। जगदम्बाने प्रार्थना सुन ली और अब बच्चेके हर्षकी सीमा न रही। भगवान्‌को तो उसे अपना दास बनाना था, अर्थस्यदासः क्यों होने देते अतः सफलता नहीं मिली और बालक विना किसीसे कुछ कहे-सुने ३२ मील पर्वतीय पथ पैदल चलकर रीवासे सीधे मेरे घर तित्तिरपुरमे आया। मेरे कानमे धीरेसे कहा "यहाँसे दूर कहीं मेरे संस्कृत अध्ययन की व्यवस्था कर दीजिये और घरवालोंको मेरी कोई खोज-खबर न दें।" आखिर घरसे करीब ४० मीलकी दूरी पर स्वजनोंके अज्ञातमे इस लघु जीवकी सम्मतिसे खजुरीताल संस्कृत पाठशालामे देववाणीका अध्ययन प्रारम्भ हुआ। ठीक ब्राह्ममुहूर्तमे चारबजे स्नान करके बैठजाना और आठ बजे तक सन्ध्या-गायत्री, प्रणव साधन, आसन और प्राणायाम करना, आठसे दशतक दिनमे केवल एकवार चावल-दाल-शाक जो कुछ मिले सब एकसाथ स्वपाक करके खाना और बर्तन मांजना, दशसे बारह तक पढ़ना, बारहसे दो तक मध्याह्न की सन्ध्या करना, दो से चार तक पढ़ना, चार बजे स्नान करके सायंसन्ध्याके लिये बैठजाना और आठ बजे तक जप-ध्यान करते रहना, रात्रिको एकमुट्ठी चना चाबकर दश बजे रात तक पढ़ना और फिर सो जाना—यही वहाँका दैनिक कठोर कार्यक्रम था। प्रत्येक सोमवारको उपवास और मौन रखकर केवल जलपान करके सारा दिन गायत्रीजपका अनुष्ठान चलता। इस प्रकार ८ मास स्वाध्याय और तपश्चर्यामे व्यतीत

हुए। एकदिन कोई पर्वकाल था, पाठशालामे थी छुट्टी, गुरुजन अभिभावक कोई आश्रममे न थे। विद्यालयके हातेमे देवी और हनुमानजी का मन्दिर था। अपराह्न ३½ और ४ के बीचका समय रहा होगा। सारा दिन व्रत करके ग्रामीण कुमारियोंका यूथ गान करते हुए आया देवीपूजनके लिये। उच्चकक्षा मध्यमाके कुछ उद्दण्ड छात्र परस्पर संस्कृत भाषामे अभद्रवार्ता करते हुए देवियोंसे जाकर परिहास करने लगे। मन्दिरसे अनतिदूर एक उद्यानमे बालक सतीर्थ छात्रोंके साथ लघु-कौमुदी की चर्चा कररहा था। ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंका कुमारियां के प्रति ऐसा अशिष्ट व्यवहार देखकर बालकके सारे शरीरमे बिजली दौड़ गई, उसने सोचा कि पुस्तक पढ़नेसे यदि ज्ञान होता तो इन छात्रोंको अवश्य होगया होता, जो ये पढ़चुके हैं वही मै पढ़ने जा रहा हूँ, इससे जान पड़ता है कि सत्यज्ञानका श्रोत कुछ और ही है अतः "डुकृञ् करणे" मे वृथा समय नष्ट न कर अब "भजगोविन्दम्" का व्रत लेना चाहिये। यह घटना विद्यालय-जीवनका अन्तिम पाठ था। इसने वैराग्याग्नि मे इन्धनका काम किया, मानो भगवान्ने ही अपने चरणोंका दास बनानेके उद्देश्यसे बालकको यह दृश्य दिखाया हो। विरक्त बालक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की खोजमे तत्क्षण विद्यालय छोड़कर निकल पड़ा। चलते-चलते विन्ध्यगिरिकी एक शाखा कैमोर पर्वतके विकट जंगलमे जब वह पहुँचा तब सविताको अस्तंगत देखकर सावित्री भगवती गायत्रीका पद्मासनमे बैठकर जप करने लगा। समयका ध्यान न रहा, कृष्णपक्षकी अँधेरी घटाने चारों ओर दिशाओंका मार्ग बन्द करदिया। पथ न सूझे, बालक भटक गया। आयु थी १६ और १७ वर्षके बीच मे। हिंस्र जन्तुओंका नाद सुनकर वह भयसे रोते हुए चिल्ला-चिल्लाकर गायत्री मंत्रका जप करने लगा। इतनेमे एक आवाज

आई, अरे वन ही तो तपस्वियोंका घर है, देखो न सिंह मा जगदम्बाका वाहन है, क्यों डरते हो ? लड़का आश्वस्त होकर अँधेरेमे गिरते-पड़ते चलदिया और मेरे पास रात्रि ११ बजे रामनगर पहुँचा जहाँ कि मै उन दिनों हेडमास्टर था। उसने अध्ययनमे अरुचि प्रकट कर भगवद्दर्शनकी अभिलाषा प्रकट किया। विश्वनाथपुरी काशी और वृन्दावनधामकी चर्चा होने लगी। वैराग्य फूट पड़ा। उसने मुझसे गीता श्रवणकी इच्छा किया। समय काटनेके लिये १४ दिनमे १४ अध्याय गीता हो गई। १९३३ ईसवीसन् की वसन्त पंचमी आई, गृद्धकूटके पर्वतशिखर पर जाकर लड़केने सन्यासी होनेका संकल्प कर लिया। वहाँसे लौटकर रात्रिमे जब मेरे पास आया तब अकस्मात् पिताजीको देखकर चकित होगया, मैंने गुप्तरीतिसे घरवालोंको सूचना देदिया था। वैराग्य मूर्तिमान् हो उठा। सारी नगरी एक ओर लग गई, किसीका कोई वश न चला। सभा हुई, ग्राम्य पुराण प्रारम्भ होगया। लोग कहने लगे कि गृहस्थीके बाद वृद्धावस्थामे सन्यास लिया जाता है, पुत्रोत्पत्तिके विना पितृऋणसे मुक्ति नहीं मिलती। लड़के ने जबाब दिया "आपलोग पितृऋणसे मुक्त होकर बृद्ध होगये, अब सन्यासी क्यों नहीं होजाते ? मुकुन्द भगवान् मुक्तिदाता हैं, मै उन्हीं के शरणमे हूँ, वे मुझे सब ऋणोंसे मुक्त करदेंगे। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव परिव्रजेत्' जिस दिन वैराग्य हो साधक उसी दिन परिव्राजक होजाय। कोई पथिक रथमे जारहा है, मार्गमे चार आश्रम या विश्रामस्थान हैं। तीन स्थान पारकर गाड़ी टूट गई। अब यह बताइये कि यात्री जब नई गाड़ीमे बैठेगा तब तीन स्टेशन पीछे आएगा कि आगे बढ़ेगा ? शरीर रथ है, ब्रह्मचर्यादिक चार आश्रम पथकी चार पान्थशाला हैं, विष्णुपद लक्ष्य है। अब मै नूतन रथमे चढ़कर आगे जारहा हूँ। आपलोग आशीर्वाद

दें ।" इतना कहकर विरक्त बालक जब चलदिया तब मैने कहा, सच्चे आत्मगुरुकी खोज करो और जननी, जन्मभूमिका दर्शन करते हुए जाओ । पिताजीने प्रतिश्रुति दिया, घरमे कोई बाधा न देगा । इस जीवका सम्मान रखनेके लिये तेजस्वी ब्राह्मण बालक पिताके साथ प्रस्थान करदिया । जब रामपुर नैकिन विद्यालयमे पहुँचे तब वात्सल्य मोहके कारण पिताजी बदल गये और जनसंसद् करने लगे । बालक मचलकर घर जाना अस्वीकार कर दिया । रूठा बालक गोदीमे ही तो उठाया जाता है । हृष्ट-पुष्ट चचेरे भाई मंगलप्रसादने कन्धे पर बिठाया और ८ मील पैदल चलकर सीधे घरपर ही लेजाकर रक्खा । ८ मास बाद खोये बालकको पाकर माता अन्नपूर्णाने हृदयसे चिपका लिया, मुख चूम लिया, गोदीमे बिठाकर आँसुओंसे नहला दिया और डुबो दिया वात्सल्यसुधासिन्धुमे । फिर खिलाया-पिलाया और स्नेहवार्ता करने लगी । कठिनतासे २-३ घण्टे इस प्रकार गृहमे व्यतीत हुए होंगे, इतनेमे बालक यकायक उठा और मा अन्नपूर्णाकी पदवन्दना करके अच्युत पथकी यात्राके लिये मातासे अन्तिम बिदा मागा और चल दिया । भगवान् भानु अस्ताचलमे विश्राम लेने जारहे थे । ग्रामके बहु बालवृद्ध आगये, सब स्तब्ध, किसीको कुछ कहनेका साहस न हुआ । घरसे थोड़ी दूर जाने पर मंगलभाई तथा अन्य बाल-सखा आग्रह करने लगे, तीन दिन और रुक जाइये । प्रस्ताव स्वीकृत होगया और त्रिरात्रवासके लिये एक तृणशाला बनादी गई । लोगोंको भूत-प्रेतकी आशंका होने लगी, पूजा-पाठ प्रारम्भ हुआ । बच्चेकी आत्मा तो सर्वभूतात्मासे ग्रस्त थी, लोको-पचारसे कोई उपकार न हुआ । पिताजीने आकर कहा, मै वनवासी होजाता हूँ, तुम घर पर रहो, उनके आँखसे आँसू गिरने लगे । निशाजागरण कर लोग पहरा देते थे । तृतीय

दिवसके निशीथमे बालक गहरी निद्रामे सोया था, दूसरेलोग भी सब सोगये। इतनेमे मनचोरको मौका मिला और डाका डालकर गाँव-घरकी मणिको छीन लिया। बालकको ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई शिरहाने आकर ब्रह्मरन्ध्रके स्थानमे शिर-पर अँगुलीसे तीन टोंके लगाया और तीन बार कहा "उठो चलो यही समय है" नीद खुल गई, इधर-उधर देखा कहीं कोई नहीं, सब सोये हैं। अर्द्धरात्रका समय था। भगवान्‌की आह्वान-वंशी पर गोपिकायें स्थिर कैसे रहतीं। बस क्या था "वागुर विषम तुराय" बच्चा बड़े जोरसे दौड़ पड़ा। शीत-कालीन शुक्लपक्षीय चन्द्रज्योत्स्नाने मार्ग प्रदर्शन किया। कुछ दूर जाने पर एक ध्वनि आई 'मार्ग छोड़ दो' पीछेसे लोग पकड़ने दौड़ पड़े'। महानिशा, घोर शीत और वनप्रान्त प्यारेकी चेतावनीके सामने बाधा न डाल सके। गृहत्यागी षोडश-वर्षीय विरागी बालक प्रभुके पथ पर चल पड़ा। नंगे पाँव फिर ठण्डक, लड़का दौड़ते-दौड़ते एक श्मशान भूमिमे जाकर गिर पड़ा। थोड़ी झपकी आगई। विष्णुपदलाभकी योग्यता के लिये शिवका आशीर्वादीय श्मशान भस्म शरीर पर लगना ही चाहिये। ठिठुरे पैरोंमे कपड़े बाँधकर लड़का ६ मील दौड़ते-दौड़ते जब कैमोर पर्वतके शिखर पर पहुँचा तब प्रभात हुआ। इधर घरके लोग दूसरे रास्तेसे कई कोश तक दौड़ते चले गये। बालकको न पाकर अन्तमे निराश लौट आये। अब क्या भय ? १२ बजे तक स्नान-ध्यान और विश्राम करते हुए जंगलमे मंगल मनाया गया। वहाँ से चलकर यह मुमुक्षु परमहंस श्रीस्वामी बलरामदासजीके समीप बड़ाग्रामके आश्रममे पहुँचा। स्वामीजीके पुनीत स्नेहसे आकृष्ट होकर चार वर्षसे कुछ कम उनकी सेवामे रहा और हठयोगकी शिक्षा पाया। योगी श्री अरविन्दजी का नाम सुन रक्खा था, वहाँसे पाण्डुचेरी चला

गया। आश्रमकी माताके आशीर्वादसे उपकृत होकर जब रीवा लौटकर आया तब सुना कि पुण्यश्लोक पूज्य श्री पं० मदन-मोहन मालवीयजी महाराज प्रयागमे कायाकल्प चिकित्सा करा रहे हैं, उनके दर्शनके लिये तीर्थराज गया। पूज्य पण्डित जी ने काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय जानेकी प्रेरणा दिया। परम मान्य श्री पं० जवाहरलाल जी नेहरूसे भी एक घण्टे आनन्द भवनमे वार्ता हुई, इन्होंने भी शिक्षा प्राप्तिमे जोर दिया। बात लग गई। मेरी सम्मतिसे बालक काशी-विश्व-विद्यालय चला गया और वहाँ परम सुचरित्र धर्मनिष्ठ आस्तिक विद्वान् प्रोफेसर श्री पं० जीवनशंकरजी याज्ञिक, पूर्व जन्मके साथी मिल गये। ओजस्वी बालब्रह्मचारी बालकको देखकर इन्होंने उसे अपने घरमे रखलिया और वात्सल्य भावसे सेवा करने लगे। आध्यात्मिक साधनके साथ आंग्लभाषा, बंगभाषा और देवभाषाका प्राइवेट अध्ययन प्रारंभ होगया। बालब्रह्मचारी वयोवृद्ध तपोमूर्ति श्रीगीतानन्दजी महाराजसे कुछ दिन गीताध्ययनका भी सुयोग लगा। काशीसे पुनः कई बार श्रीअरविन्दाश्रम जाकर उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। पाण्डुचेरीसे लौटती बार वर्धा श्रीगान्धीजीके आश्रम मे भी कुछ महीने बिताया। बालक एकबार तीर्थयात्राके लिये निकला और हरिद्वारसे कन्याकुमारी तथा द्वारकासे कामाख्या-गोहाटीके बीच भारातवर्षके प्रायः सभी प्रमुख तीर्थोंका दर्शन किया। बंगभाषामे "रामकृष्ण कथामृत" एवम् परमहंसजीके सम्बन्धमे और भी अनेक पुस्तकें पढ़कर बालक उनके जीवनसे अत्यन्त आकृष्ट हुआ। आकृष्ट क्यों न हो श्रीरामकृष्णदेवने भी तो कुमारी शारदामणिसे विवाह करके आदर्श नैष्ठिक बाल ब्रह्मचारी रहे। एकदिनकी बात है काशी-विश्व-विद्यालयके उद्यानमे एक वृक्षके नीचे बैठकर रात्रि ११ बजे बालक

श्रीरामकृष्णदेवकी मानसपूजा कर रहा था, पुस्तकोंमे पढ़ रक्खा था कि परमहंसदेवकी इस प्रकार पूजा करनेसे सिद्धपुरुषके दर्शन होते हैं। उसे एक ध्वनि सुनाई पड़ी "मातृ गुरुको खोजो"। दूसरे दिन प्रातः लोकविख्यात विद्वान् पं० गोपीनाथ कविराजके पास जाकर लड़केने यह समाचार कहा और उनकी सम्मति मागी। कविराजजी उसे त्यागमूर्ति ब्रह्ममयी श्रीसिद्धिमाताके पास ले गये। मा के ललाटमे सबके देखते-देखते ॐकारवेष्टित राधाकृष्ण की चित्रमूर्ति और फिर भगवच्चरणचिह्न उदय होकर लय होगया। इसे देखकर बालकके हृदयमे प्रगाढ़ भगवत्प्रेमका उदय हुआ और उसने माताके चरणोंमे आत्मसमर्पण करदिया। माता की अनुदिन अनुपम अनुकम्पा होने लगी। मा ने भगवत्प्रेम साधनाकी दीक्षा प्रदानकर कठोर तप कराया और अपनी कृपासे कृतार्थ करदिया।

इसी बीचमे एकबारकी घटना है जबकि काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयकी रजत जयन्ती होने जारही थी, मेरी समारोह दर्शनकी अभिलाषा हुई। इधर नन्हीं बालिका श्रीमती सुशीलकुमारी देवी वयलाभकर जब पूर्ण युवती हुई तब उसे पता चला कि उसका भावी पति तो साधूबाबा होगया। इधर उधरके नवशिक्षितलोग पुनर्विवाहकी कानाफूँसी करने लगे। परन्तु उभय ब्राह्मणकुलोंमे थी धर्मशास्त्रके प्रति कठोर निष्ठा अतएव इस बातको स्वीकार करना सर्वथा असम्भव था और लड़कीने स्वयं भी इस प्रस्तावको अस्वीकार करदिया। "पितु गृह कबहुँ, कबहुँ ससुरारी" की पंक्ति चरितार्थ करती हुई वह जीवनयापन करने लगी। स्वभावतः उसके मनमे बाबाके दर्शन की उत्कट अभिलाषा हुई। अन्ततोगत्वा अपने बालक बाबाको

देखनेके लिये उनके कई बालसखा, अध्यापक और सुशीलाको साथ लेकर मैंने काशीके लिये प्रस्थान करदिया। बालिका इस महात्माका दर्शन कर एकदम बदल गई। मनका सारा खेद मिट गया और उसीके साथ सदाके लिये मर गई "भोगरोग अरु भूषणभारू" की वासना। लड़कीने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर तपस्याका निश्चय करके घर लौटकर जाना अस्वीकार करदिया। श्रीसिद्धिमातासे दीक्षा भी मिल गई। बालिकाके हठको देखकर सर्वसम्मतिसे अभी केवल एकवर्ष हुआ उसे एक पृथक् स्थान मातेश्वरीधाम अच्युताश्रममे दुर्गाकुण्डके पास रिटायर्ड डिपुटी कलेक्टर श्रीरघुनन्दनलालदर महोदयके अभिभावकत्वमे रखकर उसके अन्न-वस्त्र, वासस्थान और साधन-भजनकी समुचित व्यवस्था करदी गई है।

वसुधैव कुटुम्बी यह बालक अब बड़ा होगया और बहुतसे गण्य-मान्य सज्जन भारतीय प्रथाके अनुसार इस असाम्प्रदायिक विद्वत्सन्यासीको व्यक्तिगत प्रेमके कारण ऋषि, महात्मा, स्वामी और ब्रह्मचारी आदि विशेषणोंसे सम्बोधन करते हैं परन्तु आत्मदृष्टिसे अच्छीसे अच्छी उपाधि भी झूठे अहंकारका इन्धन है, अतः मुझे इसके बड़प्पनसे प्रयोजन नहीं। बालक स्वयं भी अपनेको कोई सन्त-महात्मा मानकर पूजा करानेसे बड़ी घृणा करता है। महात्मा किसीके अस्थि-पंजरमय देहको नहीं कहते प्रत्युत वह एक प्रकारका दिव्यजीवन है और जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि इस कुमार ऋषिकी लिखी "आर्या" मुद्रित होने जा रही है तब मै अपने वात्सल्य स्नेहके वशीभूत होकर इस उद्देश्यसे इस विरक्त बालकके जीवनका सच्चा रहस्य समाजके समक्ष उद्घाटित करदेना उचित समझा कि ग्रन्थका मर्म हृदयङ्गम करनेके लिये कभी-कभी ग्रन्थकारको समझना भी आवश्यक और सहायक सिद्ध

होता है। मुख्यतः यह शिक्षाप्रद पाठ विद्यालयके मेरे सैकड़ों विद्यार्थियों के लिये अनुकरणीय तथा स्पृहणीय होगा।

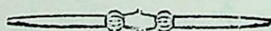
सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायन जेहि नर उपज विनीत॥

ओ३मिति।

॥ जयभक्त-भगवान्‌की॥

बदरीप्रसाद निगम
स्कूल-सुपरवाइजर-शिक्षा विभाग
जिला सीधी
जिला सीधी (रीवा राज्य)
विन्ध्यप्रदेश

गुरुपूर्णिमा
विक्रम सम्वत् २०१०
रविवासर
२६ जुलाई १९५३



|| राधा ||

श्री चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री
सम्पादक 'कल्याण' गीता प्रेस, गोरखपुर

भूमिका

आजकल विशिष्ट व्यक्तियोंद्वारा भूमिका लिखानेकी रूढ़ि-सी पड़ गयी है। मै वैसा विशिष्ट व्यक्ति तो हूँ नहीं, लेखक के पुनीत स्नेहके वशीभूत होकर ही कुछ पंक्तियाँ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। लेखकको मै वर्षोंसे जानता हूँ। वे ज्ञानके अधिष्ठाता, भक्ताग्रगण्य, योगियोंके परमाराध्य, आगमोंके वक्ता देवाधिदेव योगीश्वर भगवान् शंकरकी पावन पुरीमे प्रसिद्धि एवं आत्मख्यातिसे कोसों दूर रहकर चुपचाप ज्ञानार्जन एवं आध्यात्मिक-साधनामे लगे हुए हैं। उन्हींके मनन-शील तपःपूत जीवनके अनुभवों एवं विशुद्ध विचारोंका यह छोटा-सा संग्रह जनता-जनार्दनकी सेवामे प्रस्तुत किया जा रहा है। इसे प्रस्तुत करनेमे मेरी क्षुद्र लेखनीका भी उपयोग लिया जा रहा है, इसे मै अपना सौभाग्य मानता हूँ। अज्ञानान्धकार से आवृत जगत्को आलोक प्रदान करनेमे यह पुस्तक परम सहायक सिद्ध होगी—ऐसी इन पंक्तियोंके लेखककी धारणा है।

जैसा कि इस पुस्तकके नामसे ही व्यक्त है, इसमे अध्यात्म-मूलक अनादिकालीन सनातन आर्य-संस्कृतिका दिव्य दर्शन कराया गया है। उक्त संस्कृतिका आदर्श क्या है, उसके आलोक

मे नर-नारियोंको किस प्रकारका जीवन बिताना चाहिये, और जीवनका चरम-लक्ष्य क्या होना चाहिये—इन्हीं तीन विषयोंका इसमे मुख्यतया प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं तीन विषयोंका विशद विवेचन करते हुए लेखकने कामके स्वरूप और ब्रह्मचर्य की महिमा, पुरुष और स्त्रीका स्वरूप तथा सम्बन्ध, वैवाहिक विधि, नारी-धर्म, संतानोत्पत्ति, बालक-बालिकाओंकी शिक्षा और उसमे संस्कृतभाषाकी उपयोगिता, मातृ-पितृ-भक्ति, जीवनमे सत्यका स्थान, मूर्तिपूजा एवं देवमन्दिरोंकी रक्षा, शिखा-सूत्रका तात्विक-रहस्य एवं उपयोग, मुसलमान एवं इसाई धर्म आदि-आदि प्रसङ्गोंकी मार्मिक आलोचना की है।

त्याग ही भारतीय-संस्कृतिका आदर्श है। जिसके जीवनमे जितना अधिक त्याग है, उसका समाजमे उतना ही आदर है। भारतीय समाजमे तपोनिष्ठ ब्राह्मण एवं सर्वत्यागी संन्यासीको इसीलिये सर्वोच्च स्थान दिया गया है और ये ही समाजके नेतृपदपर प्रतिष्ठित हैं। त्यागी पुरुष ही समाजका समुचित रीतिसे संचालन कर सकते हैं। हमारे यहाँ भोग भी त्यागके लिये ही है। इसीलिये गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ और संन्यासकी व्यवस्था है और गृहस्थाश्रमके पूर्व भी ब्रह्मचारीको त्यागका ही पाठ पढ़ाया जाता है। अर्थात् त्यागसे ही जीवनका प्रारम्भ होता है और त्यागमे ही उसका पर्यवसान। अन्य संस्कृतियोंमे जहाँ भोगको ही जीवनका केन्द्रबिन्दु माना गया है, भारतीय-संस्कृति हमे आदिसे अन्त तक त्यागका ही पाठ पढ़ाती है। यही भारतीय संस्कृतिका वैशिष्ट्य है। कारण स्पष्ट है। भारतीय ऋषि हमे यह सिखाते हैं कि तुम शरीर नहीं हो। शरीर प्रतिक्षण शीर्ण-नष्ट होनेवाली वस्तु है। इसीलिये इसे 'शरीर' कहते हैं—'शीर्यते इति शरीरम्।' परन्तु उसके साथ

तुम्हारा नाश नहीं होता। तुम अजर-अमर, सनातन तत्व हो। तुम्हारा त्रिकालमे भी नाश नहीं होता। इसीलिये जीवको भक्तों ने भगवान्का अंश माना है और वेदान्त 'तत् त्वमसि' कहकर उसी सत्यकी ओर लक्ष्य कराता है। किन्तु अनादि कालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूले बैठा है। इसीका नाम अविद्या है। यह अविद्या ही जीवको भरमाकर नाना योनियोंमे भटकाती है और नाना प्रकारके द्वन्द्वोंसे त्रस्त करती है। इस अविद्याका नाश और अपने वास्तविक स्वरूपकी पहिचान ही मनुष्य जीवनका या जीव-जीवनका परम एवं चरम लक्ष्य है। मनुष्य को इस लक्ष्य तक पहुँचाना ही हमारे शास्त्रोंका ध्येय है और इसी केन्द्रबिन्दुको सामने रखकर व्यक्ति एवं समाजको अनेक प्रकारकी मर्यादाओंमे बाँधा गया है। ये सारे बन्धन जीवको संसाररूपी अनादि बन्धनसे छुड़ानेके लिये ही हैं और इसीलिये आत्मकल्याणार्थ इन बन्धनोंको हमलोग प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करते आये हैं। खेद है कि आज इन बन्धनोंको तोड़ने या ढीला करनेकी प्रवृत्ति अधिकाधिक हमारे अन्दर घर कर रही है। यही हमारे नैतिक एवं आध्यात्मिक पतनका मुख्य कारण है। इसीको दूर करनेके उपाय इस छोटे-से किन्तु सारगर्भित ग्रन्थमे बताये गये हैं और यही ग्रन्थका तात्पर्य है।

संसारासक्ति या भोगासक्ति ही सबसे बड़ा बन्धन है। अनात्म जड़ पदार्थोंमे प्रीति ही हमे स्वरूपज्ञानसे वञ्चित रखती है। साढ़े तीन हाथके जड़ शरीरको ही अपना स्वरूप माननेके कारण येन-केन-प्रकारेण इसे सुख पहुँचाना ही हमारा ध्येय बन गया है। इसीलिये हमारा जीवन आज सर्वथा भोगोन्मुख बन रहा है। यह शरीर ही सब कुछ नहीं है। आज नहीं कल, इसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस जगतमे सर्वत्र भगवान्

कालका ही अकाण्डताण्डव हो रहा है। मृत्यु ही इस जीवन का ध्रुव सत्य है। इस शरीरका कोई भरोसा नहीं। किसी भी क्षण इससे वियोग हो सकता है। मृत्यु आनेपर किसी भी उपायसे उसे टाला नहीं जा सकता। विकृति ही प्रकृतिका स्वरूप है। प्रतिक्षण बदलते रहना ही इसका स्वभाव है। इस स्वभावको कोई कैसे बदल सकता है। जगत्के जितने भी सम्बन्ध हैं, इस नश्वर शरीरको लेकर ही हैं। शरीरके नाशके साथ ही उन सारे सम्बन्धोंका अन्त हो जाता है। आँख मूँद लेनेपर सब कुछ होते हुए भी हमारे लिये कुछ नहीं रहता— 'सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।' बड़ा परिश्रम करके जीवनमे जो कुछ हमने बटोरा, उससे मृत्युके बाद हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिस घरकी एक-एक ईंट और पत्थरमे हमारा ममत्व था, जिसकी तनिक-सी हानि हमे अपनी हानि प्रतीत होती थी और असह्य हो उठती थी, जिस भूमिके लिये हम किसी दिन चील-कौओंकी तरह लड़ते थे, वह हमसे जबर्दस्ती छीन ली जाती है, मृत्युके बाद हमारा उसपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। यह सब देखते हुए भी हम यहाँकी वस्तुओंसे बुरी तरह चिपटे रहते हैं, मानो ये सदा हमारे साथ ही रहेंगी। इसीको हमारे शास्त्रोंमे 'चिज्जडग्रन्थि' कहा है। 'जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।' इस ग्रन्थिको खोलना ही हमारे शास्त्रोंका ध्येय है। इसीके लिये हमारे दयालु ऋषियोंने कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान आदि विविध उपाय बताये हैं, जिनका वेद, पुराण एवं अन्यान्य ग्रन्थोंमे विस्तारसे वर्णन है।

इस लक्ष्यकी प्राप्ति समाज एवं व्यक्तिको सुगमतापूर्वक करानेके लिये ही वर्णाश्रमकी व्यवस्था है। मुक्ति या भगवत्प्राप्ति

पर किसी एक वर्गका एकाधिकार नहीं है। मुक्ति केवल गृह-त्यागी संन्यासीके लिये ही सम्भव हो अथवा वेदपाठी ब्राह्मण ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता हो—ऐसी बात नहीं है। स्वधर्माचरणके द्वारा सभीको उपर्युक्त लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' भगवान्‌की पूजा मन्दिर, मसजिद या गिरजाघरमे ही हो सकती हो, अन्यत्र नहीं—ऐसी बात भी नहीं है। भगवान् सर्वत्र हैं और उन्हें हम जहाँ चाहें वहीं अपने कर्तव्य-पालन रूप पुष्पोंसे पूज सकते हैं और पा सकते हैं—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' भगवान्‌की शरणमे जाकर ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल-पर्यन्त सभी परम गति पा सकते हैं—'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।' यही नहीं, हमारे शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि 'जिसने अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर दिया है वह चाण्डाल उस ब्राह्मणसे उत्तम है जो सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी भगवान्‌की भक्तिसे विमुख है और अपनेको दूसरोंसे ऊँचा मानता है।' श्रीमद्‌भागवतका वचन है,—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ,
प्राणंपुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ ७-९-१०

भगवद्‌भक्त चाण्डाल अपना ही नहीं, अपने कुलका उद्धार कर देता है और भगवद्‌विमुख अभिमानी ब्राह्मण स्वयं भी नहीं तरता। इसीलिये मथुराके उन याज्ञिक ब्राह्मणोंने—जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको साधारण गोपबालक मानकर उनकी

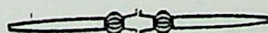
अवज्ञा की थी- शास्त्रज्ञानशून्य एवं संस्कारहीन, किन्तु श्रीकृष्ण-चरणोंमे अनुराग रखनेवाली अपनी पत्नियोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और 'धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्। 'धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे।' (श्रीमद्भागवत १०-२३-३९)। यों कहकर आत्मगर्हणा की। भगवद्भक्ति या भगवत्प्रेमकी बात तो दूर रही, भगवान् मनुकी पुत्री, ब्रह्माजीके मानस-पुत्र प्रजापति कर्दमकी धर्मपत्नी एवं साक्षात् भगवान् कपिलदेवकी जननी माता देवहूति तो केवल वाणीसे भगवन्नामको रटनेवाले चाण्डालको भी श्रेष्ठ मानती हैं—'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।' (भाग० ३-३३-७)। कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि समाजको सुशृंखलित एवं सुव्यवस्थित बनानेके लिये सबको अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार जीविका एवं सुख-सुविधा मिल सके, कोई भी बेकार और बेरोजगार न रहे, जगत्के तुच्छ भोगोंके लिये मनुष्योंमे परस्पर छीना-झपटी न हो, वर्गगत कलह एवं विद्वेषका समूल नाश हो जाय—इसी उद्देश्यको लेकर वर्णाश्रमकी सृष्टि हुई है, मनुष्य-मनुष्यमे भेदभाव बनाये रखनेके लिये, एक दूसरे वर्गके प्रति ऊँच-नीच अथवा घृणाका भाव फैलानेके लिये कदापि नहीं, जैसा कि आज नासमझ लोगोंके द्वारा आरोप किया जाता है। समाजमे सुख-शान्ति, परस्पर सौहार्द एवं सामञ्जस्य, संतोष एवं संतुलन बनाये रखनेका यदि कोई उपाय है तो वह है 'वर्णाश्रमकी आदर्श व्यवस्था'—जो स्वयं भगवान्की रची हुई है, किसी मनुष्यकी नहीं—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' अवश्य ही युगधर्मानुसार सृष्टिमे रज-तमका बाहुल्य होने पर समाजमे विशृंखलता आती है और वर्णाश्रम-व्यवस्था विकृत हो जाती है। इसी विकृतिको दूर करनेके लिये समय-समय पर

भगवान्‌की इच्छासे महापुरुषोंका आविर्भाव होता है और यदा-कदा आवश्यक होने पर स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

भूमिका अधिक लम्बी न हो, इस दृष्टिसे हम अपने वक्तव्य को यहीं समाप्त करते हैं। विज्ञ लेखकने इस पुस्तकको लिखकर सचमुच भारतीय समाजका महान् उपकार किया है। ऐसे ग्रन्थों की इस समय बड़ी आवश्यकता है, जो भारतीय-दृष्टिकोणको समझाते हुए हम भूले हुओंको सच्चे कल्याणका मार्ग दिखा सकें। भगवान्‌के मंगल-विधानसे देश स्वतन्त्र हुआ है और हमें अपना पथ स्वयं निश्चित करनेकी सुविधा प्राप्त हुई है। ऐसे समयमें हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने स्वरूपको समझें और उसीके अनुसार अपनी गतिविधि निश्चित करें। अंधाधुन्ध-लक्ष्यहीन जीवन विनाशकी ओर ले जाता है। पाश्चात्य आदर्श कदापि हमें सुख-शान्ति नहीं दे सकते। सुख-शान्तिका एकमात्र उपाय अपने प्राचीन आदर्शोंका ज्ञान प्राप्तकर उन्हींको अपनाना है। भगवान् हम सबको सुबुद्धि दें—धियो यो नः प्रचोदयात्।

विनीत—

चिम्मनलाल गोस्वामी



प्रसिद्ध पत्रकार एवं तपस्वी साहित्यिक

पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे की सम्मति

प्रसिद्धि से कोसों दूर भागनेवाले, प्रस्तुत पुस्तक के युवा लेखक, श्री ऋषिकुमार, यथा नाम तथा गुण एक विनम्र साधक और बाल्यावस्था से ही अध्यात्मपथ के स्वतन्त्र पथिक हैं। यह पुस्तक लेखकके विस्तृत अध्ययन एवं गंभीर मनन का ही नहीं अपितु तत्वान्वेषी निदिध्यासन का परिणाम है एवं इसकी रचना 'स्वान्तः सुखाय' ही हुई है।

साहित्य की वर्तमान धारा में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाली इस पुस्तकमे भारतीय जीवन का परम्परागत आदर्श सजीव, ओजस्वी और सिद्ध शब्दों द्वारा सबके सामने रक्खा गया है एवं इस आदर्श के अनुरूप जीवन ढालने और प्रेयस् तथा श्रेयस् साधने के वैज्ञानिक और क्रियात्मक उपाय भी निर्दिष्ट किये गये हैं। क्या ही अच्छा हो यदि यह ग्रन्थ-रत्न देशके सभी विश्वविद्यालयों के छात्रों के हाथों में पहुँचकर उनके हृदयों मे उतर आये। इससे हमारा आरूढ़-च्युत भारतीय जीवन जग जायगा और आधुनिक विषम समस्याओंके समाधानमे यह नव जागृति विश्वको भारत की अमूल्य देन होगी।

ग्रन्थमें इंगित आध्यात्मिक साधनों पर लेखक के स्वानुभव की छाप है जिनसे कोई भी विचारशील व्यक्ति आकृष्ट एवं प्रभावित हुये विना नही रह सकता। मैने स्वयं ग्रन्थके पाठकालमे अपने आपको उच्चस्तर पर पाया। मैं इस ग्रन्थको सभीके लिये परम उपकारी समझता हूँ और मुझे आशा है कि इसके द्वारा देश का महत् कल्याण होगा।

ग्रन्थ-लेखक की भाषा प्रांजल एवं शैली अत्यन्त हृदय-ग्राही है।

काशी
२५-६-५३ } लक्ष्मण नारायण गर्दे

विश्वम्भर प्रेस, २ शाहगंज (तेलटंकी) प्रयाग।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा ,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

गुरुदेवता
श्रीसिद्धिमाता
एवम्
जननी श्रीअन्नपूर्णा देवी
की
पुण्यस्मृतिमे

प्राक्कथन

आर्या मा दुर्गाका नाम है। आर्यभूमि होनेसे भारतमाता भी आर्या हैं। इसमे भारतके आत्माकी सांस्कृतिक छवि अंकित होनेके कारण यह पुस्तक भी आर्या होगई।

पुस्तिका "आर्या" प्रारम्भमे नन्हीं थी। क्रमशः बड़ी होने पर उसकी आँख खुली और संस्कारके समय दृष्टि लाभकर वह 'आर्यदृष्टि' होगई।

'म' स्वतः अनुनासिक वर्ण होनेके कारण प्रचलित प्रथाके अनुसार ग्रन्थमे कहीं भी 'मे' के भालमे कुंकुमका टीका नहीं लगाया गया। इसी प्रकार अपने पति 'शब्द' के प्रति विशेष भक्ति होनेके कारण बेचारी सती विभक्तिको पतिसे पृथक् करना उचित नहीं समझा गया। प्राथमिक कुछ अंश छोड़कर यथाशक्ति प्रायः सर्वत्र संस्कृत व्याकरणकी इस रीतिका अनुसरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ वर्तमान भारतको आर्यदृष्टिकोणकी पुण्यस्मृति दिलानेका एक पामर प्रयास है। भगवद्भक्ति, प्रपंचसे विरक्ति, सनातन धर्ममे प्रीति और राष्ट्रीय जागृति ग्रन्थपाठके फल हैं। इसमे अध्यात्मदृष्टिसे मानवीय जीवनके ऐहिक और आमुष्मिक उभय अंगोंकी व्यापक आलोचना कीगई है। जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंका उल्लेख बोध और साधनकी दृष्टिसे है। 'आर्या' को मुख्यतः निवृत्ति ही अभीष्ट है। इस ग्रन्थकी विचारधारा भारतीय "आदर्श" रूप उत्तुङ्ग पर्वतसे निकलकर संसार-पथसे गुजरते हुए "परमात्मजिज्ञासा" रूप अगाध क्षीर-समुद्रमे जाकर गिरती है।

पुस्तकमे भाषा, भाव और विचारकी जो अशुद्धियाँ हैं वे सब आधारदोषके कारण लेखककी हैं। इसमे कणमात्र जो कुछ सत्य, सुन्दर और शिवज्ञान है वह स्वयं भगवान्‌का होनेके कारण विवेकियोंके आदरकी वस्तु है। गीतामे भगवान् स्वयं कहते हैं 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि—बुद्धिमानोंकी बुद्धि मै हूँ'।

॥ ओ३मिति ॥

श्रीसिद्धिमाता आश्रम
१२०, हरड़बाग (सोनारपुरा)
बनारस

प्रश्रयावनत

ऋषिकुमार

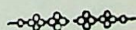
द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें

मेरे एक प्रेमीको यह पुस्तक मैंने अनेक वर्षों पूर्व दी थी। पुस्तक उनको बहुत पसन्द आयी थी। अब इतने वर्षों के बाद उनको इसकी स्मृति हो आयी और उन्होंने मुझसे पूछा कि यदि इस पुस्तककी कोई प्रति इस समय मिल जाय तो उस उपयोगी पुस्तकका एक संस्करण और किया जाय। मेरे पास इस पुस्तककी एक अन्तिम प्रति बची थी, जो मैंने उनको भेज दी। इसके मुद्रणमें जो मुद्रणकी भूलें रह गयीं वे संशोधित नहीं हो सकीं। इसको इसी रूप में आफसैट मशीन पर मुद्रित करवाया जा रहा है। आशा है, विज्ञ पाठक स्वयं ही मुद्रणकी भूलोंको सुधारकर पुस्तक पढ़ लेंगे और इससे लाभान्वित होंगे।

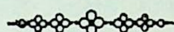
ऋषिकुञ्ज आश्रम,
पञ्चमठ, रेवा (म० प्र०)
तिथि : शिवरात्रि—विक्रमाब्द २०३७
४ मार्च १९८१.

—ऋषिकुमार

अनुक्रमणिका



आर्या



आदर्श

(क)

आर्य जीवन का ध्येय सदा से वासनाजन्य प्रकृति के विकारों पर विजय पाना रहा है। कामोपभोग परमोद्देश्य अनार्य का निश्चय है। चित्तवृत्तिनिरोध योगनिष्ठा और चित्तवृत्ति में अनुरोध भोगनिष्ठा है। कामना-अर्जन और कामना-वर्जन के ये एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मार्ग हैं। एक ऊर्ध्वगामी पथ है इतर अधोगामी। अध्यात्मवाद का फल आत्मप्रसाद और भूतवाद का आत्मविषाद है। प्राची[1] और प्रतीची[2] सभ्यता के प्रवाह और दृष्टिकोण में यदि कुछ है तो यही मौलिक भेद है। जड़तामिस्र[3] की उपासना से पश्चिम ने अपनी आत्मा खो दिया। आत्मशून्य समस्त विकास अवसाद[4] के अतिरिक्त कुछ नहीं। भारत का पथ चेतना का पथ है। आत्मज्योति के सहारे मानव देवत्व की ओर अग्रसर होता है। निश्चय आत्मलाभ ही परमश्रेय है। गन्तव्य भारतमाता की आत्मा को पाना है, पाई हुई आत्मा को खोना नहीं। इसमें कोई चुनाचुनी नहीं, भ्रान्ति नहीं, कुण्ठा नहीं। अध्यात्मपरायण भारत के लिये जड़वादकी नकल करना आरूढ़च्युत[5] होना है।

---

१ प्राची=पूर्व, २ प्रतीची=पश्चिम, ३ तामिस्र=अन्धकार ४ अवसाद=विषाद, विनाश, ५ आरुढ़च्युत=चढ़कर फिर गिर जाना।

आँख मूँदकर भी प्रकाश के पथ में धावमान होना श्रेयस्कर है। आत्मविजय ही प्रकाश मार्ग है। इसमें इच्छाओं को निवृत्त करना है, प्रकृति को पुरुष की अधीनता में लाना है। पाश्चात्य विचारधारा भी प्रकृति पर ही आधिपत्य जमाना चाहती है परन्तु आत्मा को छोड़कर, मुर्दा बनकर। यह नश्वरक्षेत्र वैकारिक गुण-प्रवाह का उत्स[1] है। यह विषय-धारा घोर संसार-सागर में जाकर गिरती है। जो सजीव प्रबुद्धात्मा हैं वे पुरुषार्थ करते हैं। नौका को उद्गमाभिमुख खेने में कष्ट होता ही है। इसीलिये जीवन को संग्राम कहा है। विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न संस्पर्शजभोग आरम्भ में अमृतोपम प्रतीत होता है। परन्तु वह विषपरिणामी और दुःखयोनि है। बुधजन विषयों में रमण कैसे कर सकते हैं? विचारवान् विषाक्त मिष्टान्न में मक्खी की तरह नहीं टूट पड़ता। पशु को भले ही मलमूत्र का रसास्वादन रुचिकर हो परन्तु मानव का यह लक्ष्य कदापि नहीं। उसका श्रेय तो गुणवैकारिका प्रकृति पर विजय प्राप्तकर आत्मलाभ में ही है। जो जन्म ही से ज्ञानावस्थित चित्त, वैराग्यवान्, आत्मतुष्ट, बालयोगी महात्मा हैं वे संसार में और कुछ चाहते नहीं।

"यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतोभवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति"। नारद भक्तिसूत्र।

आत्मलाभ कर पुरुष सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है। आत्मा को प्राप्तकर किञ्चित् भी वाञ्छा, शोक, द्वेष, रमण और

---

१. उत्स—जहाँ से झरना निकलता है, उद्गम।

उत्साह नहीं करता। आत्माको जानकर मत्त, स्तब्ध और आत्माराम होजाता है।

ज्ञानयोग से ही इन सन्तों का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। वे प्रपञ्च में नहीं पड़ते।

आर्यजाति का इतिवृत्त[1] ऐसे अनेकों आदर्शचरित्रों से ओतप्रोत है। संसार-वृक्ष कर्म से हरा भरा रहता है, कामना कर्म का बीज है जो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है। दुष्पूर्ण काम-कामना क्षार होजाती है, बीज-वृक्ष कुछ नहीं रहता। ऐसे आप्तकाम आत्माराम, कुशाग्रबुद्धि मुमुक्षु निवृत्ति मार्ग से चलते हैं। ये देवमानव हैं। पृथ्वी में समय समय पर अवतीर्ण होते हैं। ऐसे जितेन्द्रियजनों के लिये विवाह की समस्या नहीं। उनके चित्त में काम-कामना का उत्पात नहीं। रेतःपात करके आत्मनाश वे नहीं करते। "अनित्यमसुखं लोकम्" गीता। संसार अनित्य और असुखकर है। इस ज्ञान को पुष्ट करने के लिये ही सांसारिक जीवन में प्रवेश की आवश्यकता है। ज्ञानदेव, मुक्ताबाई और श्रीरामकृष्ण परमहंस की भाँति जिन्होंने प्रथम से ही इसे दुःखरूप जान लिया उन्होंने सांसारिक जीवन का फल पा लिया, गृहस्थाली का व्यर्थश्रम करने की आवश्यकता उनके लिये नहीं। काम, क्रोध, लोभ नरक के त्रिविध द्वार हैं। जो श्रेयाभिलाषी है वह इस तमो-मार्ग का अनुसरण कर आत्म-हनन नहीं करता। केवल वैराग्यवान् ज्ञानीजन ही ऐसा कहते हैं सो बात नहीं। भर्तृहरि ऐसे विवेकी जो विषय-विष का पानकर मर नहीं गये, प्रत्युत् उसे पचाकर आत्मोद्धार किया, उनका भी ऐसा ही कहना है। यह सब ठीक है, परन्तु यह भी ठीक है कि सब शुकदेव नहीं हो सकते। मानव में जब से सभ्यता आई सभी ने विषयों को दुःखरूप ही कहा है।

---

१. इतिवृत्त—इतिहास।

तो भी संसार में विषयीजनों की संख्या ही सदा से अधिक रही है। आश्चर्य की बात यह है कि जिन स्त्री पुरुषों ने वैषयिक जीवन को सर्वथा दुःखरूप अनुभव किया है वे भी अपने बालक-बालिकाओं को देवी मदालसा की भाँति आत्मरति और निवृत्ति की शिक्षा न देकर उल्टे विषय-प्रवृत्ति ही सिखाते हैं। धन्य भगवान् की माया। भगवान् व्यास भी निर्ममयोगी शुकदेवजी को लौटाने के लिये उनके पीछे दौड़े थे।

काम-कामना की पीड़ा कभी न हुई हो ऐसी बात कोई भी शरीरधारी सच्चाई से नहीं कह सकता। क्षेत्र में तृण स्वयं उगता है, परन्तु बीज वपन करने पर भी अन्न का होना सन्दिग्ध ही रहता है। चाहे पूर्व की सभ्यता में लालन-पालन हुआ हो अथवा पश्चिम की, सर्वत्र यही बात है। प्रकृति के गुणों में पूर्व-पश्चिम का और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई का भेद नहीं। किन्तु हृदय में रजतम के विकारों का उदय होना एक बात है और उनको अपने जीवन का, समाज का, सभ्यता का लक्ष्य बना लेना एक बिलकुल दूसरी बात है। शरीर रूपी क्षेत्र में दैवी और आसुरी उभय सम्पत्तियों के बीज विद्यमान हैं। हम किस बीज को सींचते और पोषते हैं, किस-पौधे को उखाड़ फेंकते हैं इसमें अपना पुरुषार्थ है। कल्प-वृक्ष की खेती करेंगे तो अमृतफल खाने को मिलेगा। बबूल लगायेंगे तो कांटे लगेंगे। आर्षग्रन्थों के अनुशीलन से पाशविकता तथा जीव की विषय प्रवणता[1] को प्ररोचना[2] नहीं मिलती।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

गीता ३–१७।

---

१. प्रवणता=झुकाव, प्रवृत्ति, २. प्ररोचना=प्रोत्साहन, रुझान।

आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मतुष्ट मानव के लिये कोई कार्य नहीं।

आत्मरति और आत्मस्वरूप सर्वभूत-हित में रति भारतीय सभ्यता का आदर्श है। वैदिक ग्रन्थों में विवाह और भोग करने की आज्ञा किसी को नहीं, केवल व्यवस्था है। शास्त्र ऋतम्भरा[1] वाणी है। ऋतभाषा ऋततत्त्व[2] का ही निर्वचन करती है। जीव में असत्य की सत्ता को दृढ करना, भोगवासना को जागरित और प्रोत्साहित करना आर्षग्रन्थों का काम नहीं। सत्यनारायण को पाकर जीवन कृतार्थ करना ही सत्यदेवता की निःश्वासभूतावाणी वेद का परम सार है। परन्तु ज्ञान-सूर्य के ताप से जिसका विषयरस नहीं सूखा, चित्त में विषयों की बाढ़ आजाने से जिसका ब्रह्मचर्य रूपी बाँध फूटना ही चाहता है उसके लिए विवाह की व्यवस्था देकर शास्त्रों ने मनुष्य की विषयप्रवृत्ति को नियन्त्रित कर दिया है। परमात्मा की उपासना में तिलांजलि देकर स्त्री की उपासना करना शास्त्राज्ञा नहीं। विवाह द्वारा व्यवाय[3] की व्यवस्था देने में शास्त्रों को वस्तुतःनिवृत्ति ही इष्ट है।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधाः मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया॥

भा० ११-५-१०

सब देहधारियों में निरन्तर आकाशवत् अवस्थित परमात्मा ही सब का अभीष्ट है। परन्तु अबुध इस वेदगान को नहीं सुनते। उनको मनका रथ दौड़ाने मे ही मजा आता है। वे भोगवार्ता मे ही रस पाते हैं।

---

१. ऋतम्भरा=ऋतंबिभर्ति, जो सत्य को धारण पोषण करे।
२. ऋत=सत्य। ३. व्यवाय=मैथुन।

शास्त्रों मे कुछ विधि-निषेध की चर्चा है। मानवीय अधःप्रवृत्तियों को क्रमशः देवत्व की ओर मोड़ना ही उनका लक्ष्य है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्रचोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाह यज्ञ सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

भा० ११-५-१०

जीव-जन्तुओं की मैथुन मे सहज प्रवृत्ति है। मद्यमांस प्रभृति उत्तेजक द्रव्य उसके उपकरण हैं। इसमे किसी के प्रेरणा की अपेक्षा नहीं। वेदशास्त्रों को इन दुर्व्यसनों के प्रति वस्तुतः निवृत्ति ही इष्ट है। परन्तु जिनकी श्रेयवाक्यों में पूर्ण प्रतीति नहीं, आप्तवाक्यों से जिन्हें बोध नहीं होता, जो दुर्बल हैं, एकदम से वासना का त्याग नहीं कर सकते उनके लिये विवाह और सौत्रामणियज्ञ के द्वारा कुछ शर्तों के साथ आल्पकालिक व्यवस्था देदी गई है, न कि आदेश। दूसरे शब्दों में विवाह मैथुन में एक प्रतिबन्ध है। दारपरिग्रह सन्यास की पूर्व भूमिका है। यह ग्रहण त्याग और आत्मविजय के उद्देश्य से है, जैसे रोगी के लिये ओषधि। शास्त्र कहता है कि अच्छा यदि नहीं मानते तो लो, प्रेयको स्वयं देखलो, जानलो, समझलो और फिर छोड़ दो। ब्रह्माजी प्रजातन्तु का यह चक्र उसीसे चलवाते हैं जिसके चित्त में सुतवितलोकैषणा बनी है।

"प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" प्रजातन्तु का छेदन मत करो, यह वेदाज्ञा उन्हीं के लिये है जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते। जल की भाँति जीव की गुणमयी प्रकृति स्वभाव से अधोगामिनी है। यदि सभी प्रकार के नियन्त्रण उठाकर छूट देदीजाय तो मनुष्यप्राणी घोर संसार-सागर में डूब जाय। दुनिया में गन्दिगी फैल जाय। जीव की विषयप्रवृत्ति को बढ़ावा देना नरक के द्वार को चौड़ा करना है। हिन्दू सभ्यता स्त्री और धन दोनों

को लक्ष्मीमाता का रूप मानती है। लक्ष्मीजी पतिव्रता हैं। उनके पति भगवान् हैं। जो धर्ममार्ग में स्थित रहकर भगवत्सेवा की बुद्धि से स्त्री और धन का सेवन करता है वह उनका सदुपयोग करता है। पृथ्वीमें स्त्री और धन के रूपमें अवतीर्ण साक्षात् मालक्ष्मी ही हैं। स्त्री और धनही सामाजिक जीवन की शोभा, सौन्दर्य और भित्तिहैं जबकि आध्यात्मिक जीवन की भित्ति इन दोनों के प्रति पूर्ण अनासक्ति है। जो काम और लोभ के वश में होकर इस देवमाया का अपहरण करके स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है उस राष्ट्र, जाति और व्यक्ति का विनाश अनिवार्य है। यह शक्ति मानव को धरोहर के रूप में भगवत्सेवा के लिए मिली है।

स्त्री और धन दोनों को एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता। जहाँ स्त्री होगी वहाँ धन और जहाँ धन होगा वहाँ स्त्री स्वयं पहुंच जायेगी। भगवान् को सृजन पसन्द है। उन्होंने अपने लीलाविलास के लिये ही सृष्टि किया है। संसार को प्रसन्नकर बहुत्वरूप देने के लिये स्वयं भगवान् ही स्त्रीरूप धारण कर इसलोक में आये हैं। स्त्री के शरीर में समस्त शक्तियों का वास है। दुर्गासप्तशती में कहा है, हे देवि! जगत् की सब स्त्रियाँ तुम्हारे ही रूप के नानाभेद हैं।

"स्त्रियः समस्तास्तव देविभेदाः"

मनुष्य के शरीर में वीर्य ब्रह्मबीज है। स्त्री भूमि है। सन्तानोत्पादन रूप कृषिकर्म के लिये स्त्री पुरुष निमित्तमात्र हैं। वास्तविक कर्त्ता धर्त्ता परमात्मा ही है।

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" गीता।

भूतप्राणियों में धर्म का अविरोधी काम साक्षात् परमेश्वर का ही रूप है। पशुपक्षी सब इस दैवीविधान का अनुवर्तन कररहे हैं।

प्राकृतिक नियमों का लंघन आत्मघातक है। ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि देकर अन्य जीवों की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतन्त्रता दे रक्खी है। मनुष्य अहंकार वश उस ईशप्रदत्त स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करता है। स्त्री और धन को अपने सुखभोग का साधन मानकर उसमें आसक्त हो जाता है।

"एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुःस्वधर्मम्"

भा० ११-५-१३।

व्यवाय[1] एकमात्र प्रजा ही के लिये है, रति के लिये नहीं। पुच्छविषाणहीन[2] पशुमानव कामासक्त होकर इस विशुद्ध भागवत्धर्म की अवहेलना करता है। इसे नहीं समझता। आत्मरति और भोगविरति ही शास्त्राज्ञा है। जो इस शाश्वती शास्त्राज्ञा की अवज्ञा कर कामाचार करते हैं उनको सुख शान्ति नहीं मिल सकती।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः,
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्।
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥

भा० ११-८-७-८।

अग्नि की मोहमयीप्रीति शलभ[3] को जला डालती है। जो विषयलोलुप स्त्रैणपुरुष भागवतीशक्ति देवमाया स्त्री को काम-भोग का खिलौना मानते हैं वे भी तमसान्ध में पतित होकर उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं। स्त्री-सुवर्ण-आभरणादि द्रव्य माया-रचित हैं। मूढ़ात्मा लोभवश इनके प्रति भोगबुद्धि रखता है। वह कामान्ध अग्नि में पतङ्ग की भाँति जलकर क्षार हो जाता

---

१. व्यवाय=मैथुन, २. विषाण=शृङ्ग, ३. शलभ=पखियारी।

है। जो भगवत्प्रीत्यर्थ लक्ष्मी के द्वारा लक्ष्मीपति का भोग नहीं लगाते प्रत्युत स्वयं ही भोगना चाहते हैं वे अभागे लक्ष्मी और लक्ष्मीपति दोनो के क्रोधभाजन बनते हैं। यदि कोई रावण लक्ष्मी पर ही अधिकार जमाना चाहे तो उसे लक्ष्मीनारायण कैसे सहन कर सकते हैं? " भोगार्थे भार्याम् क्रियेत् " का आदेश सृष्टिकर्त्ता ने नहीं दिया, "पुत्रार्थे भार्याम् क्रियेत्" ही विधि का विधान है। भोगबुद्धि और प्रजाबुद्धि से स्त्रीसमागम में बड़ा अन्तर है। प्रजापति की आज्ञा मानकर उन्हीं के दिये हुए बीज को ऋतु आने पर भूमि में बो देना तो एक परम पवित्र कार्य है। यह धर्म है, यज्ञ है। भोगरूप अधर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। लक्ष्मी का वाहन पेचक[1] माना गया है। अर्थात् जिनके शिर पर स्त्री और धन सवार हैं वे मतिभ्रष्ट उल्लू होते हैं। मनुष्य स्त्री और धन का स्वामी नहीं, वह केवल विष्णुद्वारा नियुक्त इनका विश्वासी रक्षक है।

धनंचधर्मैक फलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषुयुञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥

भा० ११-५-१२।

धन का धर्मही एकमात्र फल है। धर्मोपार्जित धन और धनोपार्जित धर्म के द्वारा विज्ञान सहित ज्ञान तथा उससे परमशान्ति मिलती है। परन्तु दुरुपयोग से विपरीत फलका उदय होता देखा जाता है। लोग आसक्त होजाते हैं। सामने खड़ी कलेवर की भयंकर मृत्यु को नहीं देखते।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी को " मातृवत्सर्वदारेषु " अखिल जगत की स्त्रियों के प्रति मातृवत् व्यवहार करना चाहिये। केवल

---

१. पेचक=उलूक।

मानवी को ही नहीं वरञ्च पशु पत्ती कीट पतङ्गों में भी स्त्री जातिमात्र को मातृयोनि मानकर उनके प्रति पूज्य-बुद्धि रखनी चाहिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बड़ी ही उदात्त भावना है। जिन्होंने अध्यात्ममार्ग मे प्रवेश कर लेश भी प्रकृति के रहस्य को समझा है वे इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। एक अख्यान है। एकबार गणेशजीने एक बिल्ली को बहुत पीटा। इससे मा दुर्गा के सारे देह मे छाले पड़ गये। जगदम्बाने कहा, बेटा! स्त्रीलिङ्ग जितने प्राणी हैं सब मेरी ही प्रतिकृति हैं। अब कभी किसीको न सताना। गणेशजीको सखेद आश्चर्य हुआ। योनिमात्र को मा दुर्गा की प्रतिमा मानकर प्रणाम किया। योनिमात्र के प्रति मातृभावना केवल कोरी भावना ही नहीं है, प्रत्युत वास्तविक बात भी ऐसी ही है। जो अभीतक इतने ऊपर नहीं उठ सके हैं उनके लिये मध्यपथ है। अर्थात् उनको अपनी सहधर्मिणी को छोड़कर अन्य नारियों के प्रति "मातृवत् परदारेषु" वर्ताव करना चाहिये। अखिल विश्व-प्रकृति को माता के रूप मे दर्शन करने के लिए विवाह एक साधन सोपान है। माता के पवित्र नामोच्चारण से कामभूत बहुत भय खाता है। साधक को कामवृत्ति से लड़ाई लड़नी ही नहीं पड़ती। यदि कभी कालचक्रवश पतन का अवसर भी उपस्थित होजाय तो स्वयं पुत्रवत्सला माता ही शिशु को विषयाग्नि में जलने से बचा लेती हैं। महामाया कामुक के लिये ही गुणमयी दुरत्यया[1] माया है। भक्त के लिये तो वह स्नेहमयी माता है। माता से बच्चे को क्या भय? श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव इसी भवतारिणीमाता की कृपा से विवाहित होकर भी कामिनी कञ्चन से सर्वथा अछूते रह सके।

---

१. दुरत्यया=जिसे पार करना कष्टकर है।

(ख)

आज समाज का वातावरण बहुत ही दूषित हो गया है। लोग यह कहते सुने जाते हैं कि नारिमात्र को मातृभाव से क्यों स्त्रीभाव से ही क्यों न देखा जाय? इससे मानसपतन होता है। असभ्य-भावना से वायु दूषित हो जाती है। मानसपतन के बाद स्थूलशरीर का पतन तो एक अवसर का खिलौना मात्र है। एक हल्की हवा का झोंका भी सूखे पत्ते को उड़ा सकता है। विवाह भोग का अङ्ग नहीं अपितु ब्रह्मचर्य का ही एक अङ्ग है। यदि कोई नटखट बालक किसी हेय पदार्थ के लिये जिद्द करता है तो माँ उसका एक कण बच्चे के मुख में डालकर तुरन्त ही "हा, थू" कहकर उस वस्तु के प्रति बच्चे के हृदय में घृणा पैदा करा देती है। विवाह के लिए वैदिक आज्ञा भी इसी प्रकार है। यदि बीड़ी एकदम से नहीं छूटती तो धीरे-धीरे अभ्यास करके छोड़ देना चाहिये। परन्तु अपना लक्ष्य सदा त्याग की ही ओर होना चाहिये, भोग की ओर नहीं। पशु और मानव में क्या अन्तर है? पशु विवाह नहीं करता परन्तु ईश्वरीय विधान के अनुसार वह प्रकृति के ऋतुधर्म से बँधा है। गोवत्स बड़ा होजाने पर अपनी माँ बहिन को भी गर्भाधान कराता है। पशु में कोई सामाजिक सभ्यता नहीं। मानव उच्चस्तर का प्राणी है। उसकी दैवीसम्पदा स्वभाव से है। उसमें सामाजिक मर्यादा है, सभ्यता और संस्कृति है। चोर नहीं चाहता कि उसकी भी वस्तु कोई चुरा ले, मृषाभाषी नहीं चाहता कि उससे भी कोई झूठ बोल जाय। यह धर्म की प्रेरणा है। इसे जानकर हम सबसे आत्मवत् व्यवहार करें। विवाह स्त्री-पुरुष के मिथधर्म[1] को दो में ही केन्द्रित, मर्यादित और सीमित कर देता

१. मिथधर्म=स्त्री पुरुषों का परस्पर व्यवहार।

है। इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये यह सबसे सुगम मार्ग है। मनुष्य में धर्म की प्रतिष्ठा है। मनुष्य स्वभाव से ही इस बात को अच्छा नही समझता कि उसकी माता, भगिनी और दुहिता को कोई पाप दृष्टि से देखे। जो हम अपने लिये अच्छा समझते हैं, दूसरों से अपने प्रति जिस व्यवहार की आशा रखते हैं, विश्वप्राणियों के प्रति अपना व्यवहार तदनुकूल ही होना चाहिये। अन्यथा संसार में शान्ति नहीं हो सकतो। कहा है कि

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

आत्म-प्रतिकूल आचरण पर के प्रति न करे।

विवाह प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् कर्मयोग है। "कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते" भा०। कर्म से छुटकारा पाने के लिये ही कर्म का विधान किया गया है। कर्म को ही अपना लक्ष्य बना लेना कोई कर्मयोग नहीं। यह उद्देश्य हो भी नहीं सकता। क्योंकि गति में शान्ति नहीं। जीव कर्म के बिना रह ही नहीं सकता। अतएव जिससे कर्म का दोष स्पर्श न करसके निष्काम कर्मयोग उसकी एक यौगिक कला है। नियत कर्म से नैष्कर्म्य सिद्धि एवम् उससे ज्ञानाधिकार होता है।

अविवाह और ब्रह्मचर्य एक वस्तु नहीं। ऋतुगामी ब्रह्मचारी हो सकता है, अविवाहित व्यभिचारी हो सकता है। जो स्मरणं कीर्तनं प्रभृति अष्टमैथुनों से बचकर सठीक ब्रह्मचर्य का पालन करसके उसे विवाह की बातें स्वप्न में भी नहीं सोचना चाहिये। गृहमेध[1] का फल विषयों से सच्चा वैराग्य ही है। पूर्वजन्मार्जित शुभ संस्कारोदय के विना चित्त में वैराग्य उत्पन्न ही नहीं होता।

---

१. गृहमेध=गृहयज्ञ, गृहधर्म।

अतः विचारवान् विरक्तमुनि का दारपरिग्रह करना आरूढ़च्युत[1] होना है। ज्ञानवैराग्य रूपी भगवत्प्रसाद पाकर जिनका पेट भर गया उन्हें पाकश्रम करने की क्या आवश्यकता? जब धोना ही है तो पदको पंकमग्न क्यों किया जाय? सन्यासी अग्निस्पर्श क्यों करे? वह्नि और वनिता समान हैं। स्त्री को लेकर संसार करना अग्नि के साथ खेलना है। परन्तु जिनके लिये ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं उन्हें और कुछ न करके केवल विवाह ही करना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते तो आवेश-वश कोई ऐसा काम कर सकते हैं जो नहीं करना चाहिये। नदी-नाले के रास्ते अतिरिक्त गन्दाजल बह जाता है, यदि ऐसा न हो तो पानी सर्वत्र फैल जाय और उसकी बाढ़ में गाँव के गाँव बह जाँय, नगर, नागर और नागरिकता का कहीं पता भी न चले।

दाम्पत्य जीवन में भी संयम की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि योग के विना भोग भी नहीं होता। यद्यपि प्रमादी मानव को सुखभोग में किसी प्रकार का नियन्त्रण रुचता नहीं तथापि अजीर्ण होजाने पर सुस्वादु भोजन का समूचा सुख दुःखमें परिणत होजाता है। दक्ष गृहिणी वही समझी जाती है जो भोजन भी पकाले, साथ ही आग में हाथ भी न जलाये। "योगः कर्मसु कौशलं।" कुशान् लाति कुशलः। कुशलस्य भावः कौशलम्। कुश उखाड़ने जाँयगे तो हाथ चिर जाने की सम्भावना अधिक है। परन्तु कुशल वही है जो कुश भी उखाड़ लाये और हाथ भी कटने न पाये। कुशल गृहस्थ के जीवन-बेल में सन्तान, संसारज्ञान, विषयोपराम और अनासक्ति के सुन्दर फूल खिलते हैं।

---

१. आरुढ़च्युत=चढ़कर गिरना।

(ग)

यावत्संजायते किञ्चित्सत्वं स्थावरजङ्गमम्,
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।
गीता अ० १३-२६

हे भरतश्रेष्ठ ! स्थावरजङ्गम यत्किञ्चित् भी जो सत्त्व है उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही संजात जानो।

यह दृश्य जगत् पुरुष-प्रकृति के संयोग से ही उत्पन्न हुआ है। गुण व्यतिकार[1] और उपाधि भेद से शक्ति और शक्तिमान् के अनेक नामरूप हैं। भगवती परमपुरुष परमात्मा की चिन्मयशक्ति हैं। महेश की शक्ति माहेश्वरी हैं। त्रिगुणमयी प्रकृति पुरुष की शक्ति है। ये युगल अध्यात्मतत्त्व ही पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के रूप में संसार में अवतीर्ण हुए हैं। पृथिवी के मूर्तिमान् नरनारी शिवशक्ति के ही प्रतीक हैं। आदि में एक पुरुषोत्तम ही था। एक चणक का दृष्टान्त लीजिये। चणकतूष भगवान् की योगमाया है। तूष के गर्भ में स्थित दो घूल, जीव और प्रकृति भगवान् की परा और अपरा दो शक्तियाँ हैं। दोनों घूल भीतर अलग अलग हैं। जबतक वे छिलके से बँधे रहते हैं, जलवायु और ऋतु-संयोग से उनसे अंकुर निकलता है। छिलका दोनों को बाँध रखता है और उनका शिरा जुड़ा रहता है। दाने की वह नोक पुरुषोत्तमतत्त्व है जहाँ कि पुरुष-प्रकृतिरूपी दोनों दालें अभिन्न रूप से मिलकर एक होगई हैं। जबतक जीव और उसकी प्रकृति इस छिलके रूप भगवान् की योगमयी महामाया से समावृत हैं तबतक ऋतु या कालचक्र के प्रभाव से उन दोनों के बीच से अङ्कुर-रूप

१. व्यतिकार = मिश्रण, सम्बन्ध।

सृष्टि-व्यापार प्रसूत होता रहता है। यही पुनर्जन्म है। छिलका तोड़ देने के बाद काल का प्रभाव उनपर नहीं पड़ता। यही मुक्ति है। यह छिलका ही—भगवान् के शब्दों में "दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया" है। जबतक इसका छेदन नहीं होता जीव को कालचक्र में पिसना ही पड़ेगा। जन्ममृत्यु, जरा-व्याधि कालचक्र के ही परिणाम हैं। तत्त्वदर्शन के बाद जीव, ब्रह्म और माया की यह त्रिपुटी नहीं रहती। बेल का नाम लेने से उसके छिलके और बीजादि सभी अंगों का बोध होजाता है। इसी प्रकार एक ब्रह्मतत्त्व में ही समूची इदन्ता[1] का समावेश है। यह सब वासुदेवमय है। जिनकी चेतना इस अखण्ड बोध मे स्थित होगई है उनके पैर कभी बेताल में नहीं पड़ते। निषिद्ध का स्वाभाविक त्याग हो जाता है। कहनेको सब बेल ही है किन्तु बिल्वका काँटा, छिलका और जाली पशुओं का ही आहार है, मनुष्य केवल सार-रसही ग्रहण करता है। ठीक उसी प्रकार यद्यपि यह दृश्यप्रपञ्च सब ब्रह्मरूपही है तथापि बुद्धिमान् अनात्म प्रतीतिमे सुख नहीं खोजता। जगत्मे उसका रागद्वेष समाप्त होजाता है। असार विषयों से उपराम होकर वह केवल आत्मतत्त्वमें ही रमण करता है। परन्तु संसार में यह जितना भी बहिर्मुख अनन्तजीव समुदाय है वह सब कालरूप चक्की की घानी है। पीसते समय कुछ दाने चक्की के बाहर उदक कर पड़ जाते हैं, केवल वही पिसने से बचते हैं। तद्वत् "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" गीता। जो अन्तर्मुखीन प्राणी अपने आपको बाहर से समेटकर श्रीपुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों में अनन्य शरण ग्रहण करता है केवल उसीका उद्धार होता है।

---

१. इदन्ता=यह दृश्य जगत्।

गायबैल, घोटकघोटकी, छागछागी, नरनारी प्रभृति विश्व की ये जितनी भी अनन्त मिथुन राशियाँ हैं सब उस प्रकृतिपुरुषरूप युगतत्त्व की ही नाना भौतिक मूर्तियाँ हैं, और उन सबके मूल में परमात्मा है। इस दृष्टिकोण से देखने से ही जगत् मे सामञ्जस्य और मनुष्य जीवन का यथार्थ मूल्य समझमें में आता है। आर्य ऋषियों ने इस आध्यात्मिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था। यही सच्चा प्राणिशास्त्र है। जो इसका वेत्ता है वह सब भूतों में आत्मा को देखता है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
"सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते"

ईशउ० मं० ६

विवेकी पुरुष सब भूतप्राणियों को अपनी आत्मा मे और अपनी आत्माको सम्पूर्णभूतप्राणियों में व्याप्त देखता है। वह किसी भी जीवके प्रति जुगुप्सा किम्वा घृणाद्वेष का भाव नहीं रख सकता। जो विश्वको अपनी आत्माका ही रूप मानता है एकमात्र वही सबको निःस्वार्थ प्रेम प्रदान कर सकता है।

"वासुदेवः सर्वमिति समहात्मा सुदुर्लभः"

गी० ७–१६

सम्पूर्ण जगत् को भगवान् वासुदेव का ही रूप माननेवाला महात्मा इस संसार में अति दुर्लभ है। "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" का दृष्टिकोण आत्मदर्शी का ही हो सकता है। मानापमान, निन्दास्तुति, शत्रुतामित्रता का द्वन्द्वरूप काला दोमुखा साँप आत्मदर्शी के विश्वप्रेम को ग्रास करना तो दूर रहा वह उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता।

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रेमणिगणा इव'

गीता ७–७

संसार की ये सब प्राणि-मूर्तियाँ सूत्रेमणिगणाइव उस परमात्मा मे ही पिरोई हैं। पश्चिमी सभ्यता की जड़मशीनरी बुद्धि से यह तत्त्व समझ में नहीं आसकता। जो सबमें समानरूप से व्याप्त आत्मतत्त्व को न जानते, न मानते वे विश्व को वहकाने एवं भारतीय सभ्यता और दर्शन की आँख में धूल झोंकने समानता और विश्वभ्रातृत्व की बड़ीबड़ी लम्बीचौड़ी थोथी बातें करते हैं। विश्वात्मा को माने बिना विश्वप्रेम की चर्चा एक विडम्बना है। क्योंकि प्राणियों की प्रकृति में भेद तो प्रत्यक्ष ही है। उनमें कोई एक अभिन्नतत्त्व माने बिना प्रेम कैसा ?

आर्य ऋषियों ने संसार के मूल परमात्मा को पकड़ा है। किन्तु अनार्य शाखा-पल्लव में भटकता रहता है, मूल की ओर जाता ही नहीं। आर्य दृष्टि में सत्य केवल परमात्मा है। अनार्य संसार को ही सत्य मानकर चलता है। ऋषियों ने अध्यात्म-जगत् के तृतीय ज्ञाननेत्र से ही संसार का दर्शन किया है। इसलिये जो मानवसमाज उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के साँचे में अपने आपको ढालने का प्रयत्न किया उसकी जीवनशैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भारतेतर देश, जाति और सभ्यता की अपेक्षा बहुत कुछ अन्तर पड़गया। आर्यजाति के सामाजिक जीवन की मोटी से मोटी समस्या का समाधान भी आध्यात्मिकता के तागे में गूंथकर ही किया गया है। बिना इसको ठीक ठीक समझे हिन्दूसमाज का ढाँचा समझ में नहीं आसकता। जिन लोगों ने प्रकृति के आध्यात्मिक तत्त्व को सठीक नहीं समझा है उनकी आँख में भारतीय वैवाहिक प्रणाली वर्णाश्रम, विभागादि हिन्दुत्त्व की सभी बातों में केवल दोष ही दोष दिखाई पड़ता है। वर्तमान हिन्दू समाज अपने आदर्श से च्युत हो जाने के कारण दूसरे की आलोचना

फा०—३

का शिकार भी बड़ी आसानी से बन जाता है।

पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गके पीछे जो आध्यात्मिक पृष्ठभूमिहै उसे समझे विना हिन्दू समाजकी रचना और उसके सिद्धान्त समझ मे नहीं आसकते।

ज्ञानी सांख्ययोग की शरण ग्रहणकर प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को पृथक् पृथक् समझ लेता है। परमार्थ साधन के लिये स्थूलशक्ति का ग्रहण उसके लिये आवश्यक नहीं। किन्तु शक्ति के विना ज्ञान, कर्म सब व्यर्थ हैं। सांख्ययोगी को न आत्मलाभ हो सकता, न कर्मयोगी को नैष्कर्म्य सिद्धि। स्त्रीजाति निश्चय ही पार्थिव शक्ति है।

पुरुष मे स्त्रीत्त्व और स्त्री मे पुरुषत्व अभिभूत रहता है। सांख्ययोग के पथिक स्त्री-पुरुष अपने आप में अभिभूत पुरुष और प्रकृति तत्त्व को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और योगके बलसे प्रादुर्भूत कर उभय तत्त्वों को एक दूसरे के बराबर कर लेते हैं, अतः उनको आत्मविकास के पथमें अग्रसर होने के लिये इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि वे वाह्य विकसित, पार्थिव-अर्द्धाङ्गतत्त्व को अपना साथी वरण कर विवाह के द्वारा एक दूसरे के जीवन की कमी को पूरा करें। सांख्यपथ-पथिक की आत्मोन्नति के लिए योगमार्ग में शिवशक्ति का मिलन जितना आवश्यक है उतना ही कर्मयोगी और योगिनी के आत्मविकासके लिये विवाह। प्रकृति के इस नियम की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जो करते हैं वे गिरते हैं।

(घ)

ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से जबकि कर्म का देह से है। जिसे "मैं देह हूँ" ऐसा अध्यास है वह देहसंग में सुख खोजता

है। यही उद्वाह[1] है। इसमें लोकलीला चलती है। जिसे "मैं आत्मा हूँ" ऐसा भान है वह आत्मा में रति करता है। जीव के हृत्सरोवर से आन्तर और बाह्य भेद से प्रेम की दो धारायें निकलती हैं। एक सीधे गोलोक जाती है, दूसरी भूलोक में आती है। रति, प्रेम, सङ्ग, लीला, मिलन, रस आनन्द जो भी कहिये उसके बिना जीव नहीं रह सकता। प्रेमही जीव का स्वरूप है "रसो वै सः पुरुषः"। आत्मरत का क्षेत्र अलौकिक है। उसका प्रेम दिव्य है। वह भगवान् के नित्य लीलाक्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। जाग्रत, शुद्ध, सत्त्वमयी चिच्छक्ति उसकी लीला संगिनी है। ज्ञान की भाषा में जो आत्मरति है वही भक्त की भाषा में गोलोकवासी भगवान् कृष्ण के साथ गोपियाँ का महारास है। गीतोक्त अष्टधा प्रकृति ही अष्ट सखियाँ हैं। जीव को हर्षित करने के कारण इन्द्रियों को हृषीक कहा है। हृषीकेश या इन्द्रियेश भगवान् कृष्ण के साथ इन्द्रयों के मिलन से अलौकिक रसकी सृष्टि होती है। वंशीवादन भगवान् का प्रेम निमन्त्रण है। वंशीनिनाद करके श्रीकृष्ण सभी जीवों को अपनी ओर बुला रहे हैं। जो प्रत्यगाक्ष[2] हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखीन हैं वे ही भगवान् के इस आह्वान की ध्वनिको सुनपाते हैं। जिसे भगवान् कृपा करके बुलाते हैं उसीका वहाँ प्रवेश है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" की शर्त जिसने स्वजीवन में पूरी कर लिया वही इस लीला का पात्र है। श्रीकृष्ण जी की वंशी प्रेमरस की वर्षा करती है। सृष्टि-व्यापार के गोरखधन्धे में फँसी हुई इन्द्रियरूपी गोपियाँ प्रेमवर्षा की वन्या[3] में बहकर श्रीकृष्ण के पास पहुँच जाती हैं। जिन गोपियों में संसार के

१—उद्वाह=विवाह। २—प्रत्यगाक्ष=अन्तर्दृष्टि।
३—वन्या=बाढ़।

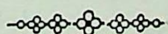
प्रति यत्किञ्चिदासक्ति विद्यमान है उनको बाधा पड़ जाती है, वे सशरीर भगवान् के पास नहीं पहुँच पातीं । भगवान् के तीव्र विरहताप से उनका अशुभ भस्म हो जाता है। ध्यान में प्राप्त अच्युत के आश्लेष[1] से वे क्षीणमंगला हो जाती हैं । शुभाशुभ त्यागकर, गुणमय देह छोड़कर वे भी भगवान् के लीलामें पहुँच जाती हैं। जो देहगेह भगवन्मिलन में बाधक है उसमें आग-लगे । जो ब्रह्मभूत हैं वही भगवान् की पराभक्ति लाभ करते हैं। भगवान् क्या और कितना है इसका तत्त्वतः बोध भक्तिसेही सम्भव है । तत्त्वज्ञ का ही भगवान् में प्रवेश है । प्रवेशानन्तर ही रासलीला होती है। सिद्धों की ही यहाँ गति है । गीता अध्याय १८ श्लोक ४६ से ५५ तक द्रष्टव्य । यह ऊर्ध्वरेतस् की अवस्था है । यह प्रेम नित्य है । लोक में बहिर्मुख नर-मादाओं का समूह जिस मैथुन्य क्षणिक सुख का अनुभव करता है वह उसी दिव्य महारास के क्षीण छाया का आभासमात्र है । लौकिक प्रेमधारा भी धर्ममार्ग से क्षीरसागर में जाकर गिरती है । धर्मपरायण दम्पती अन्योन्य की सहायता से रजतम पर विजय प्राप्त करलेते हैं। तब उनमें शुद्धसत्त्व की प्रतिष्ठा होती है। शुद्धसत्त्वही क्षीरसागर है। पंचप्राण ही विष्णुशय्या के पंचमुख सर्प हैं । उसीपर भगवान् योगनिद्रा में सोते हैं। मायाशक्ति चरण सेवा करती है। धर्मसंगत प्रेमकी अधस्तनधारा भी भगवान् को मान्य है। भगवान् को सृष्टि-व्यापार रुच्य है। स्वयं परमात्मा ही लीला के लिये जगत् हुए हैं। सब नर-नारी सीय-राममय हैं। परन्तु यदि भोग जीवन का लक्ष्य बनाया जाय तो यह धारा नरकसिन्धु में ले जाती है। यह मूर्खों की धारा है। भोग से काम का कदापि शमन नहीं।

१—आश्लेष=आलिङ्गन ।

जितना ही इन्धन डालो आग बढ़ती जाती है । विवेक पूर्वक विषयों का परीक्षण करने से संसार के दुःखस्वरूप का दर्शन होता है तब चित्त में स्वतः वैराग्य का उदय होता है। वैषयिक जीवन से विषाद एवम् संसार से निर्वेद हो जाता है। जीवन में विषादयोग की यह अवस्था ही अध्यात्ममार्ग में प्रवेश की पूर्व भूमिका है। गीता के प्रथम अध्याय में इस योग की झाँकी मिलती है। जितने सन्तमहात्मा हुए हैं संसार को दुःखरूप जानकर ही सत्यनारायण की खोज में प्रवृत्त हुए हैं ? इस प्रकार लौकिक प्रेमकी धारा भी वैराग्य और वाणप्रस्थ के द्वारा जीव को अन्त में भगवान् से मिला देती है।

प्रेम का सम्बन्ध बिन्दु से है। चिच्छक्ति वीर्य का ही आश्रय लेकर रहती है। तभी तो उससे प्राणिका जन्म होता है। विन्दु की गति में ही जीव का उत्थान-पतन निर्भर है । रेतस् की तीन गतियाँ हैं। ऊर्ध्वरेतस् में आत्मरति होती है। स्थिररेतस् में ब्रह्मज्ञान लाभ होता है। अधोरेतस् से स्त्री-पुरुषों में स्थूल प्रेम और दैहिक मिलन होता है जिसका फल यह लोक और समाज है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो ब्रह्मचारी है ही, जो एक पत्नी-व्रत और पतिव्रता हैं वे भी निश्चय ब्रह्मचारी हैं। जिसका चित्त ब्रह्ममे नित्य विचरण करे वही ब्रह्मचारी है। ब्रह्मणि चरति ब्रह्मचारी।

यही भारतवर्ष का सांस्कृतिक आदर्श है। आदर्श का अक्षरार्थ दर्पण होता है। अपने इसी प्राचीन, निर्मल और निर्दोष आदर्श में अपनी मुखाकृति तथा छवि देखकर भारत-वर्ष को आत्मसुधार करना चाहिये।



काम और ब्रह्मचर्य के स्वरूप की समीक्षा

(क)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

ईश उ० मं०—११

जो विद्या और अविद्या इन दोनोंको साथसाथ जानताहै वह अविद्याकी सहायतासे मृत्युको तरकर विद्याके द्वारा अमृतको प्राप्तकर लेता है। अत्र अविद्या काम है, विद्या ब्रह्मचर्य है। संसार मृत्यु है, आत्मा अमृत है। आत्मामृत, जिसे पाने के लिये मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति"। काममृत्युः, जिसके स्वरूपको जानकर जिज्ञासुगण संसारसे विरक्त हो जाते हैं। संग्राममें प्रहार और आत्मरक्षा साथसाथ करनी पड़ती है। आरोग्यविज्ञानमें व्याधि-निदान[1] और औषधिका युगपद्[2] सम्यक्ज्ञान दोनों अपरिहार्य हैं। केवल भेषज-विज्ञानसे कोई चतुर चिकित्सक नहीं हो सकता। कामरुज् का रूप विना जाने उससे अपना बचाव करना कठिन है। समाजमें अधिक लोग कामविषयक कोई चर्चा न करनेमें ही सदाचार की प्रतिष्ठा मानते हैं। परन्तु आवश्यक बातों से अनभिज्ञ रहकर कोई इस महाव्याधिको दीर्घदिन दबाकर नहीं रख सकता। औषधि पात्रभेदसे कुछ रोगों को बिठा देतीहै और कुछको उभाड़कर तब समूल नष्ट करती है। बच्चों के मनमें जबतक पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गके

१—निदान=आदिकारण। २—युगपद्=दोनों एकही साथ।

भाव उदय न हों तबतक कामशास्त्र विषयक कोई चर्चा उनसे नहीं करनी चाहिये । क्योंकि नीरोग्य के लिये ओषधि भी एक व्यर्थ व्याधि है। आरम्भमें मनोज जिज्ञासा के रूपमें ही उदय होता है । एतद्विषयक प्रयोजनीय ज्ञानका उत्तम साधन यह है कि यौवनारूढ़ बालक-बालिकाओंमें जब इस हृद्रोगके लाक्षणिक अङ्कुर दिखाई पड़ने लगें उस समय गृहके अनुभवी वृद्धजन दोषबुद्धि से इसके बीभत्स[1] रूपको उन्हें समझायें और इस भवव्याधिसे बचने का उपाय बतायें। जैसे मा किसी हेय[2] पदार्थ के प्रति शिशु के मनमें जूजू के नामपर भय का भाव भर देती है। साध्वी मदालसाने अपने पुत्रोंको ऐसी ही शिक्षा दिया थी । वार्ता से ही जिनकी जिज्ञासा निवृत्त होजाय वे देवमानव महात्मा हैं। अथातो कामजिज्ञासा के बाद उपदेश के द्वारा जिन लोगों के मन और इन्द्रियों का उपद्रव शान्त न हो उन्हें आत्मविजय के लिये चिकित्सा की दृष्टि से सामाजिक मर्यादा के अनुसार विधिपूर्वक वैवाहिक जीवन स्वीकार करलेना चाहिये ।

यद्यपि नरनारियों के व्यावहारिक जीवनमें नियन्त्रण आवश्यक हैं, उससे आंशिक रक्षा होती है, स्वच्छन्द जीवन तो अंकुरमें वर्षा का काम करता है किन्तु काम की पीड़ा इतनी प्रवल, मोहक, प्रमथनशील और वेगवती है कि कानून चाहे कितना भी कड़ा हो इस सम्बन्ध में केवल कठोर शासन के वल पर समाज का चारित्रिक उत्थान कदापि नहीं हो सकता। वंगभाषामें कविरवीन्द्र की पंक्तियाँ हैं "अन्धकार नाहीं जाय विवाद करिले, माने ना बाहुर आक्रमन। एकटि आलोकशिखा सुमुखे धरिले, नीरवे करे से पलायन"।

१—बीभत्स=घृणित। २—हेय=त्याज्य।

वाह्य विधान आन्तर्जीवन स्पर्श नहीं करता। मानवीय चेतना को भीतर से ही बदला जा सकता है। डण्डा मारकर पशुको अन्नके खेत से हाँक दीजिये, मौका पाते ही थोड़ी देरमें वह फिर आजायेगा। अनुशासन के साथसाथ बच्चों में बोध को जगाना है। बोधशून्य शासन से भय, चोरी और मिथ्या-चारिताको प्रोत्साहन मिलता है। सच्चे बोध का अर्थ है विषयों के प्रति दोषबुद्धि। वात्स्यायन ऋषि ने इसी उद्देश्य से कामसूत्र रचा था। आज कामशास्त्र के नामपर जो पुस्तकें विक रही हैं उनका मुख्य उद्देश्य पशुवृत्ति-चरितार्थ अनेकानेक नित-नूतन युक्तियों का दिग्दर्शन कराना है। यभन[1] विधि विशारद बनकर आत्म-हनन नहीं करना चाहिये। कामुक सबसे बड़ा आत्मघाती है? जिससे रोग और बढ़े, रोग का वह ज्ञान किस काम का? पशु पक्षी किस पाठशाला में काम-कला सीखने जाते हैं? विषय विद्या विना सीखे क्या वे बच्चा पैदा नहीं कर लेते? प्रथम प्रसूतिका धेनु को वात्सल्य प्रेम कौन सिखाता है? ये बातें समय आने पर प्रकृति स्वयं सिखा लेती है। मनुष्य को यदि कुछ सीखना है तो केवल इतना ही कि वह कौनसा कौशल है कि जिससे कटहल भी कट जाय और हाथमें दूधभी न चिपके, रोटी भी पकजाय और अग्निमें हाथभी न जले, बेर भी तोड़लें और काँटे भी न लगें, कमल का फूल भी तोड़ लायें और कीचड़ भी न लगे, सारबात यह कि उत्तम सन्तान भी उत्पन्न होजाय और विषयासक्ति भी न हो। लोकसंग्रह की दृष्टि से एक या दो से बहु होने की कला ही तो काम है, और क्या है? श्रेयबुद्धि से इस सम्बन्धमें तत्त्व की बातें जानने योग्य केवल इतनी ही हैं कि चित्तमें मदन का

१—यभन=मैथुन।

सम्भव कैसे होता है, यह क्या है, मनप्राणेन्द्रियों में उद्दीपना क्यों होती है, इसका निराकरण कैसे किया जाय ? इत्यादि। अन्य-ज्ञान बेकार और अन्धकार है। अविद्याके उपासक तमसान्धमें प्रवेश करते हैं।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते"

ईश उ० मं० ९।

× × (ख) × ×

देहयन्त्र ईश्वरनिर्मित एक मशीन है जो रज-वीर्य से उत्पन्न हुई है और रज-वीर्य ही उत्पादन करती है। वीर्यलाभ के ही लिये अन्नजल ग्रहण किया जाता है जो कि इस यन्त्र का आहार है। "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" यो० सू०। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में वीर्यलाभ है। अन्न से उसका सार, शुक्र निकालने के लिये इस देह में अनेक खीले पुर्जे हैं। रसाद्रक्तं ततो मांसम् प्रभृति उत्तरोत्तर धातुयें कैसे और कितने दिनों में बनती हैं, इसे आयुर्वेद में देखना और वीर्य का महत्त्व समझना चाहिये। पाचन की यह क्रिया स्वयं होरही है, इसमें जीव की अहन्ता को कुछ करना धरना नहीं है। घ्राण, पायु[1] प्रभृति नवद्वारों के अतिरिक्त इस देहयन्त्रमें सहस्रों लोमछिद्र हैं जिन मार्गों के द्वारा मलमूत्र स्वेदादि अनावश्यक द्रव्योँ को यह यन्त्र स्वतः बाहर फेँकता रहता है।

यदि जीव अपनी शुभाशुभ चेष्टाओँ को एकदम खतम करदे और स्वचालित देहयन्त्र की स्वाभाविक क्रिया में अपनी अहन्ता के द्वारा कभी कोई बाधा उपस्थित न करे तो जाग्रत् स्वप्न किसी भी दशा में लेश भी कदापि बिन्दु स्खलित न हो।

१—पायु गुह्य द्वार।

क्योंकि वीर्यसंग्रह इसका स्वतः सिद्ध धर्म है। प्रकृति जन्म से ऊर्ध्वरेता है। प्रकृति स्वभाव से जिस कार्य—साधन में रत हो उसमें साधक को अपनी ओर से करने का क्या काम ? यदि सारद्रव्य कभी निकल जाय तो समझना चाहिये कि मशीनमें कहीँ कुछ खराबी है, यह उसका स्वभाव नहीं। योगकला के द्वारा कल के इस दोष को दूर कर इसके स्वधर्म की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। यति के यत्न से रेत की अधोगति रुक जाती है, यन्त्र और भी दिन दूने रात चौगुने की गति से चलता है, यह भी इस बात का एक प्रमाण है कि शुक्र की सहज ऊर्ध्वगति है। चिकित्सा दोष की होती है, उससे किसी वस्तु का स्वभाव नहीँ बदला जा सकता। यदि बदल भी जाय तो उससे लाभ के स्थानमें उल्टे हानि हो। देखें, कोई मलमूत्र रोककर कैसे स्वस्थ रह सकता है ? मलमूत्र स्तम्भन से चित्त विषण्ण और देह अस्वस्थ तथा वीर्यस्तम्भन से चित्त प्रसन्न और देह स्वस्थ होता है। वीर्य ऐसे आवश्यक और पोषक तत्त्व को देहयन्त्र अपने आप बाहर कभी नहीं फेँकता। जबकि वीर्य-लाभार्थ ही अभ्याहार[1] है तो वह ऐसा करभी कैसे सकता है ? एकद्वार से ग्रहण कर दूसरे से विसर्जन करदेना भोजन का व्यर्थश्रम करना है। ईश्वर एक चतुर शिल्पकार है वह ऐसी टूटी-फूटी मशीन नहीं बनायेगा जिससे सार ही बेकार बह जाय।

शुक्रक्षय से देह में वे परमाणु बन ही नहीँ पाते जिनकी कि सद्गुण-प्रकाश और जीवन के चरम विकास में अनिवार्य आवश्यकता है। वीर्य ही से जीव का जन्म है; वीर्यपात ही से उसका अधः पतन और वीर्य धारण पर ही जीवन का उत्थान निर्भर है। "मरणं विन्दु पातेन जीवनं विन्दुधारणम्"।

१—अभ्याहार=भोजन।

यदि यह कहा जाय कि शरीर में सहज रेतस्थिति का नियम एक विशेषमात्रा तक ही सत्य है तो यह ठीक नहीं। वीर्य शरीर के लिये कभी अधिक और अनावश्यक नहीं होता। क्योंकि रेत:पात के पश्चात् चित्त में सदा ग्लानि ही होती है, खुशी नहीं। मुखारविन्द म्लान होता है, प्रफुल्ल कभी नहीं। धातुक्षय न कहकर हर्षक्षय कहना अधिक सङ्गत है "धातुक्षये हर्षक्षय:" इसके विपरीत वीर्य की अधिकाधिक रक्षासे चित्तमें अधिकाधिक हर्ष की बृद्धि होती है। और यह हर्ष सुमन सौरभ की भाँति अन्तर से ही फूटकर निकलता है, इसके लिये किसी वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं। वालवृन्द कितने प्रमुदित रहते हैं, औरों के मनमें भी प्रमोद भर देते हैं। हैं नङ्गे, पासमें कुछ नहीं। मनुष्य जैसे जैसे वड़ा होता है, सुख की सामग्री बढ़ाता है। वैसे ही वैसे उसका दु:ख भी क्रमश: बढ़ता जाता है। पूड़ी मिठाई और हाथी घोड़ों से मनुष्य इतना सुख नहीं पाता जितना बच्चे पत्ते की पूड़ी और धूलि की चीनी परोसने तथा मिट्टी के बने हाथी और घोड़ों के साथ खेलने में आनन्द लेते हैं। स्थिर वीर्य और निश्चिन्तता ही उनके आनन्द के श्रोत हैं।

देहमें वीर्य के बनने की मुख्य क्रिया अष्टम वर्ष से आरम्भ हो जाती है। इसी कारण अष्टम वर्ष में वालक के लिये ब्रह्म-चर्य व्रत लेने और उपनयन देने की विधि है। इस वयसे वाह्य प्रभाव बच्चों की चेतना में पड़ना आरम्भ होजाता है जिससे संस्कार बनते हैं। संस्कार से चित्तवृत्ति और चित्तवृत्ति से विकार होता है।

चित्त और वीर्य प्राय: एक ही हैं। चित्त के अन्तर्मुखीन रहने से वीर्य स्थिर होता है और उसके वहिर्मुख होनेसे वीर्य-पात होजाता है। चित्त, वीर्य और दृष्टि तीनों का घनिष्ठ

सम्बन्ध है। अन्तर्दृष्टि ही चित्त की अन्तर्मुखीनता है। चेतना और दृष्टि जितना ही अन्तर्मुखीन होती हैं उतना ही चक्षु के तारे ऊपरी पलक के भीतर ढुकते जाते हैं। ऊपरी पलक कुछ उभर आता है। ऊर्ध्वरेतस् की दशामें दृष्टि ऊर्ध्व, स्थिररेतस् में दृष्टि सामने स्थिर और अधोरेतस् में अधोदृष्टि हो जाती है। पूर्ण अन्तर्दृष्टि होने से शिवनेत्र हो जाते हैं। शिवनेत्र, शवनेत्र, शाम्भवी मुद्रा[1] केवल कहने में तीन शब्द हैं, अर्थ एकही है। तब अन्तर-वाहर का भेद मिट जाता है। पूर्ण, स्थिर अन्तर्दृष्टि वर्णनातीत एक अद्भुत अवस्था है। वहिर्दृष्टि और अन्तश्चेतना जब दोनों एक साथ केन्द्रीभूत होकर मिल जाती हैं तब अलौकिक दर्शन होते हैं।

वयस् के साथ वीर्य जितना ही अधिक बनता जाता है शरीर में उसके धारण की पात्रता उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। और उसे जितना ही क्षय किया जाय उतनी ही धारण की पात्रता कम होती जाती है। मातापिता के वीर्यधारण की पात्रता पर भी वालकों की धारणाशक्ति कुछ निर्भर है। सब शरीर के एक से नियम नहीं होते। पुरुषार्थ द्वारा पात्रता में कमीवेशी की जा सकती है।

बाहर उपस्थेन्द्रिय में मूत्र और वीर्य निर्गमन का एक ही द्वार है। परन्तु भीतर दोनों के कोश, मार्ग और नाड़ियाँ पृथक हैं। मूत्रद्वार तो सदा खुला रहता है, इसमें जीव की इच्छा और अनिच्छा का कोई प्रश्न नहीं। परन्तु वीर्यद्वार के सम्बन्ध में

१—शाम्भवी मुद्रा—अन्तर्लक्ष्यो वहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेष वर्जितः। एषा च शाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ लक्ष्य अन्तर हो। दृष्टि वहिः हो। पलक न चले। सर्वतन्त्रों में गुप्त यह शाम्भवी मुद्रा है।

कुछ रहस्य है। प्रकृति अपनी ओर से नाड़ी के इस मुखको तो स्वभावतः बन्द रखती है किन्तु जीव यदि विषयोँ का ध्यान करे तो वह खुल जाता है। अर्थात् स्थिररेता देह की सहज क्रिया है जबकि रेतकी अधोगति जीव की इच्छा और चेष्टा से होती है। भगवान् लोक रचना करना चाहते हैं इसलिये उन्होंने जीव की इच्छा पर यह छोड़ दिया है कि वह जब चाहे तब अधोरेता हो जाय और जब चाहे तब ऊर्ध्वरेता, जैसे जलकल की टोँटी चाहे जिधर घुमाये। रेत को स्थिर करने में जीवको अपनी ओर से कुछ नहीं करना पड़ता। वह तो स्वयँ होता है। क्षोभ में ही जीव का हाथ है। अहं ग्रन्थि ही इसका कारण है। दृष्टि आत्मा में स्थिर हो, पुरुष प्रकृति से भोग न मागे, विषयचिन्ता से इन्द्रियों को उत्तेजित न करे तो कदापि वीर्यस्खलित न हो। हम अपने आपसे प्रेम करें, अपने आपमे सुख खोजें, द्वैत की कल्पना मर जाय तो आत्मरति होने लगे। जबतक बाहर किसी के प्रति राग और उसके मिलन में सुखबुद्धि बनी है, काम के आक्रमण होते ही रहेंगे। यदि अधोमार्ग किसी प्रकार खुल जाय तो विषयरसको सर्वथा सुखाकर शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिये आरम्भ में कुछ क्लेश होता है। साधक देह और जगत् से अपना मन उठा ले। गुणदोष के जो भाव अन्तःकरण में उठते और इन्द्रियों से कर्म कराते हैं उनकी सर्वथा उपेक्षा करदे तो प्रकृति साम्य और स्वभावस्थ होजाय, उसका अभ्यास दोष मिट जाय। क्योंकि मूलप्रकृति में यह विकार नहीं है, यदि होता तो कोटि साधन से भी न मिटता।

यद्यपि वीर्य दूध में घी की भाँति रक्तमें सर्वत्र व्याप्त है तथापि जैसे पके दूध में मलाई ऊपर आजाती है, वीर्य परि-पक्व होने पर भी वैसा ही होता है। रेत ऊपर जाय या नीचे

इसके लिये पहिले रेत स्थिर और संचित होना चाहिये। अल्पजल में तरंग नहीं उठते। पर्याप्त मात्रा तक वीर्य स्थिर होने पर साधक ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। फिर आवेग होता है। किसी अयव्यक्त वस्तु को प्यार करने के लिये हृदय उमड़ उठता है। स्वाधिष्ठानस्थ कामवायु वेग से नीचे जाता है। यति तटस्थ होकर इन धक्कों को सहता जाय।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

गीता अ० ५—२३

शरीर छूटने के पहिले जो देहधारी काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहने में समर्थ है वही नर सुखी और योगी है। निम्नमार्ग अवरुद्ध पाकर यह आवेग ऊर्ध्वगामी हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं और तट से टकराकर पीछे लौट जाती हैं। वीर्य शोधित होकर जब ओज बनता है तभी उसकी ऊर्ध्वगति होती है। उपस्थ-मूल से मस्तक पर्यन्त एक नाड़ी है। चित्त में विकार उठने पर दधि मन्थनी की भाँति यह नाड़ी मन्दमन्द काँपती है। परन्तु जब ओज ऊर्ध्वगामी होता है तो इस नाड़ी में जोर से कम्पन होता है और सारे शरीर में रोमहर्षण हो जाता है। इन दोनों क्रियाओं का साधक लोग प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अधोरेतस् की दशामें यह क्रिया स्वाधिष्ठान केन्द्र से होती है और ऊर्ध्वरेतस् की दशामें आज्ञा और सहस्रार केन्द्रों से। ओज के ऊपर जाने से यति ब्रह्मवर्चस् होजाता है। ब्रह्मवादिनी बुद्धि बनती है। यही ऋतम्भरा प्रज्ञा है। वीर्यरक्षा पूर्वक गायत्री मंत्र के द्वारा मुमुक्षु ईश्वर से इस स्थितधी ऋतप्रज्ञा की ही प्रार्थना करता है।

आधुनिक भाषा में जिसे विद्या-बुद्धि कहते हैं वह एक व्यावहारिक ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। गीतोक्ति है :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

गी० २—६६।

जो योगी नहीं उसे न बुद्धि होती न भाव। न हेड है और न हार्ट। बुद्धि और हृदय दोनों से शून्य। जहाँ भाव नहीं वहाँ शान्ति नहीं, जहाँ शान्ति नहीं वहाँ भला सुख कहाँ से आये। ब्राह्मीनिष्ठा सेही तो प्रेमभाव होता है ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा... सद्भक्तिं लभते पराम्" गीता १८-५४। काम और भक्ति दोनों ही प्रेम हैं। उनमें दिग्भेद है। एक का सम्बन्ध जगत् से, दूसरे का परमात्मा से है। एक वीर्य के नीचे जाने से होता है, दूसरा वीर्य के ऊपर जाने से। एकमें क्षणिक सुख है और उसे कुत्सित तथा "परिणामे विषमिव" कहा है। दूसरा नित्यानन्दस्वरूप दिव्य प्रेम है। परिपक्व ब्रह्मचारी भगवान् की रागात्मिका भक्ति पाता है। चैतन्य महाप्रभु को राधाभाव मिला था। उनमें महाभाव के दिव्य लक्षण प्रकट हुए थे।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्ग पाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवं व्रतः स्वप्रिय नाम कीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

भा० स्क० ११—अ० २—३९—४०

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

भा० स्क० ११—अ० १४—२४

ऐसा भक्त चक्रपाणि भगवान् के लोकविख्यात मङ्गलमय दिव्य जन्मकर्मों का श्रवण और अर्थ चिन्तन सहित निःसंकोच नामगायन करता हुआ संसार में असङ्ग होकर विचरता है। भगवान् का जो नाम अपने को प्रिय लगता है उसका उच्चस्वर से कीर्तन करता है। अनुराग से विगलित चित्त में दिव्य स्फूर्तियाँ होती हैं। जिससे वह अलौकिक शब्द करता हुआ उन्मत्त की भाँति हँसता, रोता, गाता और नाचता है। प्रेम से द्रवित चित्त होकर बारम्बार कभी हँसता और कभी रोता है। निःसकोच होकर गद्गद वाणी से उद्गान और कभी नर्तन करता है। भगवान् का ऐसा भक्त त्रिभुवन को पवित्र कर देता है। मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति। मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति।

× × (ग) × ×

कामवृत्ति के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विचारधारा में बहुत बड़ा मतभेद है। मेडिकल डाक्टरों का कहना है कि जैसे स्वेद-प्रस्रावादि अपने आप शरीर से बाहर निकल जाते हैं वैसे ही वीर्यपात भी देह का स्वभावगत धर्म है, बलपूर्वक इसे रोकने की कोई आवश्यकता नहीं, इससे न कोई हानि हैं न इसमें कोई दोष। किसी अविवाहित को जब कोई कठिन व्याधि होजाती है तो ये लोग स्वास्थ्यलाभ के लिये उसे प्रायः विवाह की व्यवस्था देते हैं। कहते हैं कि नित्य नई नई युवतियों का संग करने से मनुष्य दीर्घायु होता है। भोग के द्वारा शोणित के

पुराने श्वेताणु निकल जाने से शरीर में नये श्वेताणु बनते हैं जिनसे शरीर और भी ताजा होजाता है। जीवन को सफल, स्वस्थ, सुन्दर और समुन्नत बनाने के लिये ब्रह्मचर्य की कोई आवश्यकता नहीं। इनके विचार से ऊर्ध्वरेतस् की चर्चा असम्भव ही नहीं अपितु पागलपन और एक सपना है। आधुनिक समाज इन्हीं भावों से आपन्न है। अब भला सोचिये जबकि मैथुन खानपान की तरह जीवन का उपयोगी अङ्ग है, रेतः पात मलमूत्रत्यागवत् है तो दुराचार, व्यभिचार और स्वच्छन्द मिलन रुके तो कैसे रुके। इसमें तो लोगों की गुणबुद्धि होगई है। त्याग तो उसका होता है जिसमें अपनी दोषबुद्धि होती है। भारतीय संस्कृति एवं चिन्ताधारा इनबातों से इतनी ही दूर और भिन्न है जितने उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। यहाँ ब्रह्मविद्या जीवन का उद्देश्य है और ब्रह्मचर्य उसका साधन। यही सबसे अमूल्य वस्तु है। इसीमें जीवन सार्थक है। कौपीनवन्तः भिक्षुक महात्मा ही भारतवर्ष की सबसे बड़ी निधि हैं। इतिहास में इस देश का सन्ततन्तु कभी भङ्ग नहीं हुआ। ब्रह्मचर्य व्रत से ही महात्मा के जीवन का श्रीगणेश होता है। उन्होंने घोर तपस्या करके जीवन के तत्त्वों का साक्षात्कार किया और अपने अनुभूत सत्य को जनता के सामने रक्खा है। तत्त्व-दर्शिनी धी की खोज में कोई भ्रान्ति और रद्दोबदल नहीं हो सकता। स्थिर धी के स्थिर सिद्धान्त होते हैं। मशीन के पुर्जों के विषयमें पाश्चात्य बुद्धि को प्रमाण मानना तो समझ में आसकता है किन्तु जीवनतत्त्व के सम्बन्ध में उनके मत को इदमित्थं मानकर तथा उनकी खोज के आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर करना समीचीन[1] नहीं जंचता। कल की कोई नई खोज

१—समीचीन=यथार्थ, ठीक।

उनके आज के सिद्धान्त में पानी फेर सकती है। अतः इस विषय में उनका मत अन्तिम प्रमाण नहीं।

प्राच्य मतमें काम को हृद्रोग कहा है और उसकी चिकित्सा बताई गई है। "कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः" गीता १६—११। बस, कामभोग ही परम श्रेष्ठ है यह तो आसुरी निश्चय है। इस निश्चय को तमोद्वार कहा है। जो इस आसुरी बुद्धि के उपासक हैं वे इस विद्या के द्वारा अविद्या की अपेक्षा भी और अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं "ततो भूय इवते तमो यउ विद्यायाँरताः" ईश उ० मं० ६। अतएव इस दुर्जय कामशत्रु को मार डालना चाहिये। "जहि शत्रुं महाबाहोकामरूपं दुरासदम्" गी० ३-४३। थोड़ा गहराई से विचार करने पर पाश्चात्य मेडिकल विद्वानों की त्रुटि पकड़ में आसकती है। मलमूत्र और स्वेद की भाँति वीर्य के स्वतः निर्गमन का सिद्धान्त स्वीकार नहीँ किया जा सकता। मलमूत्र और स्वेद का क्षरण तो भूमिष्ठ होते ही जन्म के साथ आरम्भ होजाता है। देहयन्त्र के प्रायः सभी स्वाभाविक धर्म शैशव से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। वीर्य की अधोगति जन्मगत नहीं। पितृवीर्य-दोषवश यदि कोई ऐसा हो भी तो यह उसका रोग ही है, धर्म नहीँ। चिकित्सा व्याधि की होती है, स्वभाव की नहीँ। मलमूत्र अन्नजल का असार तत्त्व है। शरीर के लिये उसकी आवश्यकता नहीँ अतः प्रकृति उसे विसर्जन कर देती है। वीर्य के विपयमें यह बात नहीँ कही जा सकती, वह अन्न का असारतत्त्व नहीँ है। मलमूत्र अवरुद्ध होजाने से मन्दाग्नि और देहमें पीड़ा होती है क्योँकि उसका शरीर में रहना विषाक्त और निकल जाना श्रेयस्कर है? जैसे मलमूत्र का उदर में अवरोधन दोष है वैसे ही वीर्य का स्खलन

दोष है ? चाहे जाग्रत् में हो या स्वप्न में वीर्यपात तभी होता है जब नरनारी राग पूर्वक एक दूसरे से मिलने की चिन्ता करते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं कि जो चिन्तासाध्य है वह स्वभाव सिद्ध नियम कथमपि नहीं हो सकता ? मलमूत्र और और स्वेद के वहिर्गमन के लिये क्या किसी को कोई चिन्ता करनी पड़ती है ? सैकड़ों स्वप्न देखिये कुछ नहीं होता। जाग्रत में पचासों बातें सोचिये, कोई बात नहीं। इन्द्रियों में उद्दीपना तो मानसिक विषय-चिन्ता का एक परिणाम है। उत्तेजना उपस्थ का कोई स्वभावसिद्ध धर्म नहीं। यदि विना विषय चिन्ता के कभी उत्तेजना हो भी गई, जैसा कि शैशव में भी कभी कभी होता देखा जाता है, तो उससे शुक्र में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। टट्टी पेशाब बन्द हो जाय तो आदमी मर जाय। वीर्य-पात वन्द होजाय तो कोई मर नहीं जाता वल्कि अमर हो जाता है। खुलकर टट्टी होजाने से चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु वीर्य-पात के बाद किसी को खुशी मनाते नहीं देखा जाता। मध्य-कालीन खुशी तो एक भ्रमात्मक प्रतीति है। जैसे कण्डुरोग[1] का विघर्षण। उसे खुजलाने से अन्तमें क्षत ही हाथ लगता है। जिह्वा को भलेही मधुर लगे परन्तु विषमिश्रित मारक मोदक कोई सयाना नहीं खाता। आपात मनोरम ग्राम्य सुखों में तो मूर्ख ही रमते हैं, बुधजन नहीं। मान लीजिये किसी का प्रस्राव रुक गया। उससे रोगी को भीषण कष्ट होता है। दवादारू से पेशाब होगया तो आराम होजाता है ? अब कोई डाक्टर बताये कि यदि वीर्यपात देह का सिद्धधर्म है तो उसके रुकने से कष्ट और गिरनेके बाद अराम क्यों नहीं होता ? मानो हमने कुछ खो दिया, आँखें धस गईं, दिमाग खाली होगया—ऐसी प्रतीति

१—कण्डु=खुजली।

क्यों होती है ? इससे यही तो सिद्ध होता है कि शरीर से कोई ऐसी वस्तु निकल गई, जिसका शरीर में रहना जरूरी है। स्वभाव के विपरीत किसी चेष्टा या साधना में चिरस्थायी सफ़लता नहीं मिलती। प्राकृतिक नियम के बिपरीत चेष्टा भी क्यों की जाय ? ऐसी चेष्टा की शिक्षा भी कोई क्यों दे ? किसी ऋषि या सन्त महात्मा ने यह तो नहीं कहा कि अमुक साधना से स्वेद, प्रस्राव और चक्षुकीच बन्द करदो, मुक्ति मिल जायेगी। यदि किसी भगीरथ प्रयत्न के फल स्वरूप कोई स्थिरवीर्य हो भी तो प्रकृति का अनियम होने के कारण उससे लाभ के बदले हानि ही अधिक होती। क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुकूल आचरण ही स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद होता है। यदि कोई पण्डितमानी ऐसा कुतर्क करे कि अच्छा यदि आपकी ही बात सच है, वीर्य को शरीर में रखना ही देहयन्त्र का स्वभाव है तो फिर वीर्यपात होता ही क्यों है ? इसका उत्तर एक प्रतिप्रश्न से दिया जा सकता है। गुह्यद्वार से शकृत[१] निकलना स्वभाव है। मलद्वार से रक्तस्राव तो स्वभाव नहीं है। फिर अर्शव्याधि निपीड़ित व्यक्ति के मलद्वार से रक्तस्राव क्यों होता है ? और दवा रक्तबन्द करने के लिये दीजाती है कि रक्तस्राव चालू रहे इसलिये ? मुख्यबात यह है कि यदि वीर्यपात देह का स्वभावगतधर्म मान लिया जाय तब तो फिर किसी भी उपाय से उसके निरोधका, चाहे वह सम्भव भी हो, प्रश्न ही नहीं उठता। स्वभाव की निवृत्ति न तो होती, न उसे निवृत्त करने में मनुष्य की प्रवृत्ति ही होती और न उससे कोई लाभ ही हो सकता। निष्कर्ष यह निकला कि काम देह का विकार है, प्रकार नहीं; प्रकृति का अभ्यास है, स्वभाव नहीं। पाश्चात्य विचार धारा

१—शकृत=बिष्ठा।

की यह बौद्धिक त्रुटि है। इसकी नकल अन्धे का अनुसरण है। एकेन अन्धेन नीयमानस्य अपरान्धस्य इव तेषां निश्चिता गतिर्भविष्यति। भारतीय दर्शन ने इसे मनोव्याधि माना है और ऊर्ध्वमन्थी ऋषियों ने इसके निरोध का सफल प्रयत्न किया है। मनोव्याधि इसलिये कि मानसिक इच्छा-अनिच्छा पर ही वीर्य की गति-स्थिति निर्भर है, जबकि प्रस्राव-धारण और विसर्जन मनकी इच्छा अनिच्छा पर निर्भर नहीं। इस विषयमें इन्द्रिय वेचारी का कोई दोष नहीं, वह तो मनकी किंकरी है। नींद में स्थूल इन्द्रिय तो मुर्दा सी निश्चेष्ट, निष्क्रिय और शिथिल रहती है। तिसपर भी मन यदि विषयभोग का स्वप्न देखता है तो वीर्यपात हो जाता है। मन और वीर्य का इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही बात जाग्रत् के विषयमें भी कही जा सकती है। मनमें मैथुन का ध्यान आया नहीं कि वीर्य क्षुब्ध हुआ। इसलिये वीर्य निरोध माने मननिरोध। शिश्नाको तो उत्तेजना से पीड़ा और व्यथा होती है, कष्ट का काम कोई क्यों करे? मनविना इन्द्रियमें स्पर्शादि सुख का कोई अनुभव भी नहीं हो सकता। अतः वीर्यपात में एकमात्रमनही हेतु है, उपस्थ लेश भी नहीं। मान लो दो युवक युवती घोर निद्रा में सम्पूर्ण नग्न एक विस्तर में सोये हों उनका हस्त, पाद वक्त्र, वक्ष, गुह्याँग सर्वाङ्ग एक दूसरे से आलिङ्गित हो, इतने पर भी उनका वीर्यपात नहीं होगा, क्योंकि उनका मन सोया है। जबकि जाग्रत् में छूना तो बड़ी दूर की बात है दूरसे भी एक दूसरे को विवस्त्र देखलें तो शत सावधान रहने पर भी मन विकृत होने का भय लगा रहता है। अपर पक्ष। पुरुष एक ऐसे निर्जन एकान्त स्थानमें निद्रित हो जहाँ सहस्र योजन पर्यन्त किसी रमणी की गन्ध न जाय और स्त्री भी ऐसे ही

एकान्त में सुप्ता हो जहाँ सहस्र योजन पर्यन्त पुल्लिङ्ग पशुपक्षी तक की गन्ध न जाय परन्तु इतने बाह्य त्याग पर भी यदि स्त्री के स्वप्न में रमण और पुरुष के स्वप्नमें रमणी प्रकट हो जाय तो उन दोनों का वीर्यपात हो जायेगा। मन चंचल हो तो स्वप्न के कल्पित झूठे चित्रसे भी पतन हो जाता है और यदि मनस्थिर हो तो संसार में स्वच्छन्द, निर्भय विचरिये तो भी कोई हानि नहीं होती। ऐन्द्रियक ग्रहण-त्याग और निरोध का कोई अधिक महत्त्व नहीं। इसमें मन ही प्रधान कारण है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये इससे अच्छा दृष्टान्त स्यात् ही कोई हो। इस दृष्टान्त से उन लोगों के भ्रम का भी निराकरण हो जाता है जो ब्रह्मचर्य के नाम पर साधकों के प्रति बहुत कड़ा बाह्य प्रति-बन्ध लगाते और आन्तरिक परिवर्तन पर जोर न देकर बाहिरी कायदे कानूनों पर अधिक जोर देते हैं।

यदि बाह्य प्रतिवन्धों को अपनी चेतना का समर्थन प्राप्त हो तो आत्म नियन्त्रण के पथ में अवश्य उनसे सहायता मिलती है। दूसरों द्वारा लादे हुए कानूनों से किसी का आत्म विकास नहीं हो सकता।

कोई जन्म से अधोरेता नहीं होता। एक सीमातक वीर्य रक्षा अपने आप होती है, इसमें किसी को कोई यत्न नहीं करना पड़ता। यह सीमा सब शरीरों की समान नहीं। जिनके वीर्य से यह शरीर बना है उन मातापिता का भी कामजित होना जरूरी है। देश, काल, पात्र, आहार और शिक्षादीक्षा का भी प्रभाव पड़ता है। एक सूक्ष्म नाड़ी ही होती है जो वीर्य का निम्नद्वार बन्द कर रखती है। विवाह, कुसङ्ग या विषय-चिन्तन किसी भी कारण जाग्रत् या स्वप्न में प्रकृति का वह जन्मगत बन्धन आरूढ़यौवन में यदि एकवार किसी प्रकार छिन्न होगया

तो ब्रह्मचर्य की स्वाभाविकता नष्ट होकर वीर्यधारणा साधन-सापेक्ष हो जाती है। इसी कारण कम से कम २५ वर्ष तक अष्ट मैथुनों से सर्वथा बचकर रहने के लिये इतने कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं ताकि क्षुब्ध वीर्य होने का कभी अवसर ही न आये। जितनी मात्रा के बाद जिसका प्रथम स्खलन हुआ है उस मात्रा से अधिक वीर्य देह में बनते ही आक्रमण होने लगते हैं। सतत सचेत होकर जिस समय आक्रमण हो उस क्षणको न चूके और मूलबन्ध लगाकर केवल आत्मचिन्तन करता हुआ बैठ जाय। अपने आपमें दृष्टि स्थिर करे, अन्य कुछ भी न सोचे। ऐसा करने से कामवायु का प्रत्येक आवेग मूलबन्ध से टकराकर अपने आप खटसे ऊर्ध्वगामी हो जायेगा। कोई बलप्रयोग न कर यह क्रिया सहज रीतिसे करनी चाहिये। बल प्रयोग करने से कामवायु अधिक कुपित होजाता है। कुछ दिन के निरन्तर अभ्यास के बाद प्रकृति इस निरोधको अपना स्वभाव बना लेती है। तब साधक को अपनी ओर से कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। आक्रमण सदा के लिये समाप्त हो जाता है। धारणाशक्ति बढ़ती जाती है। ऊर्ध्वमैथुन होने लगता है। अर्थात् आक्रमण में जो आवेग अधोमुखी होता था वह ऊर्ध्व-मुखी होने लगता है। उस समय मूलद्वार बन्द होकर जिस नाड़ी का वीर्य से सम्बन्ध है वह शिरतक काँप उठती है। यह वायु की एक ऊर्ध्वक्रिया है। कामावेग भी वायुकी एक अधः क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह ऊर्ध्वलीला अपने आप चलती रहती है। अपना मस्तक भरा हुआ मालुम पड़ता है। कुछ दिन बाद यह कम्पन भी बन्द होजाता है।

जैसे धमनियों में रक्तप्रवाह होता रहता है, अपने को कुछ पता नहीं चलता उसी प्रकार अक्षुब्ध, स्वस्थवीर्य भी अन्तर्चालित

होता रहता है। सारे साधन ओषधि सेवन हैं। रोग गया कि ओषधि भी छूटी। मलके ही साथ साबुन भी धुल गया। अविद्या के साथ विद्या भी भूल गई। साधक बालभावको प्राप्त होजाता है। निर्भय विचरता है। संसार में मनुष्य सर्व प्रथम वालक बनकर ही आया था। बालगोपाल होकर रहना ही यहाँ निरापद है। यह जीवन का आदिभाव है। सद्यजात शिशु ने जब आँख खोला तो पहिले पहिल स्त्रीजाति को माता के रूप में ही सामने खड़ी पाया। नारी प्रथम माता बनकर ही बच्चे के सामने आई। धन्य माता। बन्दे मातरम्।

× × (घ) × ×

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥

भा० ए० स्क० १७—२५

ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला अपनी इच्छा और चेष्टा से स्वयं कभी भूलकर भी रेतः पात न करे। अनिच्छा से यदि कभी स्वप्नादिमें पात होजाय तो जलाशय में शिर डुबाकर स्नान करे और प्राण-संयम पूर्वक त्रिपदी गायत्री का ज़प करे।

यह प्रयोगसिद्ध सत्य है कि प्राणायाम पूर्वक मूर्धा से यदि मानस जप किया जाय तो वीर्य धारण करने वाला वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है। परन्तु जप के समय मन्त्राक्षरों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वर्ण, शब्द या वाक्य मनमें न उठने पाये। अन्य ध्यान तो आना हीं नहीं चाहिये, आत्मध्यान हो या केवल इष्टध्यान। प्राण-संयम के विना भी मूर्धा से ध्वनिशून्य जप किया

जा सकता है। जपकी बड़ी महिमा है। गीता में भगवान् ने जपको आत्मस्वरूप कहा है, "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"। चित्तमें विकार उठने पर उपस्थमूल मे वायु की अधोगामिनी क्रिया होने लगती है और मन भी वहाँ अपने आप पहुंच जाता है क्योंकि रेत, वात और मन तीनों साथ ही क्षुब्ध होते हैं और साथ ही सुस्थिर। साधक उसी स्थान की भावना कर मानसिक जपकी सूक्ष्म ध्वनि वहाँ से उठाये और उसे शिरमे ऊपर शिखातक लेजाय। ऐसा बारम्बार करने से रेतके सहित वायु ऊर्ध्वगामी होजाता है और स्वाधिष्ठान मे न होकर वायु की वह क्रिया फिर आज्ञाचक्र मे होने लगती है। अथवा हाथकी नाड़ीकी गति से मन्त्र के एक-एक शब्द को मिलाकर मूर्धा से मानस जप करे; नाड़ी के ताल मे दक्षिण पैर के अंगूठे के साथ दक्षिण हाथ का अंगूठा भी तर्जनी या मध्यमा का शिरा बारम्बार स्पर्श करता हुआ हिलता रहे। यदि आलस्य और तन्द्रा सताये तो इन्हीं के साथ नाड़ी की गति में नेत्रके दोनों ऊर्ध्वपलक खोले और बन्द करे, इससे नींद नहीं आती। चलते-फिरते मन चंचल हो तो नाक के दोनों छिद्रों को झट से धर दबाये, विकार शान्त होजायेगा। अधिक अभ्यास से यह क्रिया वीर्यपातकी सम्भावना उपस्थित होने पर स्वप्नावस्था मे भी होने लगती है और वीर्य रुक जाता है।

स्वप्नदोष से साधना चौपट होजाती है। व्रती के लिये यह एक बड़ी विकट बाधा है। एक भयंकर रोग है। जो सपत्नीक जीवनयापन करते हैं यद्यपि उनको भी यदाकदा स्वप्नदोष होजाता है परन्तु भोगविरत यति, व्रती और मुनियों में तो आज १०० मे ९९ जन प्रकृति के इस प्रकोप से पीड़ित देखे जाते हैं। सच्ची बात यह है कि जाग्रत् की कोई भी साधना या सावधानी, उससे आंशिक लाभ भले ही हो, स्वप्नावस्था मे न तो पूर्णतया काम

आती और न इस दोष को मूल से मिटा सकती। सच्चे साधक और अनुभवी माहात्मा यह कहते सुने जाते हैं कि अभीतक इसे रोकने का कोई भी सुगम उपाय नहीं निकल सका है, इसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये अन्यथा इस ओर अधिक ध्यान देने से जाग्रत मे भी इसकी एक भयंकर प्रतिक्रिया होने लगती है। फलतः ऐन्द्रियक उद्वेग के साथ कभी किसी-किसी साधक की बुद्धि भी उससे विक्षिप्त होजाती है। इसके अलावा जाग्रत् मे हो या स्वप्न मे स्थानभ्रष्ट वीर्य को बलपूर्वक कभी न रोके, वैसा करने से मस्तिष्क विकृत होजाने की अधिक सम्भावना रहती है। जबतक शुक्र स्थानच्युत न हो साधक वहीं तक अपना पुरुषार्थ सीमित रक्खे। स्वप्नदोष कोई अनिवार्य नहीं है। बहुत सी ऐसी पवित्रात्मायें हैं कि जानती ही नहीं स्वप्नदोष क्या चीज है। परन्तु दुर्भाग्यवश यदि किसी को यह रोग एकबार पकड़ लिया तो जाग्रत् के पवित्रतम जीवन से भी प्रकृति से यह दोष नहीं जाता। इससे हानि और मनोग्लानि होती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उपेक्षा-भाव तो मन को बहलाने के लिये हारे का हरिनाम है। इस दोष की जड़ स्वाप्नचेतना मे है जो कि घोर तमस् से ढकी है। इसकी जड़ता भङ्ग करने के लिये अपने आपको अपने विरुद्ध युद्ध घोषणा कर देनी पड़ेगी। स्वप्नावस्था को जीवन से पोंछना होगा। इसके बिना अन्य कोई उपाय नहीं। मुखमे लवंग या हरीतकी रखकर सोने से भी कुछ उपकार अवश्य होता है। परन्तु असली चीज मन है। जैसे कारबन पेपर लगाकर लिखने से नीचे के दूसरे पत्र में लिपि स्फुटित होजाती है उसी प्रकार जाग्रदवस्था की अभीक्ष्ण[1] विषय-चिन्ता से स्वाप्नचेतना मे उसका एक अमिट संस्कार पड़ जाता

१—अभीक्ष्ण=बारम्बार।

है। प्राक्तन[1] और क्रियमाण संस्कारों ने अपनी जड़ जमा लिया है। इसे उत्पाटित[2] कर स्वाप्नचेतना का उद्धार करना पड़ेगा। स्वप्न जाग्रत् और निद्रा के मध्य की अवस्था है। जैसे जाग्रत् मे काम से खाली होते ही मन कल्पना का राज्य बसाने लगता है वैसे ही प्रयोजनीय निद्रा के बाद जगने के पूर्व मन स्वप्न देखने लगता है। वेदान्तियों ने दृश्य जगत् को रज्जु मे अहि-कल्पना कहा है। इहलोक की तो फिर भी एक सत्ता है। परन्तु स्वाप्नचित्र तो सर्वथा अलीक[3] है। जागृति विकास के लिये आवश्यक है, सुषुप्ति विश्राम के लिये। स्वप्नावस्था निरर्थक है और अनर्थक भी है। जबतक यह बनी है इसके गुण-दोष भी सदा बने रहेंगे। कौन स्वप्न देखें और कौन न देखें यह अपने वश की बात नहीं। मनुष्य बेसुध रहता है। अतः इसे मिटाये बिना कोई चारा नहीं। परन्तु यह मिटे कैसे ? जाग्रत् मे निर्विकल्प होना पड़ेगा। अन्तर्लक्ष्य हो और वहिर्दृष्टि पलकशून्य होजाय तो मनुष्य गुडाकेश[4] हो सकता है।

"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेष वर्जितः।
एषा च शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता" ॥

यह तन्त्रगुह्य शाम्भवी मुद्रा है। साधक शयन छोड़कर कुछकाल बैठकर निद्रा का अभ्यास करे और मेरुदण्ड सीधा रक्खे। इस प्रकार धीरे-धीरे निद्रा को जीते। निद्रा-जित हुए बिना स्वप्नजित होना सम्भव नहीं। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने छयमास निद्रा नहीं किया था। नेत्र पलक-शून्य होगये थे। विजयकृष्ण गोस्वामी भी छय मास नहीं सोये थे। उनका कहना था कि बीच-बीच मे

१—प्राक्तन=पहिले, पूर्वजन्मके। २—उत्पाटन=उखाड़ फेंकना।
३—अलीक=असत्य। ४—गुडाकेश=निद्रा-जित।

रोक-रोक कर मूत्रत्याग करने से साधक ऊर्ध्वरेता होजाता है। निर्विकल्प मन और अन्तर्मुखीन स्थिरदृष्टि होजाने से योग-निद्रा होने लगती है। तब निद्रा की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रकृति किस मार्ग से मन को निद्रावस्था में ले जाती है, इसे भलीभाँति समझना पड़ेगा। यदि प्रकृति का यह रहस्य जीव के हाथ लगजाय तो वह जब भी शारीरिक विश्राम की आवश्कता अनुभव करे, अपने आपको समेटकर मन को बिलकुल पीछे खींच ले। कहा जाता है कि अरविन्दाश्रम की फ्रेंच माताजी योगनिद्रा की इस कला मे पारंगत हैं।

यदि आध्यात्मिक दैवी शक्तियाँ मदद करें, हृषीकेश की कृपा हो, क्षेत्रज्ञ सतर्क रहे तो कभी थोड़ा सो लेने पर भी निद्राभङ्ग के बाद जीव स्वप्नावस्था मे न जाकर सीधे जाग्रदवस्था में आसकता है। जो लोग निद्रा के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करने मे असमर्थ हों उन्हें अल्पनिद्रा के द्वारा स्वप्नावस्था को बचा जाना चाहिये। ३ घण्टे की निद्रा साधक के लिये पर्याप्त है। ऋषि लोग पहिले बहुत दिनों के बाद कभी सोते थे इसीलिये निद्राभङ्ग करने वाला उनके शाप का भाजन होता था। आज भी ऐसा जनप्रवाद है कि सोते ब्राह्मण को नहीं जगाना चाहिये। योगनिद्रा भी सिद्ध न हो और अल्पनिद्रा से भी कभी स्वप्नदोष होही जाय तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। श्री रामकृष्णदेव अपने शिष्यों से कहते थे "जाग्रते ठीक थाकबे, स्वप्ने क्षति होय हउक, जा थाके तातेइ काज होबे" इस बारे मे महात्मा गांधी भी ऐसा ही कहते थे। स्वप्नदोष से परेशान होकर जाग्रत्‌मे उस इच्छा को पूर्ण करने की बात कभी भूलकर भी न सोचना चाहिये। चेष्टा के द्वारा शुक्रपात करने से कुसंस्कार बनता है। प्रकृति का यह दोष जाग्रत् मे किये हुए पूर्व कुकर्मों के संस्कार

का ही फल है। स्वप्नदोष अनिच्छा-कृत है, उससे पड़े हुए संस्कार क्षय होते हैं, नवीन नहीं बनते। रजोगुण-समुद्भूत काम का मूल तमस् मे छिपा है। अतः प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अज्ञान और अन्धकार की जड़ खोदे विना यह दोष प्रकृति से निर्मूल नहीं जा सकता।

× × (ङ) × ×

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः" गीता३७-३।

भगवान् कहते हैं यह काम, यह क्रोध रजोगुण से उत्पन्न है।

"रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्ग समुद्भवम्" गीता १४-७।

राग ही रज का रूप है। राग की उत्पति तृष्णा से है। किसी वस्तु को पाने की प्रवल इच्छा और जबतक न मिले उसकी अनवरत चिन्ता या ध्यान ही तृष्णासक्ति है। राग, रज या तृष्णा जो भी कहिए वह सुख के प्रति होती है; दुःख की इच्छा कोई नहीं करता, किन्तु सुखेच्छा का परिणाम ही दुःख होता है। सुख या आनन्द उपस्थ का विषय है " आनन्दः इत्युपस्थे " तैत्ति० उ० भृ०। उत्कट सुख की इच्छा से उपस्थ में उत्तेजना होजाती है। मन मे सुख का रङ्ग चढ़ते ही मतिभ्रान्त होकर संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं। भोग का ध्यान आया नहीं कि इन्द्रिय चंचल हुई। फिर आदमी पागल होजाता है।

'विषयेन्द्रिय संयोगात् मनः क्षुभ्यतिनान्यथा'

भा० ११-२६-२२।

भगवान् उद्धव से कहते हैं कि विषय और इन्द्रिय के संयोग से ही मन क्षुब्ध होता है, अन्यथा नहीं। इन्द्रिय और विषय सदा

मिले रहते हैं। 'यन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' इन्द्रियों का विषयों में रागद्वेष सदा ही बना है। वे बड़ी प्रमथनशालिनी हैं। ब्रह्मा ने उन्हें बहिर्मुखकर हिंसित कर दिया है। अपने ही साथ वे मन को भी घसीटकर लेजाती हैं। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'। भवसागर विषय-विष से डबाडब भरा है, इन्द्रियाँ उसमें तैरकर डुबकी लगा रही हैं। पावक मे पतंग की भाँति कूद रही हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में मुख्य प्रश्न अब यह उठता है कि इन्द्रिय और विषय के संयोग को रोंककर मन के क्षुब्ध होनेसे कैसे बचाया जाय? संसार रूप है। आँखें खुली हैं। आँख और रूप का संयोग कैसे रोका जाय? आँख फोड़कर सूरदास भी बन जाँय तो मन की आँख कैसे फोड़ें, उसमे सिनेमा की तरह अनन्तरूपराशि भास रही है। आँख तो फिर भी खोली और बन्द की जा सकती है। किन्तु कान को क्या किया जाय? कर्ण को तो ईश्वर ने खुला ही छोड़ दिया है, उसमे ढक्कन नहीं। आकाश शब्द से ओतप्रोत है। अब कर्णमाला और वर्णमाला का संयोग न हो यह कैसे सम्भव है? जाग्रत और स्वप्नमे इन्द्रियाँ विषयों के अजस्र[1] प्रवाहमें बह रही हैं। इसमें किसीका हठ क्या करेगा? 'निग्रहः किं करिष्यति'। विषयेन्द्रिय-संयोग को बलसे नहीं, युक्ति से रोंकना होगा। युक्ति ही यौगिक कला है। हैंडिल रोंकने से गाड़ी रुकती है, पहिया पकड़ने से नहीं। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि इन्द्रिय और विषय का संयोग तभी होता है जब मन से तत्तत् इन्द्रिय के अर्थ का ध्यान किया जाय। कोई कान में ही मुख लगाकर बात क्यों न कर रहा हो, ध्यान दूसरी ओर बँट जाने से बात सुनाई नहीं पड़ती। यद्यपि शब्द यथावत्

१—अजस्र=निरन्तर, अटूट

कर्ण-कुहरों[1] मे प्रवेश कर रहा है परन्तु लक्ष्य दूसरी ओर चले जाने से पता ही नहीं चलता कि कौन क्या कह गया। इससे स्फटिकवत् स्पष्ट है कि यह लक्ष्य या ध्यान शब्द और कान से भिन्न कोई तीसरी ही वस्तु है। बस, उसीको पकड़ना चाहिए। चित्त मे कोई और चीज चढ़ी हो तो आँख खुली रहने पर भी सामने रक्खी चीज दिखाई नहीं पड़ती। एक नग्नानारी त्वचा × × से चिपक जाय तो सोते आदमी को इसका पता भी न चले। उसकी रसना मे मधु ढ़ाल दीजाय तो उसे कोई ज्ञान न हो। यही बात सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। निष्कर्ष यह निकला कि इन्द्रिय और इन्द्रियों का अर्थ यह नामरूप संसार साथ रहे या अलग इससे अपना कोई प्रयोजन नहीं, न इससे अपना कुछ बनता-विगड़ता है। स्थूल इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करने वाली वस्तु इन्द्रिय और इन्द्रियार्थों से भिन्न कोई अन्य ही है। उसे लक्ष्य या दृष्टि कहते हैं और उसका चालक है चित्पुरुष। इस दृष्टि को दृढ़ता से पकड़कर आत्मरूपमें स्थिर रक्खा जाय तो इन्द्रिय और विषय पानी और पद्मपत्र के समान सह-वास करते हुए भी अलिप्त बने रहें, प्रकृति मे कोई विकार या क्षोभ न हो। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। इन्द्रियों के मार्ग से संसार-रूपी पहाड़ी नदीका वर्षाती पानी निरन्तर बहरहा है। मन-केवट तटमे खड़ा देखता है। किसी मनपसन्द फूल-पत्ते या काठ को वाढ़ में वहता देखकर उसे पकड़ने के लिए वह झपांग से कूद पड़ता है, परन्तु काली कमरिया अन्त में उसीको पकड़ लेती है और छोड़ती ही नहीं, बस यही आफत है। मन तटस्थ रहे, भला-बुरा जो कुछ आये उसे बह जाने दे तो कोई हानि या बन्धन न हो। × ×

१ - कुहर=छिद्र

न आँख-कान फोड़ने की कोई जरूरत है, न लिङ्गच्छेदनकी, न संसार से डरकर भागने की। लक्ष्य आत्मस्थ करके इन्द्रियों को स्वतन्त्र छोड़ दे और बालवत् स्वच्छन्द संसार मे विचरे तो यति दूसरों की दृष्टिमें सबकुछ देखते हुए भी स्वयं कुछ न देखेगा, सबकुछ सुनते हुए भी कुछ न सुनेगा। निश्चय यही निर्भय और निरापदमार्ग है। साधक-साधिकाओं के लिये देखने-सुनने मे जो आरम्भिक कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे यद्यपि निरर्थक नहीं हैं परन्तु उनके प्रयोजन की एक सीमा है। भवन की छत तैयार करने के लिये पहिले लकड़ी का ढाँचा बनाना पड़ता है। छत तैयार होगई तो सब खोलकर फेंक दिया जाता है। संसाररूपी पानी मे मनरूपी दूध मिल जाय तो पानी भी बिगड़ जाय और दूध भी। दूध को दधि मे परिणत करने के लिये पहिले उसे अलग एकान्त मे यत्न से रखना चाहिये। दधि से मक्खन निकालकर उसे पानीमे फेंकदो, तैरता रहेगा। निरपेक्ष[1] मनमे विषयों का लेप नहीं चढ़ता। किसी वस्तु को देख-सुनकर मनमे जो अनुकूल या प्रतिकूल भाव उठता है वही रागद्वेष है। चित्त मे उसकी कोई प्रतिक्रिया न पड़े यही वैराग्य या निरपेक्षता है। कामना न हो तो मनमें रंग न चढ़े। संसार से हटकर अपने आपमें दृष्टि स्थिर होनेसे आत्मज्ञान होना चाहिये परन्तु प्राय: ऐसा नहीं होता। लोक और परमात्मा के बीचमें अहंतत्त्व बैठा है, वह आगे बढ़ने से रोक देता है। अहंकार साक्षात् शङ्कर का प्रतीक है और बहुत बलवान् है। उससे अपने ही प्रति राग, ममता और आसक्ति होजाती है। सहस्र में ९९९ सदाचारी ब्रह्मचारियों को अहंकार पीछे ढकेल देता है और उन बेचारों को इसका पता भी नहीं

१—निरपेक्ष=आशा-तृष्णाविहीन।

चलता। अपने प्रति उत्कृष्ट और दूसरों के प्रति निकृष्ट बुद्धि पतन का खुला द्वार है। मदमें लोग ऐसा समझने लगते हैं कि सारी दुनिया हमारे ही पैरों में पत्र-पुष्प चढ़ाने के लिये पैदा हुई है। साधक इससे अत्यन्त सतर्क रहे और पतित से पतित प्राणी का मनसावाचाकर्मणा कभी भूलकर भी तिरस्कार न करे। 'विष्णोर्मायामिदं पश्यन्' यह सब भगवान् विष्णु की ही माया है ऐसा समझकर भद्राभद्र बुद्धि से किसीके स्वभाव और कर्म की प्रशंसा और गर्हणा मे प्रवृत्त न हो। स्वयं न किसी से उद्विग्न हो, न किसी को उद्विग्न करे। सबपर अकारण करुण रहे। विश्वरूप, आत्मरूप और परमात्मरूप तीनों को अभिन्न जाने।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥

भा० ११-२८-२।

परस्वभाव और कर्म की निन्दा-स्तुति करनेवाला असत्यमें राग होने के कारण कल्याण-पथसे शीघ्र भ्रष्ट होजाता है।

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत्॥

भा० ११-१३-८।

प्रायः सभी जानते हैं कि विषय दुःखद है। फिरभी खर, छाग और श्वान के समान मनुष्य इसका भोग क्यों करता है? वास्तव मे जीवन की यह एक जटिल पहेली है। इस प्रश्न के उत्तर मे कृष्णजी उद्धव से कहते हैं कि "मैं देह हूँ" इस झूठे अहंकार के कारण गुणबुद्धि से विषयों का ध्यान ही विकार का मूल कारण है।

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते"॥

भा० ११-१४-२७

विषयध्यानी का चित्त विषयों मे और भगवद्ध्यानी का चित्त भगवान् मे विलीन होजाता है।

विषयचिन्ता करते-करते जीव स्वयं इस कामव्याधि को अपने शिर मढ़ लिया है।

यह इतनी बारीक और विकट बीमारी है कि इसके नामपर नाकभौंह सिकोड़ने और केवल चरित्र की दोहाई देने से इसका उपशम नहीं होता। गहरे पैठकर इसका विज्ञान समझना चाहिए। चोर कैसे और किस मार्ग से घर में घुसता है इसे जान लेने से उसे पकड़ना अधिक आसान है। भगवान् कहते हैं :— " ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः ..." गी० २-६२

विषयों का ध्यान करनेवाले पुरुष की उनमे आसक्ति और आसक्ति मे काम पैदा होता है।

पुरुष इस देहपुरी का राजा है। उसका जैसा संकेत मिला, उसी तालमे इन्द्रियाँ नाचने लगती हैं। ४६ मरुतों मे वीर्यधारण करनेवाला एक वायु लिंगमूल या स्वाधिष्ठानचक्रमे निवास करता है। पुरुष-देहाभिमानी जीव के ध्यान मे स्त्री और स्त्री-देहाभिमानी जीव के चित्त मे पुरुष आते ही यह अपान वायु कुपित होकर बेग से नीचे जाता और नाड़ी के सहज अवरुद्ध मुख को विकसित कर बहिर्द्वार खोल देता हैं।

वायु का सम्बन्ध त्वचा से है। स्पर्श ही त्वचा का धर्म है। आत्मविमूढ़ नर-नारियों के परस्पर त्वग्धर्म मे प्रवृत्त होते ही उन्हें एक क्षण को आराम मालुम पड़ता है और रेतामृत खट्से बाहर निकल जाता है। हतप्रभ होकर जीवदशा मे ही मृत्यु का अनुभव करके जीवका कपालमे हाथ रखकर केवल पछताना शेष रह जाता है। प्रेम अमृतस्वरूप है। काम या वीर्यपात उसकी हिंसा करदेता है। यही इस आत्मघाती, कामचाण्डाल का नग्नरूप है। इस पापी के नग्नरूपको समझने के लिये किसी भी ब्रह्मचारी को गृहस्थ-जीवन स्वीकार करने की रत्तीभर जरूरत नहीं, क्योंकि एकवार इस दलदल मे फँसे कि फिर निकलना बहुत कठिन है। घर-घर इसका प्रयोगशाला खुला है। इसका आदि-अन्त देखकर जो विरक्त होगए हैं उन ज्ञानवृद्धों से अपनी जिज्ञासा निवृत्त कर लेना चाहिए। विना ज्ञान के संसार का भय दूर नहीं होता। श्रीशुकदेवजी को जनकका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ा था। यदि निष्ठीवलेहन[1] और पूय-पूरित[2] मलमूत्र के अंगों का संयोग सुखद होता तो शुक्रक्षय के अनन्तर उससे निवृत्ति, घृणा और अन्तर्वेदना क्यों होती? संयोग मे जो मध्यकालीन सुख प्रतीत होता है उसके आदि श्रोतका यथार्थ ज्ञान होजाय तो फिर आत्मज्ञान और वैराग्य हुए विना नहीं रह सकता। भगवान् कामदेव पशु-पक्षियों के द्वारा मनुष्य मे विवेक का संचार कर रहे हैं।

पुंगव[3] का आवेश देखिये। कितना उन्मत्त! प्रतिद्वन्दी बैलों से कितना भयंकर युद्ध करता है! गाय की ओर जाने से जो रोंके उसकी जान के साथ खेलने को तैयार है। शिवके सुन्दर

१–निष्ठीवलेहन = थूँकचाटना। २-पूय-पूरित = पीपसे भरा हुआ। ३–पुंगव = बैल।

वाहन को पापी काम ने विकराल बना दिया। एक क्षण की लीला। फिर वही गाय और वही बैल। क्षणपूर्व जिसके लिये प्राण दे रहा था उस ओर आँख उठाकर देखता तक नहीं। इस पर गंभीर विचार करना चाहिये। यदि पुंगव के आनन्द का श्रोत गवांग संयोग था तो मुहूर्त्त पश्चात् उस संग से वह स्वयं क्यों विरत होजाता है? जीव मे आनन्द की बुभुक्षा[1] सदा बनी है। आनन्द का अजीर्ण इसे कभी नहीं होता। स्पष्ट है कि रेतःपात के पश्चात् गवांग संयोग सर्बथा रसहीन हो गया। इससे सिद्ध है कि अपना वीर्यपात होने से ही अपने को सुख मिलता है, न तो स्त्री के सुख का कारण पुरुषांग है और न पुरुष के सुख का कारण जोषाङ्ग[2]। स्त्रीपुरुष एक दूसरे के वीर्य-क्षोभ मे कारण बनते हैं अतएव वे भूल से एक अपर को अपने आनन्द का हेतु मान बैठते हैं। रेतःपात के समय अपने को जो क्षणिक आनन्दाभास् प्रतीत होता है वह आनन्द भी रेतःपात का नहीं प्रत्युत हृत्पुरुष का है। अंगुष्ठ-प्रमाण पुरुष हृदय मे अवस्थित है। वह आनन्दमय है। विन्दुपातिनी नाड़ी का कम्पन और मन्थन हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श करता है। इसीसे दद्रुरोग को खुजलाने की भाँति उस नाड़ी मे क्षणिक सुख प्रतीत होता है। आनन्द और प्रेम एक ही चीज के दो नाम हैं। स्त्रीपुरुष भूल से आनन्द के आदिश्रोत उस अन्तरात्मा को न जानकर एक अपर के शरीर से प्रेम कर बैठते हैं। शुक्रक्षय मे जो आनन्द एक पल को आता है वह यथार्थ मे आता नहीं अपितु सदाके लिए चला जाता है। काम प्रेमका रिपु है। परन्तु जीवका यह मोहजन्य विचित्र भ्रम आसानी से दूर नहीं होता। यति यातो सीधे कामदेव से जिज्ञासा-कर रज्जु के इस साँप को मारडाले अथवा जिन्होंने इसकी यथार्थता

१—बुभुक्षा=भोगेच्छा। २—जोषाङ्ग=स्त्री-अंग।

समझ लिया है उन सन्तों की ही शरण लेकर इस अलीक[1] भूल को भङ्ग करदे। बिना इसके पारगये परमात्मा नहीं मिलेगा, और चाहे जो मिल जाय। ऊर्ध्वमन्थी ऋषि रेत की ऊर्ध्वगति करके आनन्दके आदिश्रोत अन्तरात्मा से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। "ऋषयः ऊर्ध्वमन्थिनः"। मिथुनराशिवालों को जो आनन्द एक क्षण को मिलता है वह उन्हें आत्मरति मे नित्य प्राप्त है। उत्क्रमण-काल[2] में लोममात्र भी कामकी छाया अन्तःकरण मे शेष रह गई तो मैथुनी सृष्टि मे ही पुनः लौटकर आना पड़ेगा, लोकातीत परमधाम मे जीव की गति किसी प्रकार न होगी, क्योंकि वहाँ मैथुन नहीं है। अतएव ऐहिक—आमुष्मिक[3] उभय दृष्टियों से मृत्युपूर्व आत्मज्ञान लाभ करना अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा कहा है "महती विनष्टिः"।

जो निश्चयपूर्वक इस रहस्य को जानते हैं वे नर-नारी आत्माराम होजाते हैं, देहसंग मे सुख खोजने नहीं जाते।

पद्मपुष्पस्पर्श योषिदङ्गस्पर्श[4] की अपेक्षा कहीं अधिक कोमल और सुखद है। कोई भी कुसुम कामिनी से अधिक कमनीय[5] है। चम्पक की सुषमा[6] और सुगन्ध के सामने कोई सुन्दरी टिक नहीं सकती। लोग अधरं मृतं को अधरामृतं कहते हैं। पुष्पामृतं[7] से उसका आस्वाद, सौरभ क्या अधिक है? ऐसी सदसद्विवेकिनी बुद्धि के शाणित[8] कुठार से कामसुख की जड़ काट डालना चाहिए। निन्दा, भय और दबाव से जो त्याग वा संयम् किया जाता है वह राजस् है। उससे आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती।

१—अलीक=मिथ्या। २—उत्क्रमण=देहसे प्राणों का निकलना
३—ऐहिक-आमुष्मिक=लोक-परलोक ४—योषित्=नारी
५—कमनीय=सुन्दर ६—सुषमा=सौन्दर्य ७—पुष्पामृतं=शहद
८—शाणित=शान में चढ़ा या तेज किया हुआ।

त्याग ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। एकमात्र तभी गृह और देश देवालय हो सकता है। इस समय भारत का ही नहीं अखिल विश्व का नैतिक और चारित्रिक स्तर गिर गया है। लोकालय को भोगालय बनाने से वह निःसन्देह रोगालय होजाएगा। भारत अपना सर्वस्व खो चुका था, परन्तु उसका चरित्र बना था। तलवार से नहीं, उसी चरित्रवल से देश का उद्धार हुआ है, इस बात को नहीं भूलना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम जीवन की भित्ति है; भित्तिहीन भवन नहीं टिक सकता। आजकल विद्यार्थी अवस्था मे ही लोग कई बच्चों के बाप हो जाते हैं। अर्थ, स्वास्थ्य या परमार्थ जिस भी दृष्टि से देखा जाय यह चीज बुरी है।

इस समय देश के मन, बुद्धि, शरीर सभी अस्वस्थ होगए हैं। ब्रह्मचर्य के विना कोई एम. ए. डी. लिट्. चाहे जो होजाय परन्तु ब्रह्मचर्य के विना कोई ऋषिप्रणीत शास्त्र नहीं समझ सकता। समझना तो दूर रहा, उसे पढ़ने की ही प्रवृत्ति न होगी। संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के विना संस्कृति की चर्चा बेकार है। यदि संस्कृति गई तो फिर भारत के स्वराज्य का कोई मूल्य नहीं। कमाना-खाना, मैथुन करना और मरजाना तो जैसे तब था वैसे ही अब है और आगे भी रहेगा; इसमे क्या रक्खा है। इस समय देश मे खाना भी नहीं, केवल खाने वाले बढ़ रहे हैं। सम्प्रति[1] आवश्यकता इस बात की है कि सहस्रों युवक-युवती दृढ़ ब्रह्मचर्य व्रत लेकर देश मे फैल जाँय। इससे देश का चारित्रिक स्तर ऊँचा होगा और भूभारस्वरूप अनावश्यक जन-संख्या मे वृद्धि भी न होगी। नास्तिकता रुकेगी। सच्चा ब्रह्मचारी कभी नास्तिक नहीं होसकता। सृष्टि चलाने की चिन्ता हम न करें। सृष्टिकर्त्ता हमसे भिन्न कोई और ही है। प्रजा भी

१—सम्प्रति=अब

पुष्टवीर्य से ही स्वस्थ और सुन्दर हो सकती है। सत्य की शोधमे, आत्मा की खोजमे, देश की सेवा में हम अपने जीवन की बलि चढ़ादें। भारतमाता के पदाम्बुजों मे जीवन नैवेद्य करदें। हमे पछताना नहीं पड़ेगा। हम हँसते हुए जियेंगे और हँसते हुए मरेंगे।

यति और व्रती को एक बात निश्चित समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मचर्य कोई बाह्याचार नहीं है; न इसकी कोई बाह्य विडम्बना[1] की जा सकती। नर-नारी परस्पर मिलकर साधारण, भद्र व्यवहार करने से न तो यह खण्डित होता और न उनके आमरण पीठ फेरकर चलने से इसकी रक्षा ही होती। वीर्यरक्षा इनसे भिन्न ही कोई चीज़ है। उसकी आवश्यकता जैसे विवाहित के लिए है वैसे ही अविवाहित के लिए। कामदेवता न तो गैरिक और पीत वस्त्र से भय खाते, न जटा और वेणुदण्ड से। वीर्यस्थिति और वीर्य मे क्षोभ अत्यन्त सूक्ष्म व्यापार है। क्षोभमे स्त्री-पुरुषों का संग कोई अनिवार्य नहीं है। मन का चक्र कब किधर घूम जाय इसका कोई ठिकाना नहीं। इस सम्बन्ध मे किसी एक नियम से एकही आदमी का काम सब समय नहीं चलता तो फिर सभी के लिए कोई एक नियम कैसे हो सकता है। शैशवकालमे जिस बच्चे को माता का जितना ही अधिक प्यार मिलेगा बड़े होने पर ब्रह्मचर्य साधन मे उसे उतनी ही अधिक मदद मिलेगी; इसमे भी लिंग भेद है, बालक को मातृप्रेम और बालिका को पितृप्रेम सहायक होता है। धाय के द्वारा छागदुग्ध से पाले गये बच्चे त्रिकाल मे ब्रह्मचारी नहीं हो सकते। अरविन्दाश्रम मे जो फ्रेंच महिला मीरामा रहती हैं

१—विडम्बना=ऊपरी नकल, दिखाऊ।

उनका कहना है कि एक हिन्दू साधक या साधिका आत्मसमर्पण और शरणागति का पाठ जितना जल्दी सीख लेता है यूरोपियन साधक उतना नहीं कर पाते। पाश्चात्य चरित्र की परिभाषा मे ब्रह्मचर्य सामिल नहीं है। वहाँ वरट्रेंड रसल ऐसे लोकविख्यात दार्शनिक ८० वर्ष की अवस्था मे विवाह करते हैं। उनके दर्शन मे आत्मदर्शन नहीं है और सभी का दिग्दर्शन है। स्त्रियों की आमरण पतिनिष्ठा और मा की गोद से चिपककर बच्चे का स्तनपान ये दो बातें हिन्दूजाति के दृष्टिकोण और चरित्र-निर्माण की दृढ़ आधारशिला हैं। किसी स्त्री के प्रति घृणा और उससे डरकर भागने की अपेक्षा उसके चरणों मे शिर टेक देना प्राय: अधिक सहायक होता देखा गया है। परन्तु यह भी मन की व्यक्तिगत स्थिति पर निर्भर है। काम से संग्रामकर तो कृष्ण ही पार पा सकते हैं। परमधाम के साधारण यात्री का त्राण तो इसीमे है कि वह देहरथ का सारथित्व श्रीकृष्ण के हाथों मे सौंप दे और सदा नत होकर चले। वालभाव लेकर मा-बहिनों के बीच मे उठने-बैठने और हँसने-बोलने से कामरिपु से कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। परन्तु सब समय ऐसा नहीं होता, मन की जब जैसी स्थिति। इसलिए सतत सावधान होकर मनको देखते रहना चाहिए।

व्यवहार मे जिस चेष्टा से जिसका वीर्य क्षुब्ध हो उस चेष्टा को न करना ही उस व्यक्ति के लिये ब्रह्मचर्य का नियम है। जिसमे जिसको रस आता है उसीसे उसका वीर्य क्षुब्ध हो सकता है। इसका पता अपने को तुरन्त चल जाता है। एक ही मछली को एक ही समय मे देखकर बंगाली ब्राह्मण के जीभ से पानी टपकता है और आचारनिष्ठ गुजराती नागर नाक दबाकर भागता है। पशु-पक्षियों की क्रीड़ा देखकर जनसाधारण को विकार होता

है, श्रीरामकृष्ण परमहंस को समाधि होती थी। अतएव इन्द्रियों के किस व्यापार से किसकी प्रकृति मे विषमता आयेगी इसका कोई भी एक नियम सबके लिए नहीं। जैसे मोटर ड्राइवर दोनों हाथों से स्टियरिंग-ह्वील पकड़े गाड़ी हाँकता है उसी प्रकार दृढ़ता और सावधानी से मन के चक्र को पकड़े हुए आत्मा मे एक लक्ष्य रखकर साधक को अग्रसर होना चाहिए। शिरकी गागर कहीं छलक न जाय इस भय से उसपर लक्ष्य स्थिरकर तब आगे पैर रखना उचित है।

चित्त, गुण और उनका प्रेरक पुरुष इन तीनों का सम्बन्ध एवं देहमे ये कैसे काम करते हैं इसका विज्ञान समझ लेने से साधक अभय होजाता है। 'गुणाश्चचित्तप्रसवाः' गुण या भाव चित्त से उत्पन्न हैं। गुणों मे चित्त और चित्त मे गुण ऐसे अनुप्रविष्ट हैं कि उनका पृथक्करण सम्भव नहीं। 'जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतः' गुण और चित्त दोनों जीव के देह हैं, स्वरूप नहीं। तस्मात् "मद्रूपः उभयं त्यजेत्" गुण और चित्त दोनों से मुख मोड़कर जीव आत्मस्वरूप मे स्थित होजाय और प्रकृति से भोग न माँगे—भा० ११-१३-२६। उदासीनवत् आसीन आत्मा में निर्निमेष दृष्टि स्थिर होजाने से चित्त और उसके त्रिगुणभाव दोनों शक्तिहीन एवं निस्तेज हो जाते हैं। स्विच बुझा दिया तो बिजली के तार मे तेज कहाँ से आए? "परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्" भा० ३-२५-१८। वाणी को मौन से, देह को निश्चेष्टता से और चेतस् को प्राणायाम के दण्ड से वश मे रखना चाहिए। "मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्" भा० ११-१८-१७। त्रिदण्डी के पास काम नहीं जाता। प्राणायाम कर लेने से देहरूपी गाड़ी स्टार्ट नहीं होती।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः ॥१३॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥१४॥

भा० अ० १३

साधक यथासमय श्वास और आसन को जीतकर सावधानी से मनको धीरे-धीरे परमात्मा मे लगावे, ऊबे नहीं। सब ओर से खिंचकर मन जिस प्रकार परमात्मा मे प्रविष्ट हो, बस उतना ही योग है; ऐसा सनकादि ऋषि कहते हैं।

यति विषयों से इन्द्रियों को, इन्द्रियों से मनको, मनसे बुद्धि को और बुद्धि से आत्माको श्रेष्ठ एवं बलिष्ट जानकर अपना पराक्रम पहिचाने और इस प्रकार देहगेह के सब सदस्यों को आत्मवश मे आनयन कर कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाले " इन्द्रियाणि पराण्याहुः......जहिशत्रुं महाबाहो काम-रूपं दुरासदम् " गी० ३-४२-४३।

जब-जब कामवायु नाभि के नीचे उपस्थ मे जाय, यति तत्क्षण उभय घ्राणछिद्रों को बन्दकर मूलबन्ध को बलपूर्वक सिकोड़ ले और मस्तक के ऊपर सूर्य-सहित शून्याकाश की चिन्ता करते हुए ऐसी भावना करे कि सविता की रश्मियाँ शरीर मे प्रवेश कर विषयरस शोषण कर रही हैं। ऐसा करने से प्रकृति स्वस्थ होजायगी।

देह में अहंबुद्धि के कारण अपने को स्त्री या पुरुष मानकर मनुष्य एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होजाता है। यह लिंगबोध जबतक बना है, काम समूल नहीं जा सकता। ' मैं लिंगातीत

आत्मा हूं, देह नहीं " ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर झूठी देहबुद्धि का बाध कर देना चाहिए।

जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है उसे संसार मे कुछ अप्राप्य नहीं—महाभा०।

इन्द्रियों का असंयम आपत्ति का और इन्द्रियों का संयम संपत्ति का मार्ग है। जिस पथ से अभीष्ट हो जाइये।

" आपदां कथितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥



पुमांस्त्रीविवेचनम्

" आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् " ऐत० उ० मं० १।
आगे यह एक आत्मा ही था। अन्तरात्मा अशरीरी है। अशरीरी न स्त्री होसकता, न पुरुष और न नपुंसक।

" नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः "

श्वेता० उ० अ० ५, मं० १०।

वहाँ न लिङ्ग है, न सृष्टि। किन्तु सृष्टजीव देहाभिमानी है। उसके लिये लिङ्गातीत तत्त्व की कल्पना करना कठिन है। जब वह नहीं था तब क्या था और क्या नहीं था इसका निर्णय देही कर भी कैसे सकता है ? तरुलता, पत्रपुष्प, कीटपतङ्ग, पशुपक्षी, इहलोक, परलोक, नरलोक जहांतक दृष्टि जाती है, आब्रह्मस्तम्ब[1] निखिल सृष्टि पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग से ठसाठस भरी है। लिङ्गशून्य जीवदेह है ही नहीं। अतः प्रश्न उठता है कि यदि अग्रे लिङ्गातीत सच्चिदानन्द आत्मा ही था तो विश्व की ये अनन्त युगलमूर्तियाँ कहाँ से आईं ? श्रुति भगवती पुनः कहती है "यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते" श्वेता० उ०। स्त्रीशरीर ग्रहणकर जीव अपने को स्त्री मान लेता है और पुरुषशरीर ग्रहणकर अपने को पुरुष। दुर्गा की प्रतिमा गढ़ी जाय या शिवलिङ्ग मृत्तिका दोनों मे समान है। स्वयं परमात्मा ही लीला के लिये युगलमूर्ति से संसार मे आविर्भूत हुआ है। अतः श्रुति स्तुति करती है " त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी.........त्वं विश्वतोमुखः" श्वेता० अ० ४, मं० ३। हे परमात्मन् ! तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं

१—आब्रह्मस्तम्ब = ब्रह्मलोक से ले कर पर्यन्त।

पुमान् हो, तुम्हीं कुमार और तुम्हीं कुमारी हो। कहाँतक कहें, विश्वमे ये जितने भी नर-मादाओं के श्रीमुख नयनगोचर हो रहे हैं, विश्वतोमुख ! ये सब तुम्हारे ही मुखाम्बुज हैं। विश्वरूप सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् विराट पुरुष तुमको नमस्कार, है। "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्......सर्वमावृत्य तिष्ठति।"

सीयराममय सब जगजानी, करौं प्रणाम जोरिजुग पानी।

जितने भी देहधारी प्राणी हैं सब श्रीहरि के ही शरीर हैं। ऐसा जानकर यह जो कुछ भी है सबको अनन्यभाव से प्रणाम करना चाहिये। "सत्त्वानि (सर्वाणि) हरेः शरीरं यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः" भा० ११-२-४१। यह है आर्य ऋषियों की दिव्य-दृष्टि। इसी नेत्र से उन्होंने जगत् के नर-नारियों का दर्शन किया था। आत्मदृष्टि से देखा जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति और ब्रह्म ही संसार मे स्त्री-पुरुष हुए। लोकदृष्टि से देखा जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि संसार मे पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग को देखकर ही तत्त्वदर्शियों ने ब्रह्म और मायाशक्ति की तथा भक्तों ने देव-देवी किम्वा भगवान् और भगवती की कल्पना कर लिया। जो भी हो, अन्वय और व्यतिरेक से उभय दृष्टियाँ ही समीचीन हैं। एक मे अवतरण का भाव है दूसरेमे आरोहण का। जिस दृष्टि से भी देखाजाय नरनारी का दिव्यरूप भगवान् और भगवती है। यह चरम विकास है। अपने दिव्यरूप का दर्शन कर विश्वको, देश को और प्रत्येक गृह को साक्षात् लक्ष्मीनारायण का मन्दिर बनाना ही प्रत्येक स्त्री-पुरुष का लक्ष्य होना चाहिये।

अज्ञानी जीव चर्मचक्षु से अन्योन्य को देखकर चमड़िया मे

आसक्त हो गया है। नरनारी के आँख की पुतली काम कलुषित होगई है। महापाप्मा वैरीकाम दोनों के बीच मे आकर खड़ा होगया है। दिव्यरूप का दर्शन नहीं करने देता, उसे ढक रक्खा है। स्त्रीपुरुष दो पैरवाले ही हैं। परन्तु इस कामपापी ने दोनों को मिलाकर उन्हे चतुष्पद पशु बना दिया है।

देवर्षि नारद ने प्रेम को अमृत स्वरूप कहा है। राधा-कृष्ण का प्रेम दिव्य, नित्य और अलौकिक है। भवाटवी वृन्दा-बन है। विश्व भगवान् का लीलाक्षेत्र है। कन्दर्प ने गन्दिगी फैलाक़र संसार को नरक बना दिया। देवदेवी स्वरूपच्युत होकर दानवदानवी हो गये। मार ने प्रेम को मृत्यु और पश्चात्तापमे बदलकर उसे क्षणिक बना दिया। परमात्मा का सनातन अंश जीव राधाकृष्ण के नित्यप्रेम का उपभोग नहीं कर पाता।

द्विविध जीवदेह संसार मे क्यों बनाये गये हैं इसका रहस्य कामासक्त जीव नहीं समझ सकता। उसे समझने के लिये दिव्य-दृष्टि चाहिये। दिव्यदृष्टि भगवच्छरणागति से ही मिलती है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुम चर्मचक्षु से मेरे विराट-रूप विश्वात्मा का दर्शन नहीं कर सकते। अतः "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" मै तुम्हें दिव्यनेत्र देता हूँ। देव-नेत्र से तुम मेरे योगैश्वर्य को देखो। देवनेत्र से पुरुष अपने को देखे तो लब्धस्मृति होकर यह समझले कि "मैं स्वयं ब्रह्मरूप हूँ" अहं ब्रह्म अस्मि। उसका सारा पापताप समाप्त हो जाय। आर्यनारियाँ देवनेत्र से आत्मरूप दर्शन करें तो उन्हें पताचलें कि वे कामी कुत्तों की दासियाँ नहीं हैं। कुरूपा नहीं, वे साक्षात् श्रीरूपा हैं। मूर्खा नहीं वल्कि स्मृति मेधा और साक्षात् वाणी

हैं। वे क्रोधना नहीं, धृति और क्षमा हैं। अपकीर्ति उन्हें छू नहीं सकती, वे स्वयं कीर्ति ही हैं। भगवान् कहते हैं—नारियों मे मै कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं। "कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिःक्षमा" गी० १०-३४ स्त्रियों के ये सप्त दिव्यरूप हैं। इन्हें लाभ करना ही प्रत्येक नारीका लक्ष्य होना चाहिये । ऐसा हो तो मनुष्य वास्तव मे पृथिवी का देवता होजाय। यह जानले कि नटनागर नारायण ने किसको किस लीला का पात्र बनाकर संसार मे भेजा है।

पुरा काल मे जब भारतवर्ष सभ्यता के चरम शिखर पर आरूढ़ था, हिन्दू देवदेवियों की संख्या ३३ कोटि थी। आज भी उनकी संख्या लगभग इतनी ही बैठती है। कौन जाने कदाचित् वे सदा इतने ही बने रहें । हो सकता है कि इसमे भी भगवान् का कुछ रहस्य हो। परन्तु दुर्भाग्यवश यह देवसन्तति आज भगवान को जीवन के बीच से निकालकर अहन्तावश आसुरी भावापन्न हो रही है। उसे अपनी विलुप्त दैवीसम्पत्ति को पुनः जगाना होगा। पार्थिव मानव स्वर्ग का चतुर्भुज देवता तो नहीं है परन्तु स्त्रीपुमान् का अङ्गाङ्गि सम्बन्ध होने के कारण दोनों मिलकर वे अवश्य ही पृथ्वी के चतुर्भुज देवता हो सकते हैं । भोगासक्ति से इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

समाज इतना पतित हो गया है कि स्त्री पुरुष के प्रेम का अर्थ ही कामभोग लिया जाने लगा है। काम तो प्रेम का शत्रु है। सच्चा प्रेम करना तो छोटे-छोटे बच्चे और बच्चियाँ जानती हैं। काम युवक-युवतियों की मंजुल कान्ति पर कारिख पोत देता है। इससे आत्मा सुन्दर नहीं, हिंसित होती है। आत्मा का, समाज का, देश, जाति और संस्कृति का रिपु

मानकर मार[1] को मार भगाना चाहिये। अष्टवर्षा भवेत् गौरी कुमारी कन्यायें स्वच्छन्द समाज मे विचरें। जहाँ जाँय उन्हें सर्वत्र भ्राता और पिता के दर्शन हों, नर-वानरों के नहीं। समाज कितना सुन्दर होजाय। कन्या तो केवल उसी एकनर की भार्या होती है जिसे माता-पिता और गुरुजन नरनारायण के साह्नित्व मे कुशाक्षत से दान करते हैं। स्वकीया मे भी ऋतुगामिता का प्रतिबन्ध है। वस्तुतः भोगबुद्धि ही पाप है। पाप का अर्थ है जिससे अपनी रक्षा करना जरूरी हो "पाति रक्षति आत्मानं अस्मात्" समाज के सुन्दर और संयत वातावरण मे ही पवित्र आत्मायें जन्मग्रहण करती हैं।

जनसाधारण की विषय की ओर रुचि न हो इस अभिप्राय से शास्त्रों मे नारी निन्दा के भी वचन मिलते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने तो यहाँतक कहडाला कि नारी नरक का द्वार है। "द्वारंकिमेकं नरकस्य नारी" सच है नारी नरक का द्वार है। परन्तु किसके लिये? कामी नर के लिये। सुतरां नर भी नारी के लिये उसी प्रकार नरक का द्वार है। नरनारी की निन्दा का तात्पर्य कामी और कामिनी की निन्दा से है। कामी और कामिनी की निन्दा का अर्थ स्पष्ट ही काम की निन्दा करना है। नरनारी के व्यक्तित्व की निन्दा से उसका तात्पर्य नहीं है। व्यक्ति तो भगवान् की अभिव्यक्ति है। काम की जितनी भी निन्दा की जाय थोड़ी है। प्रजाबुद्धि कामरूप नहीं, वह तो श्यामरूप है "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" यदि ऋषिवाणी कभी किसी की निन्दा मे प्रवृत्त ही होजाय तो उसका अभिप्राय किसी को नीचा दिखाना नहीं, वरंच हेय, कुत्सित, गर्हित, वीभत्स, निन्द्य और अवद्याचरण से जनता की प्रवृत्ति को रोंकना है। नर नारियों

१—मार = कामदेव।

को यह चेतावनी दी गई है कि यदि वे एक-दूसरे को कामभाव से भजेंगे तो उनकी आत्मा अभिशप्त होगी और वे अन्योन्य की निरय-यात्रा मे निमित्त बनेंगे।

कन्याकुमारी, भगिनी, जननी और गृहलक्ष्मी की निन्दा का अनुशासन शास्त्रों मे कहीं नहीं। इनकी तो पूजा सिखाई गई है। जिसदेश मे नारी की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"। पुरुष स्त्री-समाज की सदा रक्षा करे, अपमान कदापि नहीं "स्त्रियं नावमन्येत कर्हिचित्"। सामान्यतया सभीपर सबकी रक्षा का भार है परन्तु कौमार्य मे पिता, यौवन मे पति और वार्धक्य मे पुत्र पर नारीजातिकी रक्षा का विशेष भार है "पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रश्च स्थविरे रक्षेत् न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"॥ न स्त्री स्वातन्त्र्यम् अर्हति—का केवल इतना ही अभिप्राय है कि पुरुष अवलाको अरक्षित दशा मे अकेली कभी न छोड़े। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसपर सदा संदिग्ध दृष्टि रक्खी जाय, पुरुष स्त्री का कभी विश्वास न करे और लट्ठ लेकर उस बेचारी के पीछे ही लगा रहे। स्व+तन्त्रता का यथार्थ अर्थ है अपने उपर अपना शासन अर्थात् आत्मनियन्त्रण। सभी को अपने उपर नियन्त्रण रखना चाहिये। उच्छृंखलता का पाठ किसी को नहीं पढ़ाया गया है।

नारी सेवा का प्रतीक है। स्त्रियाँ पुरुषों की जितनी अच्छी और अधिक सेवा कर सकती हैं पुरुष सद्भावना रखते हुए भी स्त्रियों की उतनी परिचर्या नहीं कर सकता। इतिहास इसका साक्षी है कि विश्व की किसी भी सभ्य जाति की स्त्रियों ने पुरुषों की इतनी सेवा नहीं किया जितनी कि भारतवर्ष की आर्य-महिलाओं ने अपने पुरुषों की किया है। इतर देश और जाति

की स्त्रियाँ तो अपने ऐन्द्रिय सुख की पुजारिणी हैं। आत्मसुख मे व्याघात हुआ कि वे पुरुषों को तलाक दे देती हैं। तलाक का अर्थ है सुख मे साथ देना और जब दुःख पड़े तो उसे छोड़कर चल देना; एक घर उजाड़कर दूसरे का दरवाजा खटखटाना। स्त्री-पुरुष कोई भी हो जिसे अपने सुख का अधिक ख्याल है वह दूसरे की सेवा नहीं कर सकता। "आपत काल परखिये चारी, धीरज धरम मित्र अरु नारी"। स्वामी रामतीर्थ अमेरिका की वीथियों मे इतस्ततः भ्रमण कर रहे थे। एक दिन देखा कि काचित् श्वेताङ्गिनी अपने मृतपति के गीले कब्र मे व्यजन कर रही है। इन्हें बड़ा कौतूहल हुआ। मनमे सोचा कि अहो! यह कितनी पतिव्रता है। निकट जाकर सारा वृत्तान्त पूछा तो महिला ने कहा कि हमारे स्वर्गीयपति हमसे यह शर्त करागये हैं कि जबतक उनकी कब्र गीली रहे मै दूसरा विवाह न करूँ। एक प्रेमी से मेरा विवाह तैं होगया है किन्तु कब्र अभीतक गीली ही है। इसलिये मैं पंखाकरके इसे जल्दी से सुखा रही हूँ।

आर्यनारियों का आदर्श विश्व में कहीं न मिलेगा। इन देवियों ने पुरुष की जीवद्दशा मे तनमनप्राण से सेवा किया और जब वह मर गया तब उसके शव को गोद में रखकर धधकती हुई आग मे प्रवेश कर गईं। जिन्होंने वह्निमे प्रवेश नहीं किया वे मृतकात्मा से मिलनकी आशा मे काल की प्रतीक्षा करती हुई आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर विधवा तपस्विनी का जीवन स्वीकार कर लिया। आग मे जलकर मरने की अपेक्षा यह अधिक कठिन है क्योंकि इसमे जीवनमे मरण का अनुभव होता है, यही जीवन्मुक्त की अवस्था है। पुरुषों को असमर्थ पाकर दैत्यों से आत्मरक्षा करने के लिये पद्मिनी प्रभृति राजपुत्रियों ने अपने स्वर्णप्रतिभ तन को अग्नि मे होम दिया। प्राणभय और

प्रलोभन को तृणवत् जानकर सीता की पतिभक्ति, पति की मृत्यु का सम्वाद सुनते ही मदालसा का प्राणत्याग और यशोदा के बात्सल्य प्रेम का अद्वितीय आदर्श विश्व मे अन्यत्र कहाँ मिलेगा?

हिन्दूजाति अपना सर्वस्व खोकर भी एकमात्र सतियों के प्रताप से ही आजतक जीवित है। प्रायः सहस्रवर्षव्यापी सुदीर्घ परतन्त्रता मे समय-समय पर महात्माओं को जन्म देकर बुझती हुई सांस्कृताग्नि मे इन्धन जोगाने का सम्पूर्ण श्रेय आर्य ललनाओं को ही है। वर्तमान उद्धत समाज जिस स्वतन्त्रता के अभिमान मे फूला नहीं समाता वह स्वतन्त्रता भी एक रामभक्त, आस्तिक, चरित्रवान् महात्मा की तपस्या का ही फल है। शिक्षित कहे जाने वाले पुरुषों ने मुस्लिम शासनकाल मे उर्दू और अरबी को तथा अंगरेजी राज्य मे अंगरेजी भाषा को अपने व्यावहारिक जीवन मे भलीभाँति अपना लिया था। भाषा ही नहीं उन्होंने अपना भूषा भी खो दिया। मातृभाषा की रक्षा भारतीय माताओं ने ही किया है।

पाश्चात्य देवियाँ यद्यपि अस्थिर प्रेमिका हैं तथापि दूसरों की तुलना मे हिन्दूसमाज के पुरुषवर्गने अपनी पतिप्राणा आर्य-महिलाओं के प्रति रक्षा के दायित्व की जितनी अधिक अवहेलना किया है विश्व की किसी भी दूसरी जाति के इतिहास मे इसका उदाहरण नहीं मिलेगा।

एक समय की बात है, एक प्रवासिनी जापानी महिला पोत से कहीं सुदूर सिन्धु मे यात्रा कर रही थी। किसी अंगरेज यात्री ने उसका तिरस्कार किया। देवी ने गरजकर कहा, मुझे यहाँ अकेली मत समझना, समग्र जापान हमारे साथ है और देशको इस दुर्घटना का सम्वाद भेजदिया। इस समाचार को सुनते ही जापान का बच्चा-बच्चा उबल उठा। राजमार्ग से साष्टाङ्ग करते हुए जापानस्थ आँग्लमहिलाओं की शोभायात्रा

निकाली गई। उनके इस प्रायश्चित्त से जापान की जनता पथ के उभय पार्श्व मे खड़े होकर अपनी क्रोधवह्नि बुझा रही थी। इस परिशोध ने संसार के कोने-कोने मे जापानी स्त्रियों को सदा के लिये अभय कर दिया।

भारत मे जब अंग्रेजीराज्य था पेशावर से एक धात्री आंग्लकन्या को पठान उड़ा ले गये। इस घटना से सारे अंग्रेजी साम्राज्य मे खलबली मचगई। सर्वत्र राजघोषणा कर दी गई कि एक निश्चित अवधि के भीतर लड़की लौटा दीजाय अन्यथा पठानों की वस्तियों मे गोले बर्षाये जायेंगे। प्रच्छन्नवेश मे एक वृद्धा श्वेताङ्गिनी वहाँ गई और अपनी जान जोखिम मे डालकर कन्या को सकुशल निकाल ले आई।

किसी मुस्लिम महिला का अपमान करके दुनिया मे कोई जिन्दा बचे यह तो एक बहुत ही असम्भव बात है। यहाँतक कि यदि किसी दूसरे समाज की लड़की को कोई मुसलमान अपहरण करके लेजाय, जैसा कि प्राय: देखा जाता है और कोई उसके पुनरुद्धार का स्वप्न देखे तो मुसलमान भाई लोग उसके लिये खून की नदी बहादेंगे। अखबारी कीड़ों को सिंगापुर की अभी एक हाल की घटना का पता है। किसी अल्लामियाँ ने बर्थानाम्नी भूली भटकी एक डचकन्या को बहकाकर उसके साथ विवाह कर लिया। डच भाइयों ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझा। स्थानीय मुसलमानों ने बहुत उपद्रव मचाया परन्तु किसी की एक नहीं चली और अन्तमे उसके माता-पिता कन्या का उद्धार करके लेगये, क्योंकि सारा देश और जाति उनके साथ थी।

वर्तमान हिन्दूसमाज को इन घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कर अपने महिला समाज का राष्ट्रीय सम्मान करना सीखना चाहिये। दूसरों की अच्छाई न लेकर दुर्भाग्यवश इस समाज मे

उनके फैशन और दुर्व्यसन के अनुकरण की प्रवृत्ति इस समय तेजी से बढ़ रही है, जिससे आगे चलकर भारतवर्ष के अक्षुण्ण सांस्कृतिक जीवन को बहुत बड़ा धक्का लगेगा। अपनी बहू-बेटी को विपत्ति मे पड़ी देखकर व्यक्तिगत कष्ट तो सभी को होता है परन्तु व्यक्ति समष्टि के सहयोग के विना दूसरों के सामूहिक अन्याय का विरोध नहीं कर सकता। भगवान् राम को भी सीता के उद्धार के लिये वानरी सेना के सहायता की आवश्यकता पड़ी थी। वानरों मे जातीय संगठन की बड़ी जबरदस्त शक्ति है। आपस मे चाहे भले ही लड़ें परन्तु दूसरा कोई उन पर आँख उठादे तो वे उसे सीधा चबा जाँय। किसी चींटे को रास्ते मे यदि कोई मरा चींटा मिल जाय तो वह जरूर उसे उठाकर एक किनारे लगा देगा। स्वच्छता, संरक्षता या कोई भी रचनात्मक कार्य हो इसमे नागरिक और राष्ट्रीय भावना की बड़ी आवश्यकता है। व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक प्रत्येक चेष्टा का राष्ट्र और समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसे सोच समझकर फूँकफूँक कर पैर रखने का नाम राष्ट्रीय जागृति है। जैसे पथमे थूकने और मलमूत्र विसर्जन करने से सामूहिक हानि है। उससे विराट पुरुष का शरीर गन्दा होता है। अतः कोई भी राष्ट्र का पुजारी ऐसा आचरण नहीं कर सकता जिससे देश और जाति के उज्वल चरित्र और गौरव मे किसी प्रकार का कलंक लगे।

स्वतन्त्रता के बाद आज भी हिन्दूसमाज राष्ट्र के हिताहित की बुद्धि से जीवन की समस्याओं के प्रत्येक पहलू पर विचार करने का आदी नहीं है। लंका मे विजयी राम के सम्मुख सर्व प्रथम जब सीताजी लाई गईं तब उन्होंने गम्भीर स्वर मे सीता से कहा कि अन्यायपूर्वक तुमको अपहरण करने वालेका बध

यदि मै न करता तो आर्यों की पवित्र कीर्त्ति मे, रामराज्य मे और रघुवंश मे कलंक का टीका लगता। तुम्हारे अस्थिचर्म पर मोहित होकर मैंने इतनी खून-खराबी नहीं किया है। यदि अब आप कहीं अन्यत्र जाना चाहें तो स्वच्छन्द जा सकती हैं। राम कामी नहीं है। सती सीता अग्निपरीक्षा मे उत्तीर्ण होकर अपने को और राम के प्रति अपने प्रणय को निर्दोष प्रमाणित कर दिया। सब लोग अयोध्या आये। अयोध्या की प्रजा सीता को लेकर राम के ऊपर पुनः छीटाकसी करने लगी। राम ने अपने और सीता के व्यक्तिगत सुख-दुःख और सुविधा-असुविधा का कोई विचार न कर एकमात्र राष्ट्रहित की दृष्टि से गर्भवती सती सीता का परिहार कर दिया।

जो हिन्दूसमाज माला मे सीताराम का नाम जपकर परलोक मे मुक्तिकामना और लोक मे रामराज्य की प्रतिष्ठा करना चाहता है उसे अपने पूर्वजों के पदचिन्हों का अनुसरण करना चाहिये। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि माँगने पर कोई हमें एक गिलास पानी पीने को न दे और सामने हमारे नाम का माला जपे तो हम आप उस पर प्रसन्न नहीं होंगे। यदि राम की प्रजा राम के आदेशों का पालन न कर उनके सामने रामनाम का माला जप करके केवल चाटुकारिता[1] के बलपर उनकी कृपा का भाजन बनना चाहती तो निश्चय उनके क्रोध का भाजन बनती। हम राम का नाम भी जपें और राम का काम भी करें।

आसुरी शक्तियों ने सीता और द्रौपदी का अपमान किया, इस बात को लेकर आर्यों के इतिहास मे दो भयंकर युद्ध होगये हैं। रामायणकाण्ड सीताके और महाभारतकाण्ड एक

१—चाटुकारिता=चुगलीखाना।

द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध है। अभी स्वराज्य के बिहान तक केवल हिन्दू होने के नाते स्त्रियां पर रोमाञ्चकारी अत्याचार हुए हैं परन्तु इस जाति के रक्त मे गरमी नहीं आई। कोई-कोई इसे अहिंसा और सहिष्णुता कहते हैं किन्तु है यह नपुंसकता। एकमात्र नपुंसकता और कुछ नहीं। हाँ, यदि कोई अध्यापक किसी छात्री को या घर का कोई सयाना बीबी को कुछ कहदे तो निश्चय ही बाबू साहेब उससे झगड़ा कर बैठेंगे। रामायण-महाभारत पढ़ते हैं किन्तु उनसे प्रेरणा ग्रहण नहीं करते। कितना भी उत्कृष्ट साहित्य क्यों न हो यदि रोज के व्यवहारिक जीवन में उससे प्रेरणा ग्रहण न कीजाय तो जाति के साथ उस जाति का साहित्य भी मुर्दा होजाता है। आर्यपुत्र बाल, वृद्ध और वनिता का स्वयं कभी अपमान न करे। हाथ मे हाथ रखकर इनको दूसरों के द्वारा अपमानित होता देखे भी नहीं।

भगवान् को तो कतिपय सन्त ही भजते हैं। परन्तु नारी को पशु, पक्षी, असुर, देवता सभी भजते हैं। इस भजना को राष्ट्रीय भावना नहीं कहते, यह तो प्रत्यक्ष मोह है। मोह का सम्बन्ध देह और व्यक्तिगत स्वार्थ से है। राष्ट्रीयता एक महान् वस्तु है। जो महान् है वही आत्मा है। ममता पर विजय प्राप्त करने से चित्त मे राष्ट्रीयता का उदय होता है। राष्ट्रीयता के पीछे निश्चयात्मिका मति है। ममता मे कार्यक्षमता नहीं है, वह क्षुद्र वस्तु है, उससे क्रोध पैदा होता है, क्रोध से मन का सन्तुलन नष्ट होजाता है। राम और अर्जुन ने वाणों से असुरों की धज्जियाँ उड़ा दिया, परन्तु बदले की बुद्धिसे क्रोधावेश मे इन वीरों ने न तो मन्दोदरी का अपहरण किया और न दुर्योधन की पत्नी लक्ष्मणा का केशकर्शन। शिखण्डी जन्मसे नारी, वरसे पुरुष था ; वह तलवार लेकर सामने आगया किन्तु

भीष्म नारीजाति के प्रति गौरव बुद्धि होने के कारण उसपर अस्त्र नहीं छोड़े, स्वयं मर गये। स्त्रियों को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिये। यह बात पशुओं मे भी पाई जाती है। दो गाय और दो बैल परस्पर युद्ध करते हैं किन्तु गो-वृषभ संग्राम कोई कभी न देखेगा। ताड़का यद्यपि प्रजा भक्षिणी नृशंस राक्षसी थी किन्तु विश्वामित्रके बारम्बार अनुरोध करने पर भी उसे मारने के लिये राम सहसा राजी नहीं हुए। "न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम्" वे कहते हैं, स्त्री स्वभाव से ही रक्षिता है, हम नारी हत्या नहीं करेंगे। विश्वामित्र ने थोड़ा बिगड़कर कहा "अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी" अरे राम ! तुम अपनीं घृणा एक तरफ रक्खो, यह पापिनी बड़ी दुष्टा है "प्रजारक्षण कारणात्" प्रजा की रक्षा के लिये "जहि मच्छासनान्नृप" हे राजन् ! मेरी आज्ञा से इसे मारो। तब अन्त मे बड़े मुश्किल से राम ने कहा कि अच्छा "गो ब्राह्मण-हितार्थाय देशस्य च हिताय च। बधं करिष्यामि......" गोरक्षा के लिये, ब्रह्मज्ञों की भलाई और देश के हितके लिये मैं इस राक्षिसी का बध करूँगा—वा० रा० आ० स० २५-२६ द्रष्टव्य।

घर-बाहर कहीं भी पुरुषोंको यदि कभी महिलाओं के साथ वार्तालाप करने का अवसर उपस्थित हो तो उनके प्रति गौरव बुद्धि रखकर शिष्टता और सम्मान पूर्वक ही प्रयोजनीय बात करना चाहिए। स्कन्द जी कहते हैं, उपस्थित देवियों ! आप लोग हमारी मातायें हैं। मैं आप लोगों का पुत्र हूं। कृपया बताइये मैं आपका कौन सा अभीष्ट कार्य करूँ ?

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥

महाभा० वन प०

भगवान् कृष्ण समागत गोपिकाओं से पूँछते हैं—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।
व्रजस्यानामयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥

भा० १० स्क० २९-१८।

सौभाग्यवती देवियों, आपका स्वागत है। कहो, मै आपका कौंनसा प्रिय कार्य करूँ ? आप कैसे पधारीं ? व्रज मे सब कुशल तो है ?

श्रीकृष्णजी के इन शब्दों मे आर्य महिलाओं के प्रति कितनी सहानुभूति और आदर का भाव टपकता है।

दुर्भाग्यवश समाज अपने आदर्श से च्युत होगया। विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थी पथ मे लड़कियों को जाती देखकर खरवृत्ति का परिचय देते हैं। जबकि एक शिक्षित युवक अपने मानसिक पाप का ऐसा नग्नप्रदर्शन करता है तो अशिक्षित की क्या दशा होगी यह एक विचारणीय बात है। यही लोग सुधार के नाम पर स्त्रियों को कहते हैं कि तुम घर छोड़कर मैदान मे आकर हमारे साथ खेलो, फौज मे हमारे साथ वन्दूक भाँजो, आफ़िस कचहरी मे हमारे सेक्रेटरी बनो, पाठशालाओं में हमारे साथ पढ़ो – अर्थात् हम इतने कामी कुत्ते होगये हैं कि तुम स्त्रियों को बगल मे बाँधे बिना न कहीं एक पग जा सकते और न कुछ कर सकते। हतभागे ब्राह्मण यज्ञशाला छोड़कर पाकशाला मे चूल्हा फूंकें और गृहलक्ष्मियाँ घरके प्रियजनों की सेवा से सन्यास लेकर स्त्रैण पुरुषों का मनोविनोद करने के लिये घरघूमन बनजाँय तो इससे अधिक समाज की दुर्दशा भला और क्या हो सकती है ?

भारतीय देवियों को स्वजाति और विजाति दोनों के हाथ जो अपमान सहना पड़ा है; अशिक्षा, निर्धनता, दुर्व्यवहार और सामाजिक कुरीतियों के कारण उन्हें जो कष्ट उठाना पड़ा है इससे नवशिक्षित स्त्रियों मे हिन्दुत्व के प्रति एक विद्रोह

की भावना उत्पन्न होगई है। सीता-सावित्री के आदर्श से उन्हें वैराग्य होगया है। अब वे पाश्चात्य संस्कृति को अपनाना चाहती हैं। कहती हैं कि विश्व मे जब कहीं भी यह प्रथा नहीं है तो एक हमी क्यों सारा जीवन एक ही पति के नाम का माला जपते हुए दुःख भोग करें। इन्हीं के ऐसे विचारवाले देश में जो प्रभावशाली राजनैतिक पुरुष हैं उनपर दबाव डालकर पाश्चात्य पद्धति के अनुसार ये देशभर के लिये विधान बनवाना चाहती हैं। इससे धार्मिक भावापन्न स्त्री-पुरुषों मे एक देश-व्यापी आन्दोलन चल पड़ा है। इस विषय के पक्ष-विपक्ष मे पर्याप्त साहित्य निकल चुका है। बड़ी-बड़ी आत्मायें उसके पीछे लगी हैं। परमेश्वर को जो पसन्द होगा वही होगा। मेरा तो इतना ही नम्र निवेदन है कि महत् लोग विदेशों में भी जाकर जिस भारतीय संस्कृति की गरिमा गाते हैं वह इन प्रयोगात्मक अनिश्चित विधि- विधानों से चमक नहीं सकती। हिन्दूसमाज को नित्य नवीन काल्पनिक प्रयोगों का अखाड़ा बनाना उसके साथ खेलवाड़ करना है। इससे समाज सुन्दर होगा यह बहुत ही संन्दिग्ध बात है। अन्य देश और जाति के स्त्री-समाज की सब शिकायतें दूर ही होगई हों ऐसी बात भी नहीं है। कुछलोग कहते हैं कि भाई, विधान किसी को वाध्य नहीं करता। ठीक है। किन्तु सरकार मद्यनिषेध कानून क्यों बना रही है ? कोई दुकानदार किसी के मुख मे जबरन शराब की बोतल ढालने तो नहीं जाता ? वेश्यासेवन तो ऐच्छिक है न ? फिर वेश्यावृत्ति पर आपत्ति क्यों की जाती है ? भुखमरी के इन दिनों मे आज कौन हिन्दू एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह करने जाता जाता है कि जिसे रोकने के लिये कानून बनाने की जरूरत है ? विशेष जरूरत पर अपवादरूप से ऐसी घटनायें क्वचित् होजाती हैं। अहिन्दू जो एक साथ

चार विवाह कर सकते हैं क्या ऐसे कानूनों का नाजायज फ़ायदा नहीं उठायेंगे ? मुख्यतः ये सब सैद्धान्तिक प्रश्न हैं। साधारण प्राणी पाव-तोला-रत्ती के हिसाब से नहीं चलता। समाज मे एक-धारा चल पड़ती है, सब उसी धारा मे बहा करते हैं।

नारी के ही साथ सम्पत्ति भी चलती है। और दोनों से गृहस्थी चलती है। दोनों के अस्थिर होजाने से गृहस्थी उजड़ जायेगी। माना कि रोटी होटलों मे भी मिल सकती है। परन्तु घर की मा-बहनें केवल रोटी ही नहीं देतीं, वे प्यार भी देती हैं। प्यार होटलों मे नहीं बिकता। यह व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है। भावी समाज को किस मार्ग पर चलाना है इसे आगापीछा सोचकर तब अपना लक्ष्य और आदर्श स्थिर करना चाहिये।

ईश्वर की कृपा से हिन्दू समाज के विचारों मे कट्टरता नहीं है। यदि कुछ बातों मे कोई व्यक्तिगत सुविधा चाहता है तो उसे वह सदा प्राप्त है। परन्तु किसी के व्यक्तिगत सुख-सुविधा को प्राधान्य देकर सामाजिक आदर्श का स्तर गिरा देना कोई बुद्धिमानी नहीं। दविष्ठ[1] लक्ष्य रखकर ही थोड़ी दूर लोष्टक्षेप[2] करना सम्भव है। जल की भाँति जीवन की अधःप्रवृत्ति स्वाभाविक है। नौका को बहाव के साथ नीचे की ओर खेने मे कौन सा पुरुषार्थ है ? "भूमौ स्थितस्य पतनात् भयमेव नास्ति" भूमिष्ठ को गिरने का क्या भय ? संसार मे सबलोग एकस्वर से सत्य का ही गुण गाते हैं तब तो मिथ्या का इतना अधिक बोलबाला है और यदि कहीं मिथ्या एवम् लम्पटता के प्रचार के लिये सविधि पाठशाले खोल दिये जाँय और समर्थन मे यह तर्क दिया जाय कि लम्पट-चोर-लबार की संख्या अधिक है, इन्हीं का राज्य होना चाहिये तब तो संसार मे सभ्यता का नाम

१—दविष्ठ=दूरतम। २—लोष्टक्षेप=ढेल फेंकना।

निशान भी न रहेगा। वैधानिक स्वतन्त्रता उसी सीमा तक मिलनी चाहिये जहाँतक व्यक्ति के विकास मे समाज और समाज की स्थिति और प्रगति मे व्यक्ति बाधक न हो।

अशिक्षित और असंस्कृत ग्रामीण शूद्र भाइयों को सभ्यता सिखाना तो दूर रहा उनमे जो कोदई-भाजी करके वैवाहिक रीति-रिवाज और रखोय रखने की अनेक प्रथायें प्रचलित हैं उन्हें उच्च कक्षा का शिक्षित समाज सभ्यता और सुधार के नाम पर अपनाले तो यह देश का बहुत बड़ा सांस्कृतिक एवं चारित्रिक पतन होगा।

यह सच है कि साधनाभाव के कारण इस संस्कृति ने वैज्ञानिक पैदा नहीं किये किन्तु जहाँ विज्ञान का राज्य है वहाँ भी पूजा महात्मा क्राइष्ट की ही होती है। विलायती नई तितलियों ने १६५२ वर्ष से कितने क्राइष्ट पैदा किये ? १३०० वर्ष की आरव्य सभ्यता ने कितने मुहम्मद साहब को जन्म दिया ? जब कि भारतमाता की गोद कभी भी उच्चकोटि के महात्माओं से खाली नहीं हुई। देश के प्रत्येक प्रान्त, जिला और गाँव मे प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं और अब भी होते हैं, ईश्वर करे भविष्य मे भी सदा ऐसे ही होते रहें। महात्माओं ने संसार के क्षुधित हृदय को जो खाद्य दिया है उसीसे दुनिया आज भी टिकी है। विज्ञानप्रधान देशों की जनता भी आधुनिक सभ्यता से घबड़ाकर शान्ति के लिये चर्चो की ही शरण ग्रहण करती है। संसार से घबड़ाये हुए प्राणी को "मीरा के प्रभु गिरिधर नागर" के एक भजन से जितनी आत्मशान्ति मिलती है उतनी अखिल विश्व के वैभव से नहीं मिल सकती। मशीन भी तो आखिर आदमी ही चलाता है। मनुष्य स्वयं जैसा है तदनुसार ही मशीन का सदुपयोग या दुरुपयोग करता है। इसलिये मशीन

पैदा करने की अपेक्षा संसार मे सच्चा मनुष्य पैदा करना अधिक आवश्यक है। मनुष्य का उत्तम जीवन गढ़ने की सर्वाङ्गीन सामग्री भारतीय संस्कृति मे मिलती है। यह संस्कृति ऐसा वातावरण तैयार करती है जिसमे बहु संख्यक चरित्रवान् महात्मा जन्म ग्रहण करते हैं। उसके आधारभूत सैद्धान्तिक शिलाओं को चकनाचूर करना इस देश और जाति के लिये शुभ लक्षण नहीं कहा जा सकता। हमारे शिक्षित मा-बहनों की सारी शिकायतें सच्ची भी हों तो भी उनके निराकरण के लिये वे जो औषधि सोचरही हैं वह व्याधि से भी अधिक घातक सिद्ध होगी। वस्तुतः उनका एक भी ऐसा अभियोग नहीं जो समाज मे उचित शिक्षा और सम्पत्ति की अभिवृद्धि से दूर न किया जा सके। भाई-बहन, पिता-पुत्री, पति-पत्नी, माता-पुत्र का परस्पर व्यवहार कैसा हो ये सारी बातें शिक्षा के क्षेत्र की हैं। मनुष्य का हृदय शिक्षा से बदलता है। इसमे कोई भी सरकारी कानून कुछ नहीं कर सकता। इन बातों मे वैधानिक हस्तक्षेप बिगड़ी दशा को और भी बिगाड़ देगा। इसलिये सुधार और उद्धार के पुष्पित वचनों से मोहित होकर किसी भी नरनारी को कोई खुराफात, ऊधम और क्रान्ति न मचाकर समाज मे सबको विद्या और वित्त की वृद्धि मे जुट जाना चाहिये। किसी विधान के द्वारा मनुष्य की प्रकृति को बदलने का जो यत्न किया जाता है उसकी अपेक्षा योग और शिक्षा के द्वारा प्राणी का जो आन्तरिक परिवर्तन होता है उसमे थोड़ी देर भले ही लगे तो भी पूर्वापेक्षा वह अधिक स्थायी, ठोस और श्रेष्ठ है। फिर यह एक गरम देश है। यहाँ द्वादशवर्षीया कन्या अवी हो जाती है जबकि पाश्चात्य देवियाँ

अवी = ऋतुमती।

२१–२२ वर्ष बाद आत्रेयी[1] अवस्था को प्राप्त होती हैं। १८–२० वर्ष के पूर्व आजकल किसी लड़की की शिक्षा नहीं शेष होती और ३० वर्ष बाद उनके लावण्य मे राहु-केतु की छाया पड़ जाती है। सौन्दर्य के बाजार मे उनका मूल्य गिर जाने पर वे समाज मे केवल चरित्रबल पर ही आदर पा सकती हैं। यह भी अनुभव करके देखलिया गया है कि जैसे पिता दूसरा विवाह करलेने पर पूर्व पत्नी के पुत्र का भक्तिभाजन नहीं रहता वैसे ही माता दूसरा विवाह कर लेने पर अपने पूर्व पति के पुत्र की श्रद्धापात्री नहीं होगी। स्त्रीसमाज बहुत घाटे में रहेगा। यौवन तो चारदिन की चाँदनी की भाँति बड़ी अस्थिर वस्तु है। फिर देश मे केवल हिन्दू ही नहीं वसते। दूसरी जातियाँ इन ऊलजलूल कानूनों का दुरुपयोग करेंगी जिससे हिन्दूसमाज को बहुत बड़ा धक्का लगेगा। इसलिये सबसे भली एक गृहस्थी। इस देश मे पाश्चात्य प्रथा के प्रचलन से सबसे अधिक दुर्गति छोटे-छोटे बच्चों की होगी। घरघूमन के छोटे बच्चे को न तो पिता की दूसरी औरत प्यार करेगी और न माता का दूसरा पति। सरकार के पास राजशासन संचालन के ही लिये पैसा नहीं, देश के असंख्य बच्चों का भरणपोषण और शिक्षण का वोझ वह कैसे सम्हालेगी ? जिन बच्चों ने मातृस्तन पान नहीं किया, शैशवावस्था मे जिन्हें मा-बहन का प्यार नहीं मिला वे बड़े होने पर यह नहीं समझ सकते कि नारीजाति को माता और भगिनी के भावसे भी प्यार किया जा सकता है। "मातृवत्परदारेषु" का पाठ वे न पढ़ेंगे। स्त्रीमात्र को देखकर उनके चित्त मे कामभाव का उदय होगा। उन बच्चों का चारित्रिक विकास नहीं हो सकता। यही बात कन्या शिशु के सम्बन्ध

१—आत्रेयी=ऋतुमती।

मे भी कही जा सकती है। सभी बातों का विचार करके अपने देश में अपनी संस्कृति चलाना ही निरापद है। फिर सबकी बुद्धि का प्रेरक एक परमेश्वर है वह जिसे जैसी मति दे वैसे ही चलना चाहिये।

जन्म से ही स्त्री-पुरुषों का शरीर और स्वभाव आकार-प्रकार मे एकदम भिन्न है; उनमे समानता की बात भी समझ मे नहीं आती। कुछ मोटी-मोटी बातें हैं जिनमे स्त्री-पुरुष क्या, पशुपक्षी सभी समान हैं "आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यम् एतत् पशुभिर्नराणाम्" आहार-निद्रादि को छोड़कर रुचि, वेश, गात्रगठन, कर्मक्षेत्र कहीं भी तो इनमे समानता दिखाई नहीं पड़ती। समानता की होड़मे स्त्रियाँ पुरुषभावापन्न और पुरुष स्त्रीभावापन्न होते जारहे हैं। अग्नि के संयोग से पानी का यह खौलना थोड़ी देर का है। इससे नारी अपने स्त्रियोचित गुणों से और नर पुरुषोचित् गुणों से वञ्चित होजायेगा, लाभ किसी का कुछ न होगा। न तो स्त्रियों के श्मश्रु[1] होगा और न पुरुष प्रसव करेगा। यथार्थ मे देखा जाय तो नरनारी एक दूसरे के अभाव का अनुभव करते हैं, समानता का अनुभव कभी किसी बात मे नहीं। यह मनोवैज्ञानिक आधार है, इसका लंघन कोई देहधारी नहीं कर सकता। एक दूसरे का स्थान न लेकर जो जहाँ है उसे वहीं बने रहना चाहिये, इसीमे शोभा है। आंख-कान अपने-अपने स्थान मे ही अच्छे लगते हैं। हाथ के स्थान मे पैर साज देने से शरीर सुन्दर नहीं लगेगा। स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं इसीसे वे अन्योन्य के अभाव का अनुभव करते हैं। पूरकतत्त्व भिन्न होना ही चाहिये अन्यथा एक अपर की कमी को पूरा कैसे करे। दोनों में समान एक आत्मा है और

१—श्मश्रु=दाढ़ी।

कोई चीज समान नहीं। मै ऊँचा तू नीचा, मै बड़ा तू छोटा, मै अधिकारी तू अधिकृत, मन के ये भाव तो अविद्याकृत हैं। गृहकार्य छोड़कर बहुत सी औरतों के वकील और जज होजाने से इनकी निवृत्ति नहीं हो सकती। एक अन्त्यजभाई कहता है कि लोग हमें नीचा समझते हैं। कल उसे प्रमुखमन्त्री बनादो तो वह दूसरों को और भी अधिक नीचा समझने लगता है। गृहिणी कहती है कि भाई चुल्हिया फूँकते ही मेरा जीवन गया, आग की लपट से मेरे दाढ़ीमोंछ भी नहीं जमे, मेरा कहीं आदर नहीं। कल उसे हाईकोर्ट का जज बनादो, वह अपने रोटी बनाने वाले महराज के ऊपर, जिसका मोछ सचमुच आग की लपट से जलजाता है, और भी अधिक धौंस जमाने लग जायेगी। सारांश यह कि जबतक जीव आत्मदर्शन करके त्रिगुणातीत नहीं होजाता, उसके हृदय से अज्ञानजन्य भाव नहीं जा सकते। कड़ा कानून बनाकर जीव के मनोभावों पर विजय पाने का प्रयास व्यर्थ और बालबुद्धि है। झूठे बड़प्पन की जड़ अहंकार है। यही हृदयग्रन्थि है। देहबुद्धि के कारण ऊँचनीच कर्म-संस्कार पड़ गये हैं। एकमात्र आत्मदर्शन से ही इस भ्रमकी निवृत्ति होसकती है। आत्मा ही सबमे सम है। समतत्त्व के साक्षात्कार के विना समदृष्टि नहीं आसकती "भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" द्वि० मुण्डक मं० ८। हृदय-ग्रन्थिभेदन, सर्व संशयछेदन और कर्मखण्डन परमात्मदर्शन से ही सम्भव हैं।

नरनारी प्रेम से बँधे हैं, अधिकार से नहीं। प्रेम के राज्य मे अधिकार की चर्चा अत्यन्त ही अवर है। प्रेम सर्वस्व त्यागकर सीधे हृदय पर अधिकार चाहता है। जहाँ हृदय पर अधिकार है वहाँ सारी सम्पत्ति चरणदासी बनकर रहती है।

अधिकार प्रेम को कलुषित कर देता है इसलिये प्रेम अधिकार की ओर ताकता ही नहीं। मान लीजिये भाई-बहन, माता-पुत्र या पति-पत्नी का प्रेमसूत्र छिन्न होजाय तो विश्वका कोई भी अधिकार उनके हृदय को बाँधकर नहीं रख सकता। प्रेम मे अधिकार अन्तर्भुक्त है किन्तु अधिकार की सीमा मे प्रेम आबद्ध नहीं है। प्रिय के साथ घुलमिल कर एक होजाना और प्रेमी के पृथक् अस्तित्त्व को गला देना ही प्रेम का धर्म है। जहाँ अपनी पृथक् सत्ता नहीं वहाँ अधिकार का प्रश्न कहाँ? जहाँ अपना कुछ नहीं वहीं अपना सब कुछ है। सर्वाधिकार प्राप्त है। अधिकार का दावा ही अखण्डाधिकार से वञ्चित कर देता है। प्रेम अधिकार के लिये कभी झगड़ा नहीं करता। जिस प्रेम मे अधिकार हेतु है वह प्रेम नहीं स्वाँग है और जो उसके वशीभूत हैं वे प्रेमी नहीं मूढ़ हैं। कामना मे बाधा पड़ जाय तो स्वाँग की कलई खुल जाय। अपने को और अपने पास जो कुछ है प्रेम निःशेष दे देता है और बदले मे अपने लिये कुछ नहीं चाहता। मोह से अन्तरात्मा खिन्न और प्रेम से प्रफुल्ल होता है—यही दोनों की पहिचान है।

जहाँतक दाम्पत्य जीवन का प्रश्न है वहाँ तो प्राणों का सौदा है, वे एक ही जीवन के अर्द्धार्द्ध अङ्ग माने जाते हैं। जबतक श्वास चलता है काया को बीच से चीरकर कोई अलग नहीं कर सकता और यदि करदे तो जीवन न रहे। वहाँ द्वैत की कल्पना ही नहीं। वे तो अद्वैत ब्रह्म हैं। एक होते हुए भी दो और दो होते हुए भी एक होना अद्वैत का यथार्थ अर्थ है। ये दोनों द्विभुज देवता मिलकर नररूप मे साक्षात् चतुर्भुज नारायण हैं। एक अङ्ग, एक देह, एक मन, एक प्राण। धन्य नारायण, आपकी जय हो, सृष्टि करो—सत्यं शिवं सुन्दरम्।

हिन्दू दम्पति का माधुर्य प्रेम इतना उच्च, दृढ़ और पवित्र है कि वैष्णव शास्त्रों ने सर्वोच्च भगवद्भक्ति से इसकी उपमा दिया है।

संसार मे तीन ही बड़े आश्चर्य हैं। एक मृत्यु, दूसरा जन्म और तीसरा नरनारियों की आकृति एवं प्रकृति मे वैचित्र्य। उभय लिङ्गों मे इतनी विलक्षणता है कि इनमे एक ओर एकताशून्य पार्थक्य और दूसरी ओर पृथकताशून्य ऐक्य का युगपद[1] दर्शन होता है। तत्त्वज्ञ ऋषियों ने इनका रहस्य दर्शन किया था। दक्षिण और वाम दोनों एक ही शरीर के अङ्ग हैं तो भी नारी का वामाङ्ग और नर का दक्षिणाङ्ग प्रधान माना गया है। शताधिक नारियों को श्रेणिबद्ध खड़ा करके उनसे सहज भाव से चलने को कहा जाय तो साधारणतः वे सदा पहिले वामपाद उठाकर चलेंगी, पुरुष इसके विपरीत दक्षिण पाद प्रथम निक्षेप करता है। जो स्त्री जन्म से पुरुष भावापन्न होती है केवल उसीमे इस नियम का कचित् अपवाद देखा जाता है। यही बात पुरुष के लिये भी कही जा सकती है। आँख के विषय मे भी यही बात है। नारी की दृष्टि वामावर्त्तिनी है जबकि नर दक्षिणावर्त्त दृष्टि से देखता है।

विशेषतः पुरुष का सम्बन्ध रवि से और स्त्री का शशी से है। स्वयं चन्द्रसूर्य मे जो परस्पर सम्बन्ध है वही नरनारी मे है। यद्यपि अन्धकार निवारण ही दोनों का प्रयोजन है तथापि दिवाकर तपनशील और निशाकर शीतल है। सूर्य के तेज से ही चन्द्र चमकता है वह स्वयं प्रकाशित नहीं वैसे ही पुरुष से ही स्त्री की शोभा होती है। जैसे आकाश मे चन्द्र-सूर्य पृथक् चमकते हुए भी उनमे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है वैसे ही

१—युगपद=साथसाथ।

भूमण्डलमे स्त्री-पुरुषों का शरीर अलग होते हुए भी वे एक दूसरे के आश्रित हैं। ये अलग-अलग अपनी खिचड़ी नहीं पका सकते। और यदि आजकल के फैशनमे आकर अलग-अलग खिचड़ी पकाने का प्रयास करेंगे तो दोनों की खिचड़ी कच्ची और अधजली रह जायेगी, पेट किसी का न भरेगा। जैसे दिनमे सूर्य और रात्रिमे चन्द्र चमकता है वैसे ही दिवा मे पुरुष अधिक क्रियाशील रहता है और निशा मे नारी का तेज बढ़ता है। भास्कर भगवान् ज्ञान के प्रतीक हैं, उन्होंने पुरुष के मस्तिष्क को अधिक विकसित कर रक्खा है। चन्द्र भावोद्दीपक है, उसने महिला का हृदय विशाल और भावपूर्ण बनाया है। निर्मल चाँदनी को देखकर नारी का हृत्कमल खिल उठता है। सविता देवता पुरुष की धी के प्रेरक हैं। स्त्री भाव का प्रतीक है और पुरुष बुद्धि का। स्त्री मे भावुकता के आधिक्य का तात्पर्य यह नहीं कि उसमे बुद्धि का अभाव है। पुरुष मे मेधानाड़ी के विकास का अभिप्राय भी यह नहीं कि उसमे सहृदयता की कमी है। दोनों से मिलकर दोनों बनें हैं अतः दोनों मे दोनों चीजें हैं किन्तु जैसे पुरुष मे स्त्रीत्व और स्त्री मे पुरुषत्व अभिभूत रहता है उसी प्रकार स्त्री मे भावुकता की प्रधानता है और पुरुष मे विचार-बुद्धि की। एक मूर्त्तिमान प्रेम है तो दूसरा मूर्त्तिमान् ज्ञान। जैसे शीर्ष और हृदय पृथक् अवयव होते हुए भी दोनों एक ही शरीर के अभिन्न अंग हैं उसी प्रकार संसार के प्रत्येक क्षेत्र मे नरनारी एवं बुद्धि और भाव दोनों का अनिवार्य सहयोग अपेक्षित है।

पुरुषकी पवित्र बुद्धि और स्त्री के शुद्ध हृदय के अनुमोदन से जो गृहकार्य सम्पादन किया जाता है उससे इहा[1]मुत्र मंगल होता

१—इहामुत्र=यहाँ लोकमे और वहाँ परलोक मे।

है। कलह का कारण कभी उपस्थित नहीं होता। घर-बाहर सर्वत्र शान्ति विराजती है। भाव और बुद्धि दोनों के बिना संसार मे कोई काम होता भी नहीं। भावशून्य बड़ा से बड़ा ज्ञान शुष्क, नीरस और व्यर्थ है। तथैव ज्ञानशून्य भाव से भी अधः पतन होता है। यदि भाव के अधीन बुद्धि किम्वा स्त्री के वशीभूत पुरुष हो तो भवसागर मे जीवन की वही दशा होती है जो कर्णधारहीन[1] वातचक्र[2] मे पड़ी नौका की। दोनों ही डूब जायेंगे, पार कोई न पहुँचेगा। विधाता ने जब यह शरीर बनाया तो इसमे भी बुद्धिस्थानीय शिर को ऊपर और भाव-राज्य हृदय को नीचे स्थान दिया। वह चाहता है कि भावरूप गंगा की धारा भगीरथ रूप बुद्धि के पीछे बहे। ऊपर नीचे का अर्थ छोटा बड़ा नहीं है। जब एक की कमी दूसरा पूरी नहीं कर सकता तो स्पष्ट ही दोनों की आवश्यकता है। शरीर मे नाक देखने को छोटा ही है परन्तु यदि वह श्वास न ले तो इतना बड़ा धड़ धड़ाम से गिर जाय। अपने-अपने देश-काल मे चन्द्रसूर्य दोनों महान हैं। परमेश्वर को यही अभीष्ट है और स्वभाव की भी यही पुकार है कि स्त्रीसमाज पुरुषवर्ग के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए संसार यात्रा मे अग्रसर हो। इसीमे प्रकृति-पुरुष दोनों का मंगल निहित है। यदि मस्तक और हृदय, ज्ञान और भाव, पुरुष और प्रकृति, भर्त्ता और जाया एक सीधी रेखा पर एक के पीछे दूसरा न चले तो जीवन, गृह, देश और संसार मे द्वन्द्व, दुःख तथा अशान्ति उत्पन्न होजाय। यदि पुरुष द्रष्टा न रहे तो प्रकृति गर्त मे गिर जाय और पुरुष को भी गिरा दे। ज्ञानदृष्टि सत्य का निर्देश करती है तो भावुक हृदय

१—कर्णधारहीन=नाविकविहीन।

२—वातचक्र=बवण्डर।

सत्य को अपना लेता है। यह जोड़ा एक ही जीवन का अविच्छिन्न और अपरिहार्य अङ्ग है। दोनों को एक दूसरे से पृथक् अपने अस्तित्त्व की कल्पना नहीं करनी चाहिये। आर्य-नारी का पातिव्रतधर्म सनातन धर्म की एक ऐसी विशाल तथा अभेद्य चट्टान है जिसके ऊपर हिन्दूसमाज और सभ्यता का सौध[1] अद्यावधि खड़ा है। यदि उत्थान की मिथ्या मोघाशा[2] से इस चट्टान को जरा भी क्षति पहुँचाई गई तो सारा महल ढह जायेगा। सुधार और उद्धार के नाम पर केवल संहार ही होगा। दोष अपने मे है। अपना सुधार करना चाहिये। धर्मशास्त्र और सनातनधर्म मे कोई सैद्धान्तिक त्रुटि होने के कारण वर्तमान हिन्दूसमाज मे दोषों की सृष्टि नहीं हुई है। गड़बड़ी का कारण अपने आदर्शों को भुला देना है। भूमि मे पड़कर यदि पानी मटमैला होगया है तो कोई बुद्धिमान् मेघ को गाली नहीं देगा।

पाश्चात्य संस्कृति की हवा से जिनकी मेधानाड़ी मे लकवा लग गया है केवल वही सभी क्षेत्रों मे पुरुषों के समकक्ष स्त्रियों के समानाधिकार का बेसुरा राग अलापते हैं। इससे महिला का शील-गौरव सुरक्षित नहीं रह सकता। ललना की कोमल प्रकृति का ध्यान रखकर सामाजिक त्रुटियों के शोधन मे अग्रसर होना चाहिये। जीवन और सदन मे शान्तिलाभ का उत्तम पन्था यह है कि पुरुष मैदान मे कठोर श्रम करे और स्त्रियाँ बहके दिमाग की बातें छोड़कर चुपचाप अपना घर सम्हालें। पुरुष जो भी उपार्जन करे बिना कुछ बचाये घर की रानी के हाथ मे सौंप दे और उसे सारी व्यवस्था समझा दे। गृह

१—सौध=महल, विशाल भवन।
२—मोघाशा=व्यर्थ आशा।

की जो भी लक्ष्मी है उसपर गृहलक्ष्मी का एकाधिपत्य है। सुन्दर और सुश्रृङ्खल गृहव्यवस्था स्त्रियों का ईश्वरप्रदत्त गुण है। पुरुष इस कार्य को इतनी उत्तमता और दक्षता से नहीं कर सकता।

स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे की प्रकृति का विशेष ख्याल रखना चाहिये। जहाँ पर स्त्रियों को प्राण देकर पति की सेवा लिखी है वहाँ पति को यह आदेश नहीं है कि अपनी सेवा कराते-कराते वह उस बेचारी की जान ही लेले। दोनों को स्वकर्त्तव्य-निष्ठ होना चाहिये। जो सच्चाई से अपना कर्तव्य पालन नहीं करता वह दूसरे को किस मुख से शिक्षा दे सकता है ?

आदर्श दम्पती का परस्पर वही सम्बन्ध है जो जीव का देह से है। शरीर मे उभय तत्त्व संलिष्ट[1] हैं और बाह्य जगत् मे विसर्ग के लिए विरञ्चि ने इनको विश्लिष्ट[2] कर दिया है। जाया यह समझे कि पति मूर्त्तिमान् हमारा वहिश्चारी आत्मा है और पुरुष स्त्री को अपनी एक द्वितीय काया माने। अपनी प्रकृति, अपनी इच्छाशक्ति, अपना स्वभाव सदा अपना ही है; अपनी आत्मा के प्रतिकूल वह कोई काम नहीं कर सकता। देह के विना जीव और जीव के विना देह कुछ भी करने मे समर्थ नहीं।

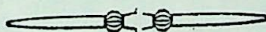
जीव शिवरूप और नारी पुरुषकी अर्द्धाङ्गिनी मानी गई है। अतएव प्रत्येक विवाहित पुरुष लोक में अर्द्धनारीश्वर शंकर का स्वरूप है। स्त्री मे पति के प्रति पूर्ण श्रद्धा और पुरुष मे स्त्री के प्रति पूर्ण विश्वास होना चाहिये। श्रद्धा की मूर्त्ति स्त्री साक्षात् भवानी है और विश्वास मूर्त्ति पुमान् स्वयं शंकर

१—संश्लिष्ट मिले हुए।
२—विश्लिष्ट अलग-अलग।

है। उनके पुत्र होते हैं "बुद्धिराशि शुभगुण सदन" और जिस देश मे ऐसे स्त्री-पुरुष बसते हैं वह है कैलाशपुरी। उन दोनों का मिलन होता है अन्तःकरण मे स्थित परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये।

"भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥२॥

रामचरित्रमानस—बा०



अष्टोद्वाहविधिः

"तेनेशितं कर्म विवर्तते ह" श्वेता० ६–२

परमेश्वर के शासन से जगत् के सब काम हो रहे हैं। मनमानी करने के लिये यहाँ किसी को स्वतन्त्रता नहीं है। 'महद्भयं वज्रमुद्यतं यः' कठ०—ईश्वर हाथमे भयंकर वज्र उठाये खड़ा सबका नियमन कर रहा है।

संसारमे अविधि का राज्य नहीं, न है अनियम को लेश भी स्थान, प्रत्येक कार्य विधि से बँधा है। 'विदधाति विश्वमिति विधिः' विधि ने ही विश्व को धारण कर रक्खा है। वायु, इन्द्र, चन्द्र विधिके भय से दौड़ रहे हैं। सूर्य, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र सब विधान के वश मे हैं। शनि और शुक्र, शरद और शिशिर की गति मे कभी क्रमभङ्ग नहीं होता। न आम मे कभी अमरूद फलते। प्रकृति के कार्य मे तनिक भी अनियम हो तो संसार मे हाहाकार मच जाय। विधि के विना घड़ी की एक छोटी सुई भी नहीं हिलती तो इतना बड़ा संसार और समाज कैसे चल सकता है ? जैसे इन्द्रियव्यापार मे कोई अनियम घटने से शरीर रोगी होकर अन्त मे मर जाता है, उसी प्रकार मानव जाति, उसकी सभ्यता और संस्कृति भी विधि-विधान के विना नहीं टिक सकती। विधि या विधान का ही दूसरा नाम शास्त्र है। शास्त्र का अक्षरार्थ अनुशासन होता है। नीरवत् नरजीवन का अधः-प्रवाह होने के कारण उन्नति के लिये अनुशासन अनिवार्य है। अनुशासन के उल्लंघन से अनुशासक और शास्त्र की कोई क्षति नहीं, क्षति मुख्यतः शिष्य ही की होती है।

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

गी० १६-२३

शास्त्रविधि को उत्सर्ग करके जो मनमानी काम करता है उसका काम सिद्ध नहीं होता, क्षणिक सिद्धि मिली भी तो वह सुख का कारण नहीं होती, जीवन के चार दिन किसी तरह सुख मे कट भी गये तो अन्त मे उससे परमार्थ सिद्ध नहीं होता। अतएव विवाह मे शास्त्रवचनों को प्रमाण मानकर आचरण करना ही श्रेयस्कर है।

मानवसमाज विवाह का ही परिणाम है। मनुष्येतर प्राणियों की संसार मे सर्वत्र एक सी प्रणय-विधि है। वे कोई कर्म करते नहीं उनसे कर्म कराया जाता है। किन्तु मनुष्य नित्य नवीन कर्मों का आरम्भ कर सकता है; वह भूमण्डल की प्रगतिशील ऊर्ध्वमुखी चेतना है; उसके पीछे बहुत बड़ा इतिहास लगा हुआ है। अतएव वसुधा मे जितने देश, उतनी ही मानव जातियाँ और उनकी उतनी ही औद्वाहिक[1] विधियाँ हैं। सबकी भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान की शैली, संस्कृति और सभ्यता मे अल्पाधिक भिन्नता है। यद्यपि पृथ्वी मे पृथक्-पृथक् देश मनुष्य की स्वकल्पित झूठी रचना है, परमेश्वर ने उन भेदों को नहीं बनाया है, "सकल भूमि गोपाल की" ईश्वरकृत तो केवल एक अखण्ड भूमण्डल है। परन्तु यह सत्य होते हुए भी स्वदेश की मिथ्या, कल्पित, सीमा मिटाकर औदार्य का परिचय देने के लिये क्या आज कोई राष्ट्र तैयार है? सूच्यग्र सीमोल्लंघन से दो देशों मे खून की नदियाँ बह जाती हैं। ठीक

१—औद्वाहिक=वैवाहिक।

उसी प्रकार मनुष्यमात्र की सभ्यता और संस्कृति मे मौलिक एकता होते हुए भी प्रत्येक जाति की कुछ अपनी सांस्कृतिक विशेषता है। उसे मिटाने का निरर्थक प्रयास न कर उससे जीवन मे ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये। दूसरों की दृष्टि मे उसका मूल्य और उसकी कोई उपयोगिता न हो तो न रहे। परन्तु अपने लिये उसका महत्त्व है और उससे जीवन के उत्कर्ष मे प्रेरणा मिलती है। वस्त्र को जैसे भी लपेट लिया जाय देहरक्षा की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। परन्तु एक विद्वान् सन्यासी गैरिक वस्त्र के बदले कोट-पतलून पहनकर आये तो श्रद्धा से किसी का मस्तक उसके सामने नहीं झुकेगा। कौन सभ्यता अच्छी और कौन बुरी का व्यर्थ विचार नहीं करना चाहिये। अपने देश मे अपना राज और अपने देश मे अपना धर्म।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

गीता ३–३५ ॥

सुआचरित परधर्म से गुणविरहित स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वधर्म मे मौत भली, परधर्म भयंकर है। सुतरां हिन्दू-समाज के लिये हिन्दू-वैवाहिक प्रणाली ही मंगलकारी है। उन्हीं ठोस नियमों के कारण अगणित अग्निपरीक्षा के बाद भी भूतल की सबसे पुरानी जाति और संस्कृति आजतक संसार मे जीवित है। देश-काल का विचार कर उन नियमों मे सुधार किया जा सकता है, उनके स्थान मे अन्य का अङ्गीकार नहीं।

सनातन धर्म के आचार्यों की जीवन के प्रति ठीक वैसी ही कल्पना नहीं जैसी धरा के अन्य जातियों की है। हमलोगोंकी दृष्टि मे जीवन नित्य है, यह धारा अनन्त से चली है और

अनन्त मे ही चलकर समाप्त होगी। देहका जन्म-मरण तो अनन्त जीवन के अनन्त अध्याय हैं। भगवान् और धर्म को छोड़कर ऋषियों ने जीवन के किसी भी अङ्ग का दर्शन नहीं किया। और विवाह जीवन का साधारण नहीं, बहुत बड़ा अङ्ग है। विवाह जाति का श्रोत है और जाति संस्कृति का। और राष्ट्र है जाति एवं संस्कृति दोनों का आश्रय या अधिष्ठान। इसलिये धर्मशास्त्र के विना विवाह का कोई अर्थ नहीं। मनुष्य केवल हाड़चाम का नहीं बना है। देह का सम्बन्ध क्या जोड़ना है वह तो सभी का भिन्न-भिन्न है और भिन्न ही रहेगा। न तो एक के खाने से दूसरे का पेट भरता और न एक के मरने से दूसरा कोई मरता। उद्वाह मे काया के साथ-साथ मन, प्राण और आत्मा का भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है; देह नाश के वाद सूक्ष्माङ्ग वने रहते हैं अत: दाम्पत्य सम्बन्ध भी वने रहने की पूरी सम्भावना है। तस्मात् हिन्दू धर्मशास्त्र के द्वारा किया गया उद्वाह[1] अटूट है, उसका विच्छेद नहीं हो सकता। वृद्ध च्यवन की तरुणी भार्या सुकन्या अश्विनीकुमारों से कहती है "यस्मै मां पिता अदात् नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामि" शत० ब्रा० ४-१-५-६। जिसको हमारे पिता ने दिया है, वह कैसा भी हो, देह मे प्राण रहते उसे मै कदापि न छोड़ूँगी। अच्छा जिन्दा न सही जब वह मुर्दा होजायेगा तब क्या दूसरा पति कर लोगी ? अरे हट, तब तो मै भी मर जाऊँगी। अब जो जीवन-मरण मे पदपद का संगी है, जिसकी जीवनतन्त्री के प्रत्येक स्वर से स्वर मिलाकर नाचना है, जिसके रक्त से रक्त घोलकर भावी मानव जाति और संस्कृति का बीज बोना है उसके चुनाव मे सतर्कता और कठोर नियम का पालन होना

१—उद्वाह=विवाह

ही चाहिये। परन्तु जन्म से मनुष्य के स्वभाव मे वैचित्र्य होने के कारण एक ही विधि से, चाहे वह कितनी भी उत्तम क्यों न हो, सब का काम नहीं चल सकता। स्वभाव के साथ छेड़छाड़ करना किसी को रुचिकर तो होता ही नहीं उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी छिन जाती है। और यदि कोई नियम न हो तो मनुष्य उच्छृङ्खल होजाय। इसलिए प्रत्येक पहलू का विचार करके मनुष्य के त्रिगुणस्वभाव का ध्यान रखते हुए आर्य ऋषियों ने उद्वाह की अष्टविधि अवधारित किया है। सा यथा—(१) "वरम् आहूय यथाशक्त्यलंकृता कन्या यत्र दीयते स ब्राह्मः"—वर का आह्वान कर यथाशक्ति अलंकृता कन्या जिसमे दीजाय वह ब्राह्मविधि है। दाता शीलवान्, विद्वान् वर को घर मे स्वयं बुलाये। अर्चना करके उसे सन्तुष्ट करे और न्यायपूर्वक कन्या का दान करदे। "प्रसाद्य चार्च्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। दद्यात् कन्यां यथान्यायं ब्राह्मोधर्मः प्रकीर्तितः॥" (२)—"यत्र यज्ञस्थाय ऋत्विजे कन्यादानं स दैवः"—यज्ञ मे स्थित याजक के लिये कन्यादान दैवविधि है। सविधि यज्ञ का आयोजन कर यज्ञ करने या कराने वाले ऋत्विज् को अलंकृता कन्या दान करदे, जैसे महाराज रोमपाद ने अपनी शान्ता नाम्नी कन्या ऋषि शृङ्गी को समर्पित की थी।

"यज्ञ तु वितते सम्यक् ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य तथादानं दैवोधर्मः प्रशस्यते॥"

(३)—"यत्र वरात् गोद्वयं गृहीत्वा तेनैव सह कन्यादानं स आर्षः"—जिसमे वरपक्ष से एक जोड़ा गाय लेकर उसीके साथ कन्यादान कर दिया जाय वह आर्षविधि है। एक या दो जोड़ा गैया हो अथवा गाय-बैल के एक या दो जोड़े हों, कन्या का

पिता उन्हें वरपक्ष से धर्मपूर्वक ग्रहण कर उन्हीं के साथ वेद-विधि से कन्यादान करदे।

"एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवत् आर्षोधर्मः स उच्यते॥" मनु०।

(४) "यत्र अनया सह धर्मं चरतां इति नियमं कृत्वा कन्या-दानं स कायः"—जिसमे "तुम दोनों साथ-साथ धर्माचरण करो" केवल इतना ही नियम करके कन्यादान कर दिया जाय वह प्राजापत्य विधि है।

वधू के अभिलाषी योग्य वर की अर्चना कर सहज रीति से उसे कन्यादान करदे "सहजा दीयतेऽर्थिने" और उनसे केवल इतना ही कहे कि तुम दोनों मिलकर एकसाथ धर्म का आचरण करना। बस इसकी इतनी ही साधारण विधि है।

"सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ मनु०।

(५)—"यत्र धनं गृहीत्वा कन्यादान स आसुरः"—जिसमे धन लेकर कन्यादान किया जाय वह आसुर विधि है। इसमे कन्या और उसकी ज्ञाति वाले दोनों को यथाशक्ति द्रव्य देकर कन्या लीजाती है। स्वेच्छाचार की झलक होने के कारण कन्यादान की इस विधि को आसुर कहा है।"

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यात् आसुरो धर्म उच्यते॥

मनु०।

(६)—"यत्र कन्यावरयोः अन्योन्यानुरागात् त्वं मे भार्या त्वं मे पतिः इति निश्चयः स गान्धर्वः—जिसमे वर-कन्या के

परस्पर अनुराग से 'तुम मेरी भार्या हो और तुम मेरे पति' ऐसा निश्चय कर लिया जाता है वह गान्धर्व विधि है। वर-कन्या अपनी इच्छा से संयोग कर लेते हैं। गान्धर्व विधि में दोनों की राजी-खुशी की शर्त ही पर्याप्त है। यह काम-वासना प्रधान है।

इच्छयान्योन्यसंयोगात् कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मिथुन्यः कामसंचरः॥

(७)—"यत्र बलात्कारेण कन्याहरणं स राक्षसः" कन्या की अनुमति से विरोधियों के सामने बल का परिचय देकर स्वर्ण कन्या का आहरण करना राक्षस विधि है।

(८) यत्र सुप्तायां मत्तायां प्रमत्तायां वा कन्यायां निर्जने गमनं विवाहानां पापिष्ठः स पैशाचः—सोई हुई, बेहोश, असावधान कन्या के पास एकान्त में जाना पैशाचिक कार्य है। घोर पापी जन ही इस तरीके से काम लेते हैं।

उद्वाह की उक्त अष्टविधियों में पूर्वपूर्व वर और उत्तरोत्तर अवर हैं। सभी प्रकार के आदमियों की सुविधा का ख्याल करके विशेष परिस्थिति में अवर विधियों को भी मान्यता दे दीगई है। श्रेष्ठ पुरुषों को उनका आचरण नहीं करना चाहिये. वे निषिद्ध और निन्द्य हैं। अष्ट विधियों का अभिप्राय यहाँ ऋषियों के ८ आदेश नहीं। यहाँ पर उनका इतना ही साधारण तात्पर्य है कि स्त्री-पुरुष के प्रणय-सम्बन्ध को लेकर अधिक से अधिक मनुष्य की आठ प्रकार की प्रकृति हो सकती है। अष्ट नियम नहीं, अपितु प्रणय-प्रकृति का अष्टधा दर्शन है। ऋषि दूरदर्शी थे, उन्हें मनुष्य की दुर्बलता का ज्ञान था। वे समझते थे कि इस विषय में किसी भी एक कड़े कानून से काम चलने

वाला नहीं। उनका दृष्टिकोण यह था कि मना करने पर भी अनजान में यदि कोई अबोध बालक कोई अवांच्छित आचरण कर ही बैठे तो उस बात को अधिक तूल न देकर मान लेना चाहिये। पैशाच, आसुर और राक्षस शब्दों से ही उन विधियों की गर्हणा सिद्ध होती है। कौन भला आदमी असुर, पिशाच और राक्षस बनना चाहेगा ? किन्तु संसार में दुर्जनों की संख्या कम नहीं है। अतः सभी को सावधान होकर नर-पिशाचों से अपने कन्यारत्न की रक्षा करनी चाहिये। "पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन" पैशाच और आसुर विधियों से कोई कदापि विवाह न करे, ये अधर्म हैं।

धन लेकर कन्या विक्रय करना तामस विधि है। वार्त्ता-वृत्ति[1] वाले जो क्षुद्र वणिक् हैं उन्हीं में कहीं-कहीं यह प्रथा पाई जाती है, "आसुरः वैश्ये"। छलपूर्वक कन्या का अपहरण करना अत्यन्त गर्हित, घोरतामसी कर्म है। गँवार शूद्र ही धोखा देकर अनिच्छिता की इच्छा करते हैं "शूद्रे पैशाचश्च गर्हितः"॥

गान्धर्व और राक्षस विधियाँ रजोगुण प्रधान हैं। कन्या-हरण का राक्षसी कर्म तो कोई आर्य पुरुष कर ही नहीं सकता, इससे उसका तेज नष्ट होजाता है। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का और अर्जुन ने सुभद्रा का हरण कामातुरता-वश नहीं अपितु विशेष परिस्थिति में उन देवियों की ही प्रबल इच्छा और सम्मति से किया था। उन दिनों राजसी स्वभाववाले क्षत्रियोंमे वीरोचित विवाह विधेय माना जाता था, "गान्धर्वराक्षसौ राज्ञः"। लक्ष्मी रुक्मिणी ने कृष्ण परमात्मा को गुप्त सन्देश भेजा "हे मुकुन्द ! आप कुल, शील, सौन्दर्य, विद्या, वयस्, धन-धाम से सब प्रकार मेरे तुल्य हैं। मैने आपको आत्म-

१—वार्तावृत्ति=व्यापार, लेनदेन।

समर्पण किया हैं, आत्मार्पितश्चभवतः। मन ही मन मैंने आपको पति वर लिया है, तन्मे भवान् खलु वृतः पतिः। किन्तु बन्धुगण मेरे प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं इसलिये आप पधारिये और वीरता का मूल्य चुकाकर राक्षस विधि से मेरा पाणिग्रहण कीजिये, मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्। हे अम्बुजाक्ष! यदि आप ऐसा न करेंगे तो मैं व्रत के द्वारा शरीर सुखाकर प्राणत्याग कर दूंगी, इस प्रकार सैकड़ों जन्मों के बाद कभी भी तो मुझे भगवान् का प्रसाद मिलेगा ही, 'जह्यामसून् व्रत-कृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्।" स्मरण रहे तब भारतवर्ष में केवल सनातनधर्म के ही पुजारी बसते थे। आज की स्थिति भिन्न है, इस भोगप्रधान युग में उन विधियों के प्रचलन से कोई मर्यादा नहीं रह सकती। अब समाज में यह प्रथा है भी नहीं। राक्षस, पैशाच और आसुर इन तीन अवद्य विधियों को निकाल देने से गान्धर्व के सहित पांच विधियाँ और बचती हैं।

गान्धर्व अर्थात् प्रीति-परिणय। जो मातापिता चाहते हैं कि उनके लड़की-लड़के प्रेम-मद से मतवाले होकर गलियों की गन्दी नालियों में न गिरें उन्हें इस भूल को जड़ से सुधारना चाहिये। काम के आवेश में जिन कन्याओं को जन्म दिया जाता है उनके शरीर में काम के कीटाणु अधिक होते हैं; कामवाण सहन करने की सामर्थ्य उनके शरीर में नहीं होती। कामातुर होकर मेनका अप्सरा में विश्वामित्र ने शकुन्तला को जन्म दिया। वह ऋषि के आश्रम में पाली गई। यौवन की कलियाँ अभी अर्द्धमुकुलित दशा में ही थीं कि एक दिन महर्षि कण्व थोड़ी देर के लिये आश्रम से बाहर कहीं फलाहरण करने के लिये चले गये। इतने में महाराज दुष्यन्त घूमते-फिरते वहाँ पहुँचे। प्रथम दृष्टिपात से ही शकुन्तला मन्मथ के कुसुमबाण

से घायल होगई। दिनदहाड़े जरा सी आँधी आई कि दोनों के कपड़े उड़ गये। जैसा बीज वैसा पेंड़। यदि शकुन्तला ऋषि के लौटने तक ईषत्[1] धैर्य धारण कर लेती और उनसे अपना मन्तव्य प्रकट करती तो ऋषि बाधक न होकर स्वयं बड़ी प्रसन्नता से महाराज दुष्यन्त के साथ उसका विवाह कर दिये होते। आश्रम की पवित्रता नष्टकर गान्धर्व विवाह की आवश्यकता ही न पड़ती। दुष्यन्त-शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वह नाटक भी दुःखान्त रहा। राजा घर जाकर गन्धर्वनगर की इन सारी बातों को एकदम भूल गया। शकुन्तला कुछ दिन बाद भरत को गोद मे लेकर राजा के पास गई तो वह उसे पहिचान भी न सका। पति उसे पहिचान भी न सके इससे बढ़कर दुर्भाग्य किसी स्त्री के लिये भला और क्या हो सकता है? ऐसी अवस्था मे शकुन्तला का वैवाहिक जीवन सफल और सुखमय नहीं कहा जा सकता। दुष्यन्त, शकुन्तला की अपेक्षा, कहीं अधिक धैर्यशाली था। उसे धर्म और आश्रम की मर्यादा का पूरा ख्याल था। शकुन्तला का हावभाव देखकर उसके चित्त मे कुण्ठा[2] हुई और जबतक उसे यह निश्चय नहीं होगया कि यह हमारे ग्रहण करने योग्य क्षात्र-कन्या है तबतक सहसा प्रणय के लिये प्रस्तुत नहीं हुआ। दुष्यन्त मन ही मन कहता है :—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

अभिज्ञान शाकुन्तल।

यह ब्रह्मर्षि का आश्रम है। ऋषि-कन्याओं के सिवा अन्य वर्णों की कुमारियाँ यहाँ आ कैसे सकती हैं?

१—ईषत्=अल्प, थोड़ा।

२—कुण्ठा=हिचकिचाहट, संकोच।

हमारा मन धर्म मे प्रतिष्ठित है, वह इससे तिलभर भी नहीं डिग सकता। बात क्या है कि हमारे आर्य मन मे इसके प्रति अभिलाषा जगरही है ? हो नहो, इसमे सन्देह नहीं कि यह हमारे ग्रहण के योग्य क्षात्रकन्या है। सन्देह के स्थान मे शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषों के लिये अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही कार्य और अकार्य का निर्णय करने मे प्रमाण मानी गई है। आजकल जो लोग प्रेमपरिणय की गन्धर्वनगरी बसाना चाहते हैं, सच्चाई और दृढ़ विश्वास के साथ क्या वे ऐसा कह सकते हैं कि जो धर्म नहीं वह उनके मन मे नहीं और जो उनके मन मे नहीं वह धर्म नहीं ? गान्धर्व विधि मे रूप का आकर्षण ही मुख्य कारण है। मनुष्य का चर्मरङ्ग कपड़े के रङ्ग की अपेक्षा कहीं अधिक कच्चा और फीका है। उसका विश्वास कर जो विवाह करते हैं उनका प्रेम कली-कली मे उड़कर जाने वाले भौंरे की तरह अस्थिर होता है। थोड़े दिन बाद जब अन्योन्य के स्वभाव और जीवन की अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है तभी वैवाहिक जीवन की सफलता और विफलता का वास्तविक पता चलता है। स्वर्णबाला कहीं कलहप्रिया निकली तो जिन्दा ही नरक भोगना पड़ता है। मुख-कमल कुम्हला जाने से उसमे सड़न आजाती है। गुड़गुड़ हुक्का पीना अच्छा लगता है किन्तु उसे खोलकर उसके पेट का पानी देखा जाय तब पता चलता है कि उसमे कितनी तीव्र दुर्गन्ध है। देह मे चर्म के भीतर एक दूसरे के दिल का रङ्ग कैसा है उसे न जानकर जो लोग पतंगवत् केवल बाह्यरूप-रंग मे मोहित होकर आग मे जलते हैं उनके जीवन मे दुःख और पश्चात्ताप नित्य के अतिथि हैं। वर्ण, धर्म, जाति और संस्कृति के मर्यादा की रक्षा असम्भव होने के कारण इसयुग मे प्रीति विवाह को

प्रोत्साहन देना उचित नहीं। वैवाहिक जीवन मे माता, पिता और गुरुजनों पर निर्भर रहना ही बालक-बालिकाओं के लिये सबसे अधिक निरापद मार्ग है। वे अनुभवी, हितैषी और दूरदर्शी हैं। सभी पहलुओं पर विचार किये बिना वे सम्बन्ध नहीं जोड़ते। उनके सामने मानवजीवन का पूरा चित्र है, जबकि बच्चों के सामने अधूरा। बच्चा मातापिता के हृदय का टुकड़ा है, वे उसे धोखा न देंगे। इसप्रकार अन्त की चार विधियों मे कुछ तो वर्जित और कुछ सदोष हैं।

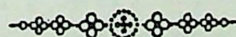
ब्राह्म, आर्ष, दैव और प्राजापत्य ये आदि की चार सात्त्विक विधियाँ मनुष्यमात्र के लिये प्रशस्त हैं, विशेषतः आदि की तीन विधियों मे तो कोई दोष ही नहीं हैं। राजस-तामस स्वभाव वाले अन्यवर्ण के व्यक्ति इन चार के अलावा अपर विधियों से भी काम ले सकते हैं परन्तु सात्त्विक स्वभाव के जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं उन ब्राह्मणों को तो इन चार के अतिरिक्त अन्य विधियों से विवाह करना ही निषिद्ध है, यदि करते हैं तो वे पतित हैं। "चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः" वा "चत्वारो ब्राह्मणस्याद्याः"। विचार करने की बात है कि ऋषियों ने ब्राह्मणों के लिये अधिक कड़े कानून बनाये हैं। निर्धन से निर्धन व्यक्ति इन विधियों से अपनी कन्या का विवाह कर सकता है, शास्त्रों ने सभी वर्ग के लोगों के लिए रास्ता साफ कर दिया। अपने पास कोई अधिक सम्पत्ति न हो तो जौ-तिल आदि से थोड़ी साकल्य तैयार कर दैवविधि से वर के द्वारा होम कराये और उसे कन्यादान करदे। यदि कन्यापक्ष बिलकुल भिक्षुक हो, उसे एक पाव साकल्य भी न जुटे तो वरपक्ष से ही दो-एक गाय मागकर उसीके साथ आर्षविधि से कन्यादान करदे। विचार करने की बात है कि यदि कन्यापक्ष के पास गाय होती तो

आर्षविधि मे वह वरपक्ष से उसे क्यों मागता ? वरपक्ष से गाय लेकर अपने पास रखना पाप है, उसके साथ कन्यादान कर देना पाप नहीं। यदि कन्यापक्ष की तरह वरपक्ष भी इतना गरीब है कि उसके पास थोड़ी देर के लिये गोधन उधार देने तक के लिये नहीं। तब कहते हैं कि "इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सहजा दीयतेऽर्थिने" 'तुम दोनों एकसाथ मिलकर धर्माचरण करो' जबान से केवल इतना ही कहकर प्राजापत्य विधि से कन्यादान करदे। इससे सहज और कोई विधि नहीं। बिछाने को तृण, बैठने को भूमि, पीने को पानी और बोलने को मीठी वाणी इन चार चीजों की कमी किसी भी सज्जन के घर मे नहीं होती—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

ब्राह्मविधि मे वर को अपने घर बुलाकर कन्यादान किया जाता है। परन्तु कभी-कभी क्षत्रिय राजालोग ऋषियों के आश्रम मे ही कन्या को ले जाकर दान कर आते थे, जैसा कि मनु-शतरूपा ने कर्दम जी को देवहूति का दान किया था। वर्तमान हिन्दू समाज मे विवाह की केवल एक ब्राह्मविधि अपने विकृत रूप मे प्रचलित है। दुर्भाग्यवश अन्य सब विधियाँ लुप्त होगईं। आर्ष, दैव और प्राजापत्य विधियों का प्रचलन होजाय तो धनाभाव के कारण समाज मे एक भी गरीब की लड़की अविवाहित न रहे। बुद्धिमानों के विरोध करने पर भी अभीतक दहेज के दलदल से निकल कर समाज एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सका है। विवाह मे कन्या को धन देना पाप नहीं है, वह तो जितना अधिक दिया जाय अच्छा है। वरपक्ष

के लिये विवाह मे धन की शर्त लगाना पाप है और कन्यापक्ष के लिये पास मे पैसा होते हुए भी कन्या को पर्याप्त धन न देना पाप है। और घर मे छदाम हो या न हो विवाहोत्सुका किसी भी युवती को योग्यवर न मिलना सामाजिक पाप है, जिसका सन्ताप सबको समान रूप से भोगना पड़ता है। देने वाले का भाव अधिक से अधिक देने का हो और लेने वाले का भाव कम से कम लेने का हो तो धन भी मिले और प्रेम भी मिले। विवाह मे जो यौतुक[1] प्राप्त होता है शास्त्रविधि से उसमे कन्या का एकाधिपत्य है, वह धन उसको संकटकाल मे निर्वाह के लिये दिया जाता है। स्त्रीधन मे पति को भी कोई अधिकार नहीं। यदि पिता को इस बात का पक्का निश्चय हो कि वह जो कुछ भी देगा उसमे उसकी पुत्री का ही एकाधिपत्य होगा और उस धन को दूसरा कोई स्पर्श नहीं करेगा तो शक्तिभर ह अधिक से अधिक धन देना चाहेगा, यह एक बिलकुल स्वाभाविक बात है। विवाह मे धन का सौदा करने की कोई आवश्यकता ही उपस्थित नहो। परन्तु ऐसा कोई करता नहीं। लोग शास्त्र की कोरी बातें करते हैं। मानों सारा शास्त्र केवल दूसरों के ही लिंये है। अपने जीवन का दर्शन कठोर शास्त्र-दृष्टि से और दूसरे के जीवन का दर्शन उदारदृष्टि से करना चाहिये। समाज मे जागृति आरही है। आशा है कि भगवान् की कृपा से हिन्दू समाज के व्यावहारिक जीवन मे शीघ्र ही शास्त्र की प्रतिष्ठा होगी।



१—यौतुक=दहेज मे प्राप्त धन।

मनतन्त्री

पंचतन्त्र में एक मनतन्त्री कन्या की रोचक कहानी है। मातापिता चाहते थे कि उनकी कन्या भास्कर भगवान् की भार्या बने। परन्तु लड़की ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और यथेष्ट फल पाया। कहानी यथा :—

कुलपति याज्ञवल्क्य गंगातटवर्ती आश्रम में निवास करते थे। उन्होंने तपोबल से एक कन्या निर्माण किया और अपनी स्त्री को देकर कहा कि इसे यत्न से लालन-पालन कर बड़ी करो। बारह वर्ष बीत गये। उसका कुसुमित यौवन देखकर भार्या ने एकदिन भर्त्ता से कहा कि पतिदेव ! क्या आपको इस बात का बिलकुल ख्याल नहीं कि आपकी पुत्री के विवाह का समय अतीत हुआ जारहा है ? कुछ तो घर-गृहस्थी का ख्याल करना चाहिये ? याज्ञवल्क्य ने कहा देवि ! कोई चिन्ता मत करो, जो सब प्रकार इसके समान है मैं उसी को अपनी प्यारी लड़की दूँगा, दूसरे को नहीं। शास्त्रों में कहा है कि जो

"अथ विवाहयोग्यां तां दृष्ट्वा भर्तारमेव जाया उवाचः— भो भर्त्तः ! किमिदं नावबुध्यसे यथास्याः स्वदुहितुर्विवाहसमयातिक्रमो भवति। तेनोक्तम्—अहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि, नान्यस्मै। उक्तं च।

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च नतु पुष्टविपुष्टयोः ॥

कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान् सप्त विचिन्त्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥

वित्त और कुल मे सब प्रकार समान हैं उन्हीं मे प्रेम और विवाह होता है, एक पुष्ट हो और दूसरा अपुष्ट तो उनमे यह सम्बन्ध नहीं होता। कुल, शील-स्वभाव, सनाथता, विद्या, वित्त, शरीर की डीलडौल-सकलसूरत और दोनों की आयु इन सात गुणों का विचार करके ही बुद्धिमान् लोग कन्यादान करते हैं। शेष बातें अपने-अपने भाग्य पर निर्भर करती हैं, उनकी चिन्ता न करनी चाहिये। मै आदित्य भगवान् को सब प्रकार इसके योग्य समझता हूँ। तस्मात्, यदि तुमको और तुम्हारी कन्याको भी रुचै तो मै सूर्य नारायण को आह्वान कर उन्हींको यह कन्या दान करदूँ। स्त्री ने कहा, बड़ी अच्छी बात है, आपने बहुत ही अच्छा वर सोचा है, निश्चय ऐसा ही कीजिये। मुनि ने रवि का आह्वान किया। वेदमन्त्र के द्वारा किये गये आमन्त्रण को वे टाल न सके और तत्क्षण आकर बोले। भगवन्! कहिये, आपने हमे क्यों बुलाया है ? याज्ञ-वल्क्य ने कहा, यह मेरी कन्या है, यदि यह आपको वरण करे तो आप इसके साथ विवाह करलें, बस इतना ही प्रयोजन है।

तद् यदि अस्याः रोचते तदा भगवन्तमादित्यमाहूय तस्मै प्रयच्छामि। सा प्राह--"इह को दोषः क्रियतामेतत्" अथ मुनिना रविराहूतः।

वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच—भगवन् किमहमाहूतः। सोऽब्रवीत—"एषा मदीया कन्यका तिष्ठति। यद्येषा त्वां वृणोति तर्हि उद्वहस्व" इति।

एवमुक्त्वा स्वदुहितरमुवाच—"पुत्रि! किं तव रोचते एष भगवाँस्त्रैलोक्य दीपकोभानुः"।

पुत्रिकाब्रवीत्--तात! अतिदहनात्मकोऽयम् नाहमेनमभि-लषामि। तदस्मादन्यः प्रकृष्टतरः कश्चिदाहूयताम्।

इतना कहकर मुनि ने अपनी दुहिता से पूछा, पुत्रि ! ये त्रैलोक्य-दीपक भगवान् भानु सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं, कहो तुम्हारी क्या इच्छा है ? कन्या ने कहा तात ! इनका मिजाज बहुत गरम है, तेज इतना प्रचण्ड कि मानों जला ही डालेंगे। शील मे तो इनको परशुराम का बड़ा भैया ही समझिये। इनसे हमारी पटरी न बैठेगी। आप कृपा करके इनसे भी श्रेष्ठ कोई हो तो उसे बुलाइये। कन्या की बात सुनकर ऋषि के तो छक्के छूट गये, वे बहुत चकड़ाये। मन मे सोचा कि मेरी समझ मे तो इनसे बढ़कर त्रिलोकी मे कोई है नहीं। अब इसका पता सविता देवता से ही पूछना चाहिये। मुनि ने भास्कर से कहा, भगवन् ! आपसे भी प्रकृष्टतर संसार मे कोई हो तो कृपया बताइये। "जी हाँ हमसे अधिक मेघ है, उसके आगे मेरी नहीं चलती। जब वह हमे ढक लेता है तब मेरा कहीं पता नहीं चलता, मै छिप जाता हूँ" सूर्य इतना कहकर चलते बने। मुनि ने मन्त्रबल से मेघराज को बुलाकर लड़की से कहा, बेटी ! मै तुमको इन्हीं के हाथ सौंप देता हूँ। कन्या ने कहा, वाह ! अच्छा मूर्ख वर चुना आपने मेरे लिये। मै इस कलूटे से ब्याह नहीं करती।

अथ तस्याः तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः भास्करमुवाच, भगवन् त्वत्तः अधिकः अस्ति कश्चिन् ? भास्करः प्राह, अस्ति मत्तः अपि अधिकः मेघः येन आच्छादितः अहम् अदृश्यो भवामि। अथ मुनिना मेघमपि आहूय कन्या अभिहिता पुत्रिके ! अस्मै त्वां प्रयच्छामि। सा प्राह कृष्णवर्णोऽयम् जड़ात्मा च। तदस्मात् अन्यस्य प्रधानस्य कस्यचित् मां प्रयच्छ। अथ मुनिना मेघः अपि पृष्टः। भो भो मेघ ! त्वत्तोऽपि अधिकः अस्ति कश्चित् ? मेघेनोक्तं, मत्तोऽपि अधिकः अस्ति वायुः। वायुना हतः अहम् सहस्रधा यामि। तत् श्रुत्वा मुनिना वायुः आहूतः। आह च

आप इससे भी अच्छा किसी दूसरे को बुलाइये। मुनि ने मेघ से भी पूंछा, अरे भैया बादल ! तुमसे भी प्रधान संसार मे कोई है ? हाँ, है; वायुके सामने हम मुख की खाते हैं, डरकर भगते हैं तो भी वह छोड़ता नहीं, हमारे शरीर के हजारों टुकड़े कर डालता है। घनानन्द की बातें सुनकर मुनि ने पवनदेव का आह्वान किया और बोले पुत्रि ! ये गगनविहारी वायुदेवता तो तुम्हारे विवाह के लिये उत्तम हैं न ? नहीं पिता जी ! ये बहुत ही चंचल स्वभाव के हैं, कहीं एक छिन थिर नहीं रहते. भला इनका क्या विश्वास ? इनसे भी अधिक कोई हो तो अच्छा है। मुनि ने अनिल-वरण राय से पूछा, महाराज ! आपही बताइये आपसे बड़ा दुनिया मे कौन है ? अरे जी, हमसे बड़ा पहाड़ है। हम बलवान होते हुए भी इससे पार नहीं पाते, यह हमारी गति को रोंक देता है। मुनि ने मन्त्रयोग से गिरिराज को आह्वान कर कन्या से पूंछा, बेटी ! कहो तो मै तुम्हें इन्हीं को समर्पित करदूँ। कन्या ने कहा, पिता जी ! पत्थर की छाती इसकी, दया-मया का तो इसमे लेश नहीं, यह बूढ़ा बड़ा कठोर दिल का है, जड़मूर्ख जब देखो सदा बैठा ही रहता है। इसे छोड़कर आप मेरे लिये कोई दूसरा वर खोजिये। मुनि

पुत्रिके ! किम् एष वायुः ते विवाहाय उत्तमः प्रतिभाति ? सा अब्रवीत्। तात ! अति चपलः अयम् तदस्मादपि अधिकः कश्चित् आनीयताम्। मुनिराह, वायो ! त्वत्तः अपि अधिकः अस्ति कश्चित् ? पवनेनोक्तम्, मत्तोऽपि अधिकः अस्ति पर्वतः येन संस्तभ्य बलवानपि अहं ध्रिये। अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्यामुवाच। पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि। सा प्राह. तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च। तदन्यस्मै देहि माम। मुनिना पर्वतः पृष्टः। भो पर्वतराज ! त्वत्तः अपि अधिकः अस्ति कश्चित ?

परेशान होकर अन्त मे शैल से भी प्रश्न किया, पर्वतराज ! आपकी जानकारी मे आपसे भी महीयान् संसार मे कोई दूसरा हो तो कृपया कहिये। गिरि ने कहा, वज्रदन्त चूहे हमसे सब बात मे अधिक हैं, ये हमारे शरीर को जबरन खोदकर खोखला बना डालते हैं। मुनि ने मुषिक को बुलाकर लड़की को दिखाया और कहा बेटी ! लो ये तुम्हारे मुषिकराज आगये। कहो, ये तुम्हारे मनके लायक तो हैं न ? चूहे को देखकर लड़की बड़ी प्रसन्न हुई और कहा पिता जी ! मै पूर्वजन्म मे चुहिया थी। मेरे संस्कार नहीं मिटे। आप मेरा शरीर फिर चुहिया का करदो, ताकि मै अपने मनपसन्द के साथ मिलकर घर-गृहस्थी का सुख भोग सकूँ। मुनि याज्ञवल्क्य ने अपने तपोबल से उसे चुहिया बनाकर चूहे को प्रदान कर दिया।

जो कन्यायें माता-पिता की बात न मानकर मनपसन्द शादी पर ही अधिक जोर देती हैं उनकी मति इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि उन्हें सूर्य नहीं भाते, उनके गले आखिर चूहे पड़ते हैं।

सुतरां अभिभावक गुरुजनों पर निर्भर रहना ही श्रेयस्कर है।

गिरिणोक्तम्। मत्तः अपि अधिकाः सन्ति मुषिकाः ये मच्छरीरं बलात् विदारयन्ति। ततो मुनिर्मूषिकमाहूय तस्यां अदर्शयत्। आह च पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि। किम् एष प्रतिभाति ते मुषिकराजः ? सापि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरोवाच। तात ! मां मूषिकां कृत्वास्मै प्रयच्छ। येन स्वजाति विहितं गृहधर्ममनुतिष्ठामि। ततः सः अपि स्वतपोबलेन तां मुषिकां कृत्वा तस्मै प्रादात्"। पंचतन्त्रके काकोलूकीयम् कथा १२

वरण

(क)

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात् ॥

भा० ११-१७-३६

" कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्
पतिं कुलवतीधीरा कन्या वृणीत " भा० १०-५२-३८

जो आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ हो वह गृहार्थी अवस्था में अपने से कुछ छोटी, अपने ही वर्ण की, निर्दोष, अनुरूपा कन्या से विवाह करे। अथवा उत्तम न होते हुए भी अपने से एक वर्ण नीचे की कन्या का पाणिग्रहण करना शास्त्र-निषिद्ध नहीं। कुल, शील, रूप, विद्या, वयः, द्रव्य और धाम इन सात बातों में अपने समान पति को धैर्यवती, कुलवती कन्या वरण करे।

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥

भा० १०-६०-१५

विवाह और मित्रता का सम्बन्ध उन्हीं में शोभा देता है जो वित्त, जन्म, ऐश्वर्य, आकृति और स्थिति में सर्वथा आत्मतुल्य हों। आकृति, प्रकृति, संस्कृति, मति, गति, रीति और नीति में वर-कन्या दोनों समान हों इसका विचार अवश्य करना

चाहिये। पहिले ऋषि-कुमारों का मातुलालय क्षत्रिय-राज-घरानों मे होना एक साधारण बात थी। तपस्वी ब्राह्मणों मे तब कन्याओं की संख्या भी कम होती थी। वर्तमान समाज की स्थिति भिन्न है। आज एक वर्ण के लोगों मे ही सबके साथ शादी-व्याह नहीं होता। वर्ण का क्रियात्मक रूप तो कहीं दिखाई नहीं पड़ता; नाम-रूप बना है, जिनमे एक-एक के भीतर अनेकों उपजातियाँ बन गई हैं। उनमे व्याह के घर बँधे हैं। इसमे कई प्रकार की सुविधा भी है। यदि उससे काम चल जाय तो ठीक है उसे तोड़ने की कोई जरूरत नहीं, काम न चले तो एक वर्ण के लोगों मे चाहे वे किसी भी विरादरी के क्यों न हों, निःसंकोच परस्पर शादी-व्याह होना चाहिये; निश्चय इस विषय मे शास्त्र की ऐसी ही निर्विवाद आज्ञा है। ऋषियों का, जो इस देश के नेता थे, अभाव होगया! जन-साधारण साहसिक कदम उठाने मे हिचकिचाते हैं। शिक्षित-अशिक्षित, धनी-गरीब कोई भी हो कन्या को योग्य वर मिलना हिन्दू समाज की आज एक जटिल समस्या होगई है। कुल मे कन्या का जन्म लेना लोग अभिशाप समझते हैं। धन के सौदे से तो बेहद परेशानी है। दहेज प्रथा के विरोध की आवाज तो लड़कीवाला ही उठाता है, लड़कावाला तो कसकर लेता है। लेनेवाला कहे कि हम नहीं लेंगे, देने वाला कहे कि हम और देंगे तो समाज मे सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा हो। "धर्मा-दर्थश्चकामश्च स किमर्थं न सेव्यते" व्यास जी कहते हैं कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते? अधन से आजतक कोई धनी होता नहीं देखा गया। विद्वत्वर्ग को सवर्ण, सस्ती शादी का प्रचार करना चाहिये, अन्यथा आभ्यन्तरिक विद्रोहाग्नि भभक उठेगी और

समाज मे विप्लव हो जायेगा। हिन्दूविवाह धन का नहीं, जीवन का सौदा है। संयुक्त परिवार मे कन्यायें अधिक वय की होजाने पर भी पवित्र बनी रहती थीं, किन्तु कौटुम्बिक जीवन दुर्भाग्यवश छिन्नभिन्न होरहा है। आधुनिक दूषित वातावरण से अखिल विश्व ग्रस्त है। डण्डे के बल किसी भी युवक-युवती का कौमार्य सुरक्षित नहीं रक्खा जा सकता। विवाह मे वर्ण-मर्यादा की केवल चार सीमा हों, बिरादरी की प्रधानता न होनी चाहिये। समय रहते न चेता गया तो काल के प्रभाव से हिन्दूजाति की सीमा का ही बाँध फूट जायेगा, वर्ण की कौन कहे उसे तो कलियुग का शिक्षितवर्ग मानता ही नहीं। समाज मे एक चेतना होनी चाहिये। तालाब के गतिहीन सड़े पानी की तरह जड़ता के साथ चिपकने से समाज स्वस्थ नहीं रह सकता।

आस्तिक हिन्दू परिवारों मे वर-कन्या की जन्मपत्री मिलाकर विवाह की प्रथा आजकल प्रचलित है। परन्तु एक तो सूर्यघड़ी से मिलाकर जन्मपत्री नहीं बनाई जाती, दूसरे स्थान-भेद से कालभेद भी होजाता है इसलिए ठीक मिलन नहीं होपाता। जन्मपत्री के साथ यदि दोनों की गर्भाधानके तिथि-नक्षत्र की कुण्डली भी मिलाई जाय तो एक-अपर का अंशी खोजने मे बड़ी मदद मिले। स्त्री मे पुरुषत्व और पुरुष मे स्त्रीत्व का अंश होना तो प्रत्यक्ष ही है। हिन्दू विश्वास के अनुसार स्त्री का अपना पूर्णांश पुरुष और पुरुष की अपनी पूर्णांशिनी शक्ति अवश्य कहीं न कहीं विश्व मे प्रकट होती है। उनमे कोई नवीन सम्बन्ध नहीं जोड़ना है, उन्हें खोजकर केवल मिला देना है। पुरुष को अपनी पूर्णांशिनी प्रकृति मिल जाय तो उन दोनों की चेष्टायें कदापि एक दूसरे के विरुद्ध न हों, उनमे सुदृढ़ प्रेम होना ध्रुव है। अपनी प्रकृति अपने विरुद्ध आचरण

नहीं कर सकती। उन्हें ब्रह्मज्ञान लाभ हो सकता है। पुरुष-प्रकृति या शिव-शक्ति का मिलन ही तो सिद्धि है। यहाँ नित्यानन्द और नित्यशान्ति है। गार्हस्थिक जीवन की जितनी भी अशान्तियाँ हैं उनका मूलकारण है अपने पुरुष से अपनी प्रकृति का ठीकठीक मिलन न होना। अपना अंशी पुरुष लाभ करने के लिए पहिले कन्यायें तप करती थीं। देवता और ऋषि उन्हें अनुसन्धान मे मदद करते थे। पहिले लोगों की आत्मा इतनी पवित्र, निर्मल और निष्काम होती थी कि जो सब प्रकार अपना है केवल उसीको देखकर मन मे प्रेम होता था, अन्य को देखकर नहीं। नारद के मुख से सत्यवान् की आशु मृत्यु सुनकर भी सावित्री में पतित्वेन उसीको वरण किया। श्रीरामकृष्ण परमहंस की विवाह के लिए इच्छा तो नहीं थी परन्तु माता चन्द्रमणि की प्रवल इच्छा देखकर वे चुप रहे, कोई विरोध न किया। बधूकी खोज होने लगी। भगवत्प्रेम मे पागल आदमी को कोई अपनी लड़की देने के लिये राजी न हो। माता को चिन्तित देखकर परमहंस जी ने ध्यान लगाया और लोगों से कहा कि जाओ यहाँ से ५–६ मील दूर पर जयरामवती ग्राम मे शारदा नामकी एक ६ वर्ष की लड़की है वह हमारे साथ विवाह के लिये राजी होजायेगी। अन्त मे ऐसा ही हुआ और २२ वर्ष के वर के साथ कन्या का विवाह होगया। परन्तु वह विवाह तो आत्ममिलन के लिए हुआ था शारीरिक मिलन के लिए नहीं। जब शारदा पूर्ण युवती हुई तो दक्षिणेश्वर मे जाकर रामकृष्णदेव से मिली। परमहंस जी ने एकदिन उससे पूछा, कहो भोग चाहती हो कि भगवान्? दोनों एकसाथ नहीं चल सकते। शारदा ने कहा, मुझे भगवान् चाहिए, भोग-शोक नहीं।

अनुसन्धान मे जन्मपत्री की सहायता लेने का नियम बहुत

अच्छा है किन्तु यदि अन्य सब आवश्यक बातें अनुकूल हैं तो जन्मपत्री मे मिलान न होने पर भी विवाह कर देना चाहिये। क्षत्रियों मे तो इसका कोई विशेष महत्त्व न था। सीता, सावित्री, रुक्मिणी, द्रौपदी, और मनुपुत्री देवहूति का विवाह जन्मकुण्डली मिलाकर थोड़े ही हुआ था। आत्मा ही आत्मा का वरण कर लेती है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र वाटिका मे सीता की प्रथम झाँकी पाकर भाई लक्ष्मण से कहते हैं :—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अङ्ग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्हकर सहज सुभाऊ। मन कुपन्थ पग धरइ न काऊ॥
मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी॥

राम और दुष्यन्त को अपने मन की अतिशय प्रतीति थी क्योंकि उनका मन साक्षात् धर्म ही था। हम जीवों का चंचल मन बड़ा ही पापी है, उसका कोई विश्वास नहीं, उसे तो सदा रोकते रहना चाहिये।

क्षत्रियों मे पहिले स्वयंवर की प्रथा थी और मुख्य-मुख्य प्रायः सभी स्त्रियों के विवाह मे स्वयंवर रचे जाते थे। मुसलमानों के पदार्पण से देश का सामाजिक वातावरण क्षुब्ध होगया और तब से यह प्रथा लुप्त होगई। इस पवित्र महोत्सव का दर्शन करने के लिए ऋषि-महर्षि तक आते थे। यह बड़ी बढ़िया प्रथा थी। कुछ संशोधन के साथ समाज के वीरवर्ग मे आज इसका पुनः प्रचलन अवश्य होना चाहिए। कुछ कड़े नियम बना लिए जाँय ताकि अप्रिय संघर्ष न हो। कन्या को देने के लिए दर्शकों से कुछ शुल्क भी लिया जा सकता है।

प्रतियोगिता मे भाग लेने वाले कुछ चुने हुए क्षत्रिय-कुमारों की विद्या, वल और बुद्धि की परीक्षा के लिए युग के अनुसार खेल-कूद, व्याख्यान आदि का आयोजन किया जाय अथवा इसके विना भी कन्या जिसके गलेमे वरमाला पहिनादे उसीके साथ उसका आम्नायोक्त विधि से विवाह कर देना चाहिये। इसमे कन्या की अभिरुचि को उचित स्थान है, जिसके विना कि कोई विवाह करना ही नहीं चाहिए। शिक्षित कन्यायें जिस विषय मे विशेषज्ञ हों उसी विषय के विशेषज्ञ को पतित्वेन-वरण कर सकती हैं। किन्तु:—

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः॥

महाभारत १–१९०–७

वेदमत से स्वयंवर की प्रथा क्षत्रियों के ही लिए है, विप्रों का इसमे अधिकार नहीं।

कोई भी वर्ण और विधि क्यों न हो जीवन-यात्रा का सङ्गी ऐसा चुनना चाहिए जो छायावत् अनुगामी, सोलहों आना अपने मनका, अपना ही एक द्वितीय जीवन हो। अन्यथा लोक मे शान्ति और परलोक मे परमधाम की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान् ने विश्व के विकट वन मे मनुष्य को लाकर छोड़ दिया और स्वयं छिप गये। अकेले ब्रह्मचारी वनकर हो या अपनी सहधर्मिणी के साथ हो इस विश्व-वृन्दावन मे परमात्मा को खोजना ही जीवन का सार है। भगवान् और धर्म के विना दाम्पत्य जीवन नरक का द्वितीय नाम है और कुछ नहीं।

'तद्विष्णो: परमंपदम्' की यह यात्रा दो चार दिन मे शेष होने वाली भी नहीं, इसलिए ऐसा साथी नहीं चुनना चाहिए जो

बीच मझधार में छोड़कर धोखा दे जाय। साथी ऐसा हो जो श्वास चलने तक ही नहीं अपितु मरण की मंजिल पार करके भी साथ न छोड़े। जहां कुछ खटपट हुई कि तलाक़ दिए--- इस बुद्धि की संगिनी कभी भूल कर भी न चुने क्योंकि इस प्रेम में प्रथम से ही कलह और अविश्वास का बीज विद्यमान है, उसमें प्रगाढ़ता नहीं हो सकती। सीता-सावित्री के इस धर्मप्राण देश मे आदर्श धर्मपत्नी के सिवाय अच्युतपथ की यात्रा का अभिन्न सहयोगी संसार मे और दूसरा कौन हो सकता है?

× × (ख) × ×

शास्त्र हिन्दूजाति का जीवन है। शास्त्र से संस्कृति का, संस्कृति से समाज का, समाज से चारवर्ण का और चतुर्वर्ण से विवाह का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी कोई भी कड़ी टूटी, माला का सूत्र कहीं से भी छिन्न हुआ कि सब दाने निकल जायेंगे। आधुनिक भारत के राष्ट्रीय नेताओं का ऐसा ख्याल है कि वर्णभेद ही जातीय एकता-सम्पादन मे मूल प्रतिबन्धक है, इसी कारण यह जाति सहस्त्रवर्ष पर्यन्त पददलित रही। भारत-वर्ष सहस्त्रवर्ष पर्यन्त पददलित क्यों रहा आज यह कहना अवश्य ही बहुत कठिन है, परन्तु जो भी कारण हो बुद्धिमानों को उसे दूर करना ही चाहिए। वर्णभेद मिटाने के लिए व्याख्यान देते-देते राष्ट्रीय नेताओं की जीभ घिस गई किन्तु इस जाति के रक्त मे यह रङ्ग ऐसा पक्का चढ़ा है कि अभीतक वह छूट न सका। सुतरां अब लोग खुल्लमखुल्ला यह कहने लग गये हैं कि यदि ब्राम्हन, वनिया, मेहतर, मुसलमान और इसाइयों मे रोटी-बेटी का अबाध विनिमय होने लगे तो राष्ट्र की चिरवांछित एकता का स्वप्न सिद्ध होजाय। देश के पण्डित,

विद्वान्. महात्मा, जो कि अधिकांश ब्राह्मण वर्ण से आये हैं वही इस प्रस्ताव के सबसे अधिक विरोधी हैं, इसलिए लोग इनको साम्प्रदायिक करार देकर इनका तिरस्कार करते हैं। इसाई पादरियों ने निखिल भारत को इसाई बनाना चाहा, ब्राह्मण के कारण उनकी स्कीम पूरी नहीं चल पाई। इसलिए उसे वे अपना रिपु नम्बर वन् मानते हैं। इस वर्ण पर इस्लाम का रंग भी नहीं चढ़ा इसलिए पूरा मुस्लिमराष्ट्र ब्राह्मण वर्ण को अपना दुश्मन मानता है। अँगरेज लोग चलते-चलते हिन्दू-मुसलमानों के अतिरिक्त सवर्णहिन्दू और अन्त्यज भाइयों मे भी कलह का बीज बोगए। इसलिए अन्त्यज शूद्र भाई का भी सर्वाधिक कोप ब्राह्मण वर्ण पर ही है। इस प्रकार बेचारा दरिद्र ब्राह्मण देश-विदेश मे सर्वत्र बदनाम होगया। यह सत्य है कि ब्राह्मण ही अपने धर्म-कर्म से इस समय सबसे अधिक गिरा हुआ है परन्तु इस बात को भी नहीं भुलाना चाहिए कि इस समय देश मे जो कुछ भी ईश्वर, भगवान्, धर्म, चरित्र, शास्त्र और संस्कृति की चर्चा है उसका अधिकांश श्रेय विद्वान् ब्राह्मणों को ही है। चाहे सारी दुनिया निरीश्वरवादी कम्यूनिष्ट होजाय परन्तु चरित्रवान् विद्वान् ब्राह्मण कभी कम्यूनिष्ट नहीं होगा। जो भी हो यहां विचार का मुख्य विषय विवाह के द्वारा राष्ट्रीय एकता है न कि वर्ण-विवेचन, उसकी चर्चा तो प्रसङ्गात् करनी पड़ी। वर्णधर्म की ग्लानि प्रत्यक्ष है। वैवाहिक प्रतिबन्ध के कारण वह बीजरूपेण नाममात्र को कुछबचा है और यदि कोई चाहे तो उसका सदुपयोग भी कर सकता है। काल का प्रभाव सबपर पड़ता है; कांग्रेस मे ही तो आज वह चरित्रबल नहीं जो स्वराज्यपूर्व था, परन्तु इसी कारण क्या कोई नेता कांग्रेस संस्था भङ्ग करने को तैयार है? यदि अपने देश मे

अपना राज्य, अपना वेश और अपनी भाषा राष्ट्रीयता है तो अपने देश मे अपना धर्म, अपनी संस्कृति और सभ्यता साम्प्रदायिक संकीर्णता कैसे कही जा सकती है? जिस धर्म के अनुयायी एक मच्छड़ तक को मारने मे हिचकते हैं उस सनातन-धर्म के प्रति ऐसी बेढंगी धारणा बनाना कि वह अन्य पंथियों के प्रति घृणा-द्वेष का प्रचार करता है, उसके प्रति कितना बड़ा अन्याय करना है? प्रगतिशीलविचार वालों ने घर-घर जूंठन खाया परन्तु एकता हाथ नहीं लगी। मन्दिरों मे भगवान् का दर्शन करके अन्त्यज भाइयों मे भक्ति और धर्मभाव आता तो दर्शन का परिश्रम सफल होता परन्तु दुर्भाग्यवश उनमे जितनी ही शिक्षा बढ़रही है उतना ही उनमे हिन्दुत्व के नामपर विद्रोह-भाव प्रबल होरहा है, इतना ही नहीं वे सब कम्यूनिष्ट होरहे हैं। रोटी के विनिमय का प्रयोग व्यर्थ होता देख नेतालोग अब बेटी-विनिमय को भी अजमाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि यदि ब्राह्मण-क्षत्रियों की लड़कियां मेहतर और मुसलमानों के यहाँ छलांग मारने लग जाँय तो एकता मुठ्ठी मे आजाय। मुसलमान् भाइयों ने पहिले ३० प्रतिशत, फिर ५० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मागा, जब वह मिल गया तब पाकिस्तान मागा और पागए। परन्तु देश-विभाजन करके भी क्या एकता मिली? निश्चय जानो इसी प्रकार उनको बेटी व्याहने से भी एकता नहीं होगी। बंगाली हिन्दू और बंगाली मुसलमान मे खान-पान और भाषा का कोई भेद नहीं। सैकड़ों बंगाली लड़कियों ने स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ विवाह भी किया है, उससे एकता क्यों नहीं होगई? बल्कि बंगाल ही मुसलमानों का प्रथम कोप-भाजन हुआ। सन् १९४७ का नोआखाली काण्ड कोई बंगाली नहीं भूल सकता और अब भी पूर्व बंग से वे

निकाले जारहे हैं। विवाह से रक्त-मिश्रण ही तो होगा? इतिहासकार जानते हैं कि मुसलमानों मे ८०-६० प्रतिशत हिन्दुओं का रक्त पहिले से विद्यमान है फिर एकता क्यों नहीं होजाती? पाश्चात्य देशों मे देखिये। जर्मन, रसन, अमेरिकन और अंगरेजों मे हिन्दुओं की तरह परस्पर रोटी-बेटी के विनिमय का तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं, फिर उन जातियों मे दो महायुद्ध समाप्त होकर अब तृतीय-युद्ध की भूमिका क्यों बाँधी जारही है?

रोटी-बेटी के आदान-प्रदान से उनमे घृणा-द्वेष का अन्त क्यों नहीं होगया? सवर्ण हिन्दुओं की दो बिरादरियों मे, जिनमे कि खान-पान-व्याह चलता है, शिरफोड़ क्यों होती है? हिन्दू-समाज मे वर्णभेद की कल्पना तो दीर्घकाल से चली आरही है, उच्चवर्ण की कन्याओं का निम्नवर्ण के साथ विवाह भी सदा से निषिद्ध है परन्तु इतिहास मे इन कारणों के आधार पर उनमे घृणा-द्वेष और लड़ाई-झगड़े की बात आजतक क्या कभी किसी ने सुना? अतएव हिन्दुओं, चेतो। पाश्चात्य विचारों के ज्वारभाटा से मन का सन्तुलन नष्ट मत करो। आर्य पृथ्वी की सबसे पुरानी जाती है और पुरातन है उसका सनातनधर्म। ये समाज-सुधारक नेता चार दिन बाद मर जायेंगे और यदि इन्हीं के साथ इस जाति और संस्कृति को भी मरजाना हो तभी व्यास, वशिष्ठ और शुकदेवादि की वाणी, शास्त्रों मे अश्रद्धाकर इन बहके दिमाक वालों की बातों मे आना चाहिये। इनकी न तो अपनी कोई स्थिर प्रज्ञा है और न है अपना कोई धर्म, इनके जो भी विचार हैं सब विदेशों से उधार लिये हुए हैं। ये लोग आत्मसुधार करते, चुपचाप अपना राजकाज देखते, हिन्दूधर्म का सुधार करने की डींग न

हाँकते तो इनकी महती कृपा होती। आत्मसुधार एक ऐसा शब्द है जिसका कुछ अर्थ है और उसीकी सबको चिन्ता करनी चाहिए। समाजसुधार केवल वाचारम्भणमात्र है, उससे केवल अहंकार बढ़ता है और कुछ नहीं होता। संसार मे अनेक देश हैं; देशों मे अनन्त जाति, संस्कृति, धर्म और भाषा-भूषा वाले लोग रहते हैं और सदा ऐसे ही रहेंगे, हिन्दू किस-किसको अपनी बेटी ब्याहकर उनसे एकता की भीख मागने जायेगा? "वैषम्यं सृष्टिः" विषमताही सृष्टि है। ऐसी एकता मृगतृष्णा का जल है, और जो भ्रष्टबुद्धि उसके पीछे दौड़ेगा वह सदा उसके दश कदम आगे दिखाई पड़ेगी, पकड़ मे कभी न आयेगी। ऐक्यलाभ का यह कोई तरीका नहीं। पृथ्वी मे इतना भारत, इतनी दूर तक चीन, जापान, इंगलैण्ड और अमेरिका—जैसे ये झूठी सीमा-रेखायें परमात्मा की बनाई नहीं हैं फिर भी प्रत्येक स्वाभिमानी राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी जिस प्रकार अन्य देशों से मैत्री स्थापित करता है उसी प्रकार सांस्कृतिक भेद होते हुए भी विश्व की अनन्त जातियों मे नेम-प्रेम हो सकता है। भगवान् के इस सृष्टिरूपी उद्यान मे एक ही प्रकार के फल-फूल के पौधे हों ऐसा दुराग्रह क्यों किया जाय? बगीचे मे भाँति-भाँति के फूलों की भी तो एक शोभा है। अतएव लोगों को भ्रम मे न रहना चाहिए। रोटी-बेटी के आदान-प्रदान से एकता कभी न होगी। हाँ, ऐसा करने से हिन्दुओं मे जो कुछ भी सांस्कृतिक विशेषता और शास्त्रों के प्रति निष्ठा शेष है उसका नाश अवश्य होजायेगा। हिन्दूजाति और संस्कृति के प्रति यह बहुत गहरा, सूक्ष्म षड़यन्त्र है। एकता सभी को अभीष्ट है और मनुष्यों मे ही नहीं अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज जितने भी जड़-चेतन प्राणी हैं सब मे ऐक्य का साक्षात्कार करना चाहिए। परन्तु इसका साधन सब

मे आत्म-दर्शन करना है, नकि सबको कन्यादान करना। जिन्होंने वर्णव्यवस्था और वैवाहिक मर्यादा बाँधी उन्हीं ऋषियों ने आत्मानुभव करके कहा है "वसुधैव कुटुम्बकम्—मेरे-तेरे की मोहमयी सीमा तोड़ दो, अखिल वसुधा अपना कुटुम्ब है" जबकि रोटी-बेटी के लेनदेन के द्वारा एकता स्थापित करने वाले मूर्ख रोज एक नया दल बनाते और वोट के लिए मारपीट करते हैं। इनका दिमाक बहक गया है। विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मणमे, गो, हस्ति, श्वान और श्वपाक मे आत्मदर्शन करने वाला ज्ञानी क्या कभी किसीसे द्वेष कर सकता है ? जो दुष्ट परस्त्री और परधन को अपहरण करना चाहते हैं किन्तु शक्तिहीन होने के कारण वैसा करने मे अभी असमर्थ हैं वही यह शर्त लगाते हैं कि हमारे साथ खाओ-पिओ और हमे अपनी बेटी व्याह दो तो हमारी-तुम्हारी ऐसी एकता होजाय कि तन मे प्राण रहते वह कभी टूट ही नहीं सकती। इनसे सतर्क होजाना चाहिए। जो इस वैषम्य मे समरूप से विद्यमान् एक देव है उसे विना जाने एकता नहीं हो सकती "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा"। अपने मे और सबमे अवस्थित एक आत्मा को जानना चाहिए वह उदपात्रों[1] मे इन्दुवत् अवस्थित है। देह को लक्ष्य करके पशुवत् किसीसे वैर करना उचित नहीं "देहमुद्दिश्य पशुवत् वैरं कुर्यान्न केनचित्"। जो जानता है कि मै विश्वात्मा हूं, सब भूत-प्राणी मेरी ही आत्मा हैं केवल वही एकत्त्व का दर्शन करता है, उसकी बुद्धि शोक-मोह से कभी विचलित नहीं होती।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

ईशा० उ० ७

१—उदपात्र = जलपात्र

गृहलक्ष्मी

सुपुण्ये भारते वर्षे पतिसेवां करोति या।
वैकुण्ठं स्वामिना सार्द्धं सा याति ब्रह्मणः शतम् ॥

भारतवर्ष अत्यन्त पुण्य भूमि है। पातिव्रतधर्म इसी मिट्टी का गुण है। इसी मिट्टी की बनी गान्धारी नेत्रहीन अपने अर्द्धांश के अनुवर्तन के लिए स्वयं भी आँख मे आमरण पट्टी बाँधे रही। ऐसी भारतभूमि मे जन्म लेकर जो नारी तन-मन-प्राण से पतिसेवा करती है वह स्वामी के सहित वैकुण्ठ जाकर ब्रह्मा के सौ वर्ष तक वहाँ कल्पवास करती है।

स्त्रिया वाग्योनि दुष्टायाः कामतो भारते भुवि।
प्रायश्चितं श्रुतौ नास्ति नरकं ब्रह्मणः शतम् ॥

अन्य देशों की बात भिन्न है परन्तु भारतमाता का चरित्र इतना उज्वल है कि उसके श्वेतवस्त्र मे जरा भी धब्बा नहीं छिपता। इस भूमि मे पैदा होकर जो स्त्री असत्य, अप्रिय और कटुवाद करती है, बात-बात मे जवाब देती और अपनी इच्छा से अवद्याङ्गी[1] होजाती है उसके पाप का प्रायश्चित्त वेद मे नहीं है। ब्रह्मा के शतवर्ष नरक-निवास उसका दण्ड है।

आर्त्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥

पतिके विदेश जाने पर जो कृशाङ्गी शृङ्गार नहीं करती, उसके सुखमे सुखी, दुःख मे दुःखी और मरण मे मर जाती है वह पतिव्रता है।

१—अवद्यांगी=दुश्चरित्रता

चाहे जितनी विपत्ति पड़े पतिव्रता स्त्रियों को तो सीता के शब्दों मे सदा यही कहना चाहिये कि—"दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः" दीन हो या राज्यहीन जो हमारा भर्ता है वही हमारा गुरु है।

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
भा० १०-२६-२४

परमेश्वर चाहता है कि स्त्री निश्छल प्राण से केवल भर्त्ता की ही नहीं उसके कुटुम्ब मे जितने भी भाई-बन्धु हैं सबकी समानरूप से सेवा-शुश्रूषा करे। स्त्री ऐसा कभी न सोचे कि जैसे मै गांव-देश, भाई-बन्धु छोड़कर अकेली आई हूं ऐसे ही पति को भी सबसे अलग कर अकेला करदूं। वह केवल अपने औरस पुत्र का ही नहीं, गृह के सभी बच्चों का पुत्रवत् लालन-पालन करे। यही उसका परमधर्म है।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्नहातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
भा० १०-२६-२५

विवाह के पहिले जितनी छानबान करना हो करलो परन्तु जब एकबार किसीको अपना पति बना लिया तो वह चाहे दुःशील, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो परलोक की अभिलाषा करने वाली स्त्रियों को उसका त्याग न करना चाहिए; हाँ इतना अवश्य ख्याल रहे कि वह पातकी न हो।

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः॥
भा० १०-६०-४८

कुछ ऐसी घरघूमन होती हैं कि विवाह होजाने पर भी उनका मन नित्य नये-नये पुरुषों की इच्छा करता रहता है। बुद्धिमान् पुरुष असती का भरण-पोषण और ग्रहण न करे, यदि करता है तो लोक-परलोक दोनों से गिर जाता है।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यंतद्व्रतधारणम् ॥

भा० ७-११-२५

स्त्रियां पतिदेव मे परमेश्वरबुद्धि रखकर सदा उसीका व्रत धारण करें, उसके अनुकूल रहकर नित्य सेवा करें और उसके माता-पिता प्रभृति सम्बन्धियों को भी प्रसन्न रक्खें। कुटुम्ब के किसी भी सदस्य के खिलाफ पति का कान न भरें, घर मे शान्ति बनाये रक्खें।

संमार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥ २६

गृह-मार्जन करना, लीपना, शालिचूर्ण से आंगन मे चौक-पूरना, स्वयं सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुशोभित रहना और देह, गेह, चीज-वस्तु, परिधान खूब साफ-सुथरा रखना स्त्रियों का नित्यकर्म है।

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम् ॥२७

स्त्री भोगेच्छा का त्यागकर इन्द्रिय निग्रह करे। सदा शान्त और नम्र बनी रहे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषण करे। पति के छोटे-बड़े सब कामों को प्रेमपूर्वक करते हुए समय-समय पर जब जैसी आवश्यकता हो उसकी सेवा करे।

संतुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥ २८

स्त्री यथालाभ सन्तुष्ट हो, लालच न करे, सब कामों मे चतुर और धर्मज्ञ हो। सत्यभाषण करे और प्रियंवदा हो। कभी प्रमाद न करे। शौचाचार परायण होकर ऐसे पति को भजे जो पतित[1] न हो।

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥ २९

जो स्त्री लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर अपने पति को भगवान् का स्वरूप समझकर उसकी सेवा करती है वह अन्त मे पतिपरमेश्वर को प्राप्तकर उन्हीं के साथ वैकुण्ठलोकमे लक्ष्मी के समान आनन्दित होती है।

नारी त्याग की मूर्ति है। माता, पिता, बन्धु, ग्राम, गोत्र देहधारीमात्र को प्यारे होते हैं। इनको त्यागकर स्त्री एक पुरुष को पाती है और पुरुष मे अनन्य निष्ठा के द्वारा वह पुरुषोत्तम को प्राप्त कर लेती है, परमात्मा ही जीवमात्र का लक्ष्य है।

१—पतितः—पतित पुरुष का संग करने से स्त्री का सतीत्त्व नष्ट होजाता है और उसमे भी वे पाप आजाते हैं। कर्त्तव्य-च्युत होना ही पतन है। "स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति" छान्दोग्य—५-१०-९। सुवर्ण की चोरी, गुरुजनों की भार्या मे पापबुद्धि और ब्रह्मज्ञानियों का बध यद्यपि ये निःसन्देह महत्पाप हैं, किन्तु साधारणभाषा मे चोर, मदखोर, व्यभिचारी और हिंसक ये चार पतित माने गये हैं और पांचवां इनका संग करने वाला भी पतित है।

परन्तु जो पुरुष के अस्थि- चर्म के पुतले को पति मानकर, उससे अन्न, वस्त्र, भोग मिलता है इस निमित्त उसकी सेवा करती है उस स्त्री का परमार्थ तो सिद्ध ही नहीं होता, आशा भङ्ग होनेपर उसकी पतिनिष्ठा भी अधिक दिन तक नहीं टिकती और अन्त मे वह लोकधर्म से भी च्युत होजाती है। एक से एक बढ़कर सुखसुविधासम्पन्न सुन्दर पुरुषों को देखकर उसका मन चंचल भौरे के समान भटकता रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। "अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ"॥ अनेकों की चिन्ता करते-करते चित्त भ्रान्त होजाने से उसकी बुद्धि मोहाच्छन्न होजाती है और बुद्धि भ्रष्ट होजाने से वह काम-भोग मे आसक्त होकर अशुचि नरक मे गिरती है।

ब्रह्म सर्वत्र है। धर्मबुद्धि से किसी वस्तु मे अनन्य निष्ठा के द्वारा मन एकाग्र होजाने पर वहीं ब्रह्म प्रकट होजाता है। यह एकाग्रता ही योग है, इसीको साधना है। अनन्य निष्ठा के विना चित्त की एकाग्रता, विना एकाग्रता के योगसिद्धि और योग सिद्ध हुए विना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। यदि धर्म, संयम और भगवान् को निकाल दिया जाय तो दाम्पत्य जीवन प्रत्यक्ष नरक है। परमात्मा ही सबके यथार्थ पति हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि देहाभिमानी जीव उन्हें कहां खोजे ? तब प्रतीक उपासना का प्रादुर्भाव होता है। मायाशक्ति का अवतार होने के कारण पतिभक्ति स्त्रियों का स्वभाव है। केवल इसीसे उनका उद्धार होसकता है क्योंकि उनमे विवेक ख्याति नहीं होती, अपवाद की बात भिन्न है। अनन्य निष्ठा कर्माधीन है, कर्म स्वभावानुकूल होता है और जो जिसका स्वभाव है वही उसके लिए सहज पड़ता है। निष्काम कर्म या स्वधर्म स्वभाव का ही दूसरा नाम

है। मनुष्य मे एक दिव्य अग्नि है। उसकी शिखा सूर्य मण्डल को भेदकर जीव को यज्ञ पुरुष परमात्मा से मिला देती है। किन्तु भगवद्बुद्धि से स्वकर्म की आहुति पड़े विना वह अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। कर्म या सेवा तो कुछ न कुछ सभी लोग कर रहे हैं, परन्तु करते हैं पेट के लिए, परमात्मा के लिए कोई कुछ नहीं करता। कर्म का नियम है कि उसमे लक्ष्य ही सिद्ध होता है। जो पेट के लिये कर्म करता है उसका पेट कभी नहीं भरता, दिन-दिन बड़ा होता जाता है। कहा है—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः" यज्ञार्थभिन्न कर्म करने से यह लोक कर्मबन्धन का कारण बनता है। कर्म और उसका फल दोनों भगवदर्पण कर देने से कर्म यज्ञ होजाता है।

सुतरां आर्यनारी आत्मकल्याण के लिए पति मे परमेश्वर बुद्धि रखकर अनन्य निष्ठा से उसकी सेवा करे। रुक्मिणी जी श्रीकृष्ण भगवान् से कहती हैं :—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मां-
सास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥

मनुष्य का शरीर जितना अब देखा जाता है, मरने के बाद भी आँख से उतना ही दीख पड़ता है। इसलिए यह देह जिन्दा होने पर भी निश्चय मुर्दा है। ऊपर से चमड़ी, दाढ़ी-मूँछ, रोम, नख और केशों से ढका हुआ है; परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वात भरे पड़े हैं। ऐसे इस मुर्दा शरीर को जो मूर्खा नारी अपना पति समझकर भजती है, इसमे सन्देह नहीं कि अभीतक उसे भगवान् के चरण कमलों की पराग सूंघने को नहीं मिला है।

देवसन्तति

(क)

तस्मात् अग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्
पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः
प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

द्वि० मुण्डक १-५

सूर्य जिसका समिधा अर्थात् इन्धन है उसी परमात्मा से ही उत्पन्न होकर अग्नि शरीर मे प्रतिष्ठित है। ओषधियां वर्षा के द्वारा चन्द्र से पृथ्वी मे आकर जब उस जठराग्नि मे पड़ती हैं तब उनसे रेत बनता है। पुरुष उस रेतको स्त्रीमे सींचता है, उसीसे यह सारी प्रजा उत्पन्न हुई है।

आर्यावर्त्त मे मातृगर्भ मे आने के साथ ही बालक की शिक्षा-दीक्षा का सूत्रपात हो जाता है। शिक्षा का अभिप्राय है जीवन को गढ़ना, जैसे शिल्पकार प्रस्तर से देवता की प्रतिमा गढ़ता है। दूसरे शब्दों मे इसीको कहते हैं संस्कार। अपने रज-वीर्य के उपादान से देव या दानव की मूर्त्ति निर्माण करना माता-पिता के हाथ की बात है। श्मशान पर्यन्त देह के षोड़श संस्कारों मे निषेक हिन्दू का आदि संस्कार माना जाता है जिसका अर्थ है वीर्य से गर्भ को सींचना अर्थात् गर्भाधान करना। संस्कार से ही संस्कृति आती है। संस्करोति भूषयतीति।

संस्कृति अर्थात् संस्कार करना, भूषित करना, सजाना। मिट्टी के मानव को देवता के गुणों से अलंकृत करना है। वैदिक संस्कारों को बेकार कहकर उड़ा देना ठीक नहीं। सोना, चाँदी, हीरा खदान से गन्दा ही निकलता है। संस्कार से ही इनकी शुद्धि होती है। यद्यपि आत्मा स्वरूपतः शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और मायावर्जित हैं तथापि जड़ जगत् मे मैथुन के द्वारा मलमूत्र-निर्मित कोश का अवलम्बन लेकर आने के कारण वह धूलि धूसरित होजाता है। ऋतु मे गर्भाधान, गर्भ के तृतीय मास मे पुंसवन, षष्ठ मे सीमन्तोन्नयन और जातकर्मादि संस्कारों के द्वारा जीव का मल धुल जाता है। क्षेत्र को शुद्ध करने के लिये शास्त्रविधि से गर्भाधान संस्कार-पूर्वक शुभमुहूर्त्त मे अभिमन्त्रित वीर्य की आहुति देने से निःसन्देह देवकोटि की आत्मायें जन्म ग्रहण करती हैं। संसार मे अच्छी आत्माओं के आने से ही यहाँ देवराज्य, रामराज्य या ईश्वरराज्य की प्रतिष्ठा सम्भव है। कामातुर अधीर होता है। उसके वीर्य मे स्तम्भन नहीं। क्षेत्रशुद्धि तक वह प्रतीक्षा नहीं कर सकता। शुभ घड़ी आने तक उसमे धीरज नहीं। उसके लिये शास्त्रीय निषेक-विधि अव्यवहारिक है। सहवास मे भोगबुद्धि प्रधान होने के कारण इस समय शिश्नोदरपरायण निम्नकोटि की असंख्य आत्माओं से वसुन्धरा भर गई है। जिस परमात्मा ने उनको बनाया है उसका नाम लेने मे वे अपनी तौहीनी समझते हैं। सत्संग का प्रभाव उनपर इतना ही पड़ता है जैसे कुत्ते की पूँछ को जबतक बाँस की पोंगड़ी मे रक्खा जाय तबतक सीधी, बाहर निकाला कि टेढ़ी की टेढ़ी। विलास भावना के मूल मे ही भूल है, वह नराकृति कीट पैदा करती है जो न अपने काम के, न देश और जाति के ही किसी काम के। आसुरी भाव और

वेला मे किया गया निषेक रावण, कंस और दुर्योधन जैसी सन्तानों को जन्म देता है। कालचक्र के साथ ही चित्त मे त्रिगुण का चक्र भी घूमता रहता है। गर्भाधान के समय माता-पिता के अन्तःकरण मे मुख्यतः जो भाव या गुण उदय रहता है वही बच्चे का स्वभाव बनता है। स्वभाव ही जीव की समग्र क्रियाओं का प्रेरक है। और कर्म ही है मनुष्य का जीवन। इससे स्फटिकवत् स्पष्ट है कि जाति और संस्कृति के संरक्षण के लिये क्षेत्र-बीज अर्थात् वर-कन्या के निर्वाचन, शोधन और बीज-वपन मे अत्यन्त सावधानी वरतनी चाहिये। शुक्र एक दामी धातु है, बलीयान् असुरों ने उसपर अधिकार कर लिया है। निषेक के पूर्व कामक्रोधादि आसुरी भावों के हाथ से बिन्दुको विजय करना अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिये अपेक्षा है तपस्या की। पूर्वकाल मे ऋषिगण पाणिग्रहण करके मधुनिशा नहीं मानते थे। वे दोनों व्रत लेकर कठोर तप करते थे। ऋषि ही क्यों, जाम्बवती के कहने पर स्वयं भगवान् कृष्ण भी पुत्र की कामना से हिमालय मे तप करने गये थे। इस युग मे पुत्र के लिये तप की बात का लोग उपहास करते हैं। परन्तु हँसना नहीं, कुछ सोचना चाहिये। वर्षा मे बीज को उल्टासीधा जैसा भी फेंक दिया जाय प्रकृति का नियम है कि वह जमेगा। विना तप के ही आज सन्तानों की इतनी भरमार है कि संसार मे समाई नहीं होती। अन्तर केवल इतना है कि साधारण प्राणी जिसे पुत्र कहता है ऋषियों की परिभाषा मे वह माता के देह का मल है, और कुछ नहीं। दान, तप, विद्या, वीरत्व और अर्थलाभ मे जिसने अपना और अपने देश-जाति के कीर्ति का पताका विश्व मे नहीं फहराया वह मातुरुच्चार[1] क

१—उच्चार=मल, विष्ठा।

सिवाय और हो ही क्या सकता है ?

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥

हितोपदेश क० १६

ऋषि और ऋषिपत्नियाँ तप करती थीं पुत्र के लिये नहीं प्रत्युत् स्वयं भगवान् को पुत्ररूप मे पाने के लिये, देवकोटि की आत्माओं को जगत् मे लाने के लिये। चन्द्र, सूर्य, शंकर, विष्णु, वृहस्पति, अग्नि, वायु, और साक्षात् धर्म को पुत्रभाव से लाभ करने मे वे अपना और अपने देश का गौरव मानते थे। कितना उच्च आदर्श था ! अनेक तारों से तमस् नहीं जाता, तमहर नाम एक चन्द्र का ही है। शतमूर्ख की अपेक्षा चन्द्रसूर्य का प्रतीकरूप एक गुणी पुत्र कहीं श्रेष्ठ है।

"वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥"

हितोपदेश ।

धर्महीन, विद्याविहीन सन्तान कानी आँख की भाँति केवल पीड़ा का ही कारण होती है। "कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः । काणेन चक्षुषा किम्वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥" समाजोपयोगी, स्वस्थ, सुन्दर, गुणवान् दो एक सन्तान पर्याप्त है। छ-कौड़ी की अपेक्षा एक हीरा-लाल कहीं अधिक प्रशस्य है। यह था ऋषियों के पुत्रार्थ तप का तात्पर्य। तरसते थे उनदिनों स्वर्ग के देवता और योगभ्रष्ट जीव रक्त-मांस के पिण्ड मे आने के लिये। "एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्" गी० ६-४२। लोक मे ऐसा जन्म बहुत

दुर्लभ है। "बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर-दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा"। तपस्या और प्रार्थना के बिना विशिष्ट आत्मायें जठर मे नहीं आतीं। धर्मावतार राम और योगेश्वर कृष्ण जिनके लीला-चरित्रों से हिन्दूजाति और संस्कृति का समूचा जीवन तथा इस देश के पशुपत्ती, नदी और जड़ पहाड़ तक का इतिहास गूँथा है वे तपस्या और प्रार्थना से ही भारतमाता की गोद मे प्रकट हुए थे। सांख्यशास्त्र के प्रणेता "सिद्धानाम् कपिलो मुनिः" का आविर्भाव कर्दम और देवहूति के तप का ही फल था। विवाह करके कर्दमजी ऐसे तपस्यारत हुए कि मानों गृहिणी की सुधबुध ही भूल गये। बहुकाल पर्यन्त व्रतचर्या और परिचर्या करते-करते राजपुत्री देवहूति की काया कृश और क्षीण होगई "कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया" तब जितेन्द्रिय ऋषि दयावश पूंछे "तुष्टोऽहमद्य तव मानवि" हे मानवि ! तुम्हारी सेवा से मै सब प्रकार सन्तुष्ट हूं, कहो तुम्हारी क्या अभिलाषा है ? देवहूति ने कहा कि महाराज ! आपने हमे पत्नीभाव से स्वीकार किया था, कम से कम एकबार तो हमे आपका अंगसंग मिलना चाहिये "सकृदङ्गसङ्गः" भा० ३-२३-१०। सकृदङ्गसङ्ग की भीख-माँगकर भी बेचारी डर गई और कहा कि आप यह न समझना कि देवहूति कामिनी है। मै विषयेच्छा से नहीं वरञ्च पुत्रेच्छा से यह विनती कर रही हूँ। आप नाराज न हों। इसमे हमारा कोई दोष नहीं। मै स्त्रीजाति हूँ। उत्तम पति के द्वारा श्रेष्ठ पुत्र प्रसव करना सती स्त्रियों का गुण ही है "भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम्"। ऋषि ने कहा हे राजपुत्रि ! तुम कोई खेद मत करो। शम, दम, यम, नियम, तप, दान और श्रद्धा से ईश्वर को भजो। भगवान् तुम्हारे गर्भ से शीघ्र आयेंगे।

परमेश्वर प्राणी को पैदा करके उसमें अपने समान दूसरा

पैदा करने की भावना और शक्ति दोनों दिया है। यही प्रजापति का सृष्टिचक्र है। सब इसका अनुवर्तन कर रहे हैं। पण्डित अपने जैसा विद्वान् , संगीतज्ञ अपने जैसा गायक और दम्पति अपने जैसा पुत्र उत्पन्न करना चाहते हैं। बीजरूप से यह उत्पादनी शक्ति सब मे निहित है, उसीको वीर्य कहते हैं। शस्य की भाँति ही मनुष्य भी जन्मता और मरता है। "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवं जायते पुनः" कठो० १–३। निषेक मे शुद्ध कृषि का भाव रखना चाहिये। भूमि अर्थात् स्त्री सुसंस्कृत हो। अक्षत और परिपक्व बीज हो। ऋतुकाल मे बीज बोया जाय। रक्षा और सिंचाई का प्रबन्ध हो। तब उत्तम खेती होती है। ऊसर भूमि हो तो काम नहीं बनता। उर्वरा भूमि मे भी कच्चा और घुनखाया बीज नहीं जमता। वपन के पूर्व बीज और भूमि दोनों को बनाना पड़ता है। जैसे कृषक जमीन को जोतता, खाद देता और कुश-कण्टक उखाड़कर उसे सम करता है उसी प्रकार स्त्री को उचित है कि जप, तप, ध्यान और यम-नियम से वह अपने मन, प्राण और देह का शोधन करे। पुरुष उत्तम भोजन से वीर्यलाभ कर उसकी रक्षा करे और उसे पकाये। जिस अन्न से शुक्र बना है उस शुक्र से उत्पन्न सन्तान के लिये भी वही अन्न स्वास्थ्यकर होता है। चोरी या दासवृत्ति से प्राप्त धान्य ग्रहण नहीं करना चाहिये। गीता मे सात्त्विक, राजस और तामस भेद से त्रिविध भोजन, त्रिविध बुद्धि और त्रिविध कर्म बताये गये हैं। जैसा जिसका भोजन वैसी ही उसकी मति, सन्तति और वैसी ही प्रवृत्ति होती है। अतएव स्वार्थ, पुत्रार्थ और लोकहितार्थ चाहे जो, जहाँ और जिस किसी का अन्न ग्रहण करना विधेय नहीं। अन्न से रक्त बनता है, रक्त यावत् श्वासा चलता है तावत् साथ रहता है।

अतएव जिसका अन्न खाय आजीवन उसका कृतज्ञ रहे। अस्तु. सावधान ! योनि मे वीर्याहुति के साथ भावना भी जुड़ी हुई है। एक एक मूर्त्तिमान दैवीभाव का नाम ही देवता है। जिस भाव का पुत्र अभीष्ट हो अपने अन्दर उसी दैवीभाव को बढ़ाना चाहिये। जिस देवता के भोग मे जो मुख्य अन्न काम आता है उसीको खाये। पुरुष उसी दैवी आत्मा का पहिले अपने शुक्र मे आधान कर उसीका मन्त्रजप, ध्यान और पूजन करे "पुरुषे ह वा अयम् आदितः गर्भः भवति" ऐत० २-१ यह जीव निश्चय पहिले पुरुष शरीर मे ही वीर्य रूप से गर्भ बनता है। स्त्री-पुरुष तपस् के द्वारा अपने को दैवी-सम्पत्ति का एक साँचा तैयार करें। उस साँचे मे गढ़ी सन्तान भी वैसी ही होगी। गीता की परिभाषा मे मन, वचन. काया और क्रिया के नियन्त्रण एवम दिव्यीकरण का नाम ही तप है। तपःपूत रेतस् अव्यर्थ होता है। उसका निषेक निरर्थक नहीं जाता। इसीलिये व्रत लेकर कुछ काल स्त्री-पुरुष के पृथक् रहने पर जोर दिया गया है। उससे वीर्यपुष्ट होता है। पतली धातु से पहिले तो गर्भ ही नहीं ठहरता और यदि किसी प्रकार ठहरा भी तो उससे बच्चा अल्पायुष् होता है। पुरुष का एक अक्षत वीर्यखण्ड अंगुष्ठप्रमाण होता है। सम्भवतः इसी कारण तत्त्वदर्शियों ने पुरुष का अंगुष्ठप्रमाण आकार स्वीकार किया है। "अंगुष्ठमात्रः पुरुषः" हस्तांगुष्ठ का ऊपरी पोर एक यव या एक पके चावल के परिमाण का होता है। शुक्र के एक खण्ड का परिमाण भी उतना ही समझना चाहिये। परिपक्व होजाने पर उसमे श्वेत के ऊपर एक पीतवर्ण की आभा आ-जाती है। यही वीर्य गर्भ के लिये उपयुक्त है। धातु चंचल रहने से शरीर मे ऐसा शुक्र बनने ही नहीं पाता। प्राण वश मे होजाने

से धातु की चंचलता चली जाती है। इसलिये प्राणायाम वीर्य-रक्षा का एक प्रधान अङ्ग है। प्राणों पर विजय होजाय तो वीर्यधारण और उसका विसर्जन इच्छा पूर्वक किया जा सकता है। आवेश नहीं रहता, वह खतम होजाता है। आवेश ही पाप है। वह जीव को विवश कर देता है। "अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः"।

क्षेत्र और बीज की शुद्धि के साथ ही कृषि मे काल का महत्त्व भी उल्लेख्य है। कात्तिक मे धान और आषाढ़ मे गेहूँ नहीं बोया जाता। उद्भिज की ही तरह प्रकृति ने पशुपक्षियों का ऋतुकाल भी संवत्सर-चक्र के साथ दृढ़ता से जकड़ दिया है। वे असमय मे सङ्ग नहीं करते। गर्भवती मादा को कोई पशु भूलकर भी कभी स्पर्श नहीं करता। पशुलोक मे धात्री नहीं, चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं तो भी इनके शिशु-शावक इतनी अधिक मात्रा मे काल के कलेऊ होते नहीं देखे जाते जितने कि दो पैर वाले जानवर के। कितना अच्छा होता यदि प्रकृति के इस कठोर नियम का अपवाद मनुष्य के लिये न होता। ईश्वर ने मनुष्य का विश्वास करके उसे बुद्धि दिया और साथ ही कुछ अधिकार भी अधिक दे दिया। वह यह नहीं जानता था कि विवेक रहते भी कोई अपने पैरों मे कुल्हाड़ी मार सकता है। संयोग से पशुपक्षियां की स्वभाव से विशुद्ध प्रज्ञाबुद्धि है, बिना सींगपूंछ का द्विपाद जन्तु ही संसार मे एक ऐसा है जो रमण मे सुखबुद्धि रखता है। कामक्रीड़ा मे सुख-बुद्धि से कुसंस्कार, कुसंस्कारों से चित्तवृत्ति और चित्तवृत्तियों से जीव का परमेश्वर से वियोग घटता है। जीवन मे इसबात को कृषिबुद्धि से अधिक महत्त्व क्यों दिया जाय? उससे तो उल्टे अपने ही गले मे फाँसी पड़ती है। ५-७ वर्ष

का नन्हा बच्चा नचिकेता कहता है "एतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" क्षणिक विषय इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाला है। भारतवर्ष के जितेन्द्रिय ऋषियों की लौकिक जीवों के ऊपर यह एक महती कृपा थी कि उन्होंने मानवजीवन के किसी भी पहलू को छोड़ा नहीं, जीवनोपयोगी सभी आवश्यक विषयों पर अपनी प्रज्ञा का प्रकाश डाला है। ऋषिगोत्रीय हिन्दुओं को उससे लाभ उठाना चाहिये। ऋषियों ने तो भोग की कहीं चर्चा ही नहीं किया। निषेक तो नारी का एक संस्कार माना गया है, सो भी मातृपद पाने के लिये।

काल की उपेक्षा अकाल मे काल को निमन्त्रण देना है। अपने को जैसा समझता है वैसा मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है और काल के हाथ से तो त्रिकाल मे भी नहीं। सविता देवता के बिना आँख अन्धी है। वायुदेवता ने तो श्वास की डोरी से सभी जीवों को नाथ लिया है। मन परिवर्तनशील चन्द्रकला के हाथ का खिलौना है। चन्द्रमा से मन, मन से मनोज, मनोज से शुक्र, शुक्र से पुरुष और पुरुष से स्त्री क्षुब्ध होती है। जिस कुलगोत्र मे पैदा हुआ है उसके पितरों से भी इस देह का सम्बन्ध है। पितृगण चन्द्र का आश्रय लेकर ही रहते हैं। वे तर्पण की अभिलाषा रखते हैं। चन्द्र से ओषधियों की वर्षा होती है। ओषधियां से शुक्र बनता है। शुक्र पुरुष की दक्षिण नाड़ी पिङ्गला का आश्रय लेकर रहता है जिसका सम्बन्ध सूर्य से है। सूर्य का आश्रय लेकर ऋषि रहते हैं। अतः शुक्र पर ऋषियों का ऋण है। शुक्र अन्न से बनता है, अन्न पृथ्वीमाता और गोमाता के गर्भ से पैदा होता है। अन्न के उत्पादन मे समाज के असंख्य लोगों का श्रम भी लगा हुआ है। इसलिये शुक्र पर समाज और देश का भी ऋण है। जो मातापिता शुक्र

को धारण करते हैं उसके विषय मे तो भला कहना ही क्या है? श्रुति कहती है:—"मातृ देवो भव. पितृदेवो भव" संक्षेप मे इस छोटे से पिण्ड का पूरे ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध है। पिण्ड ब्रह्माण्ड का कर्जदार है। ऋणं हवै जायते, यो अस्ति। स जायमानः एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। शत० ब्रा० १-७-२-१। यह ऋण ही है जो मनुष्य-रूप से उत्पन्न होता है। मनुष्य पैदा होते ही देवता, ऋषि. पितर और मानव समाज का ऋणी है। अतएव सभी बातों का विचार करके ऐसे समय और स्थान मे शुक्र को सींचना चाहिये कि जिससे उत्पन्न हुई सन्तान अपनी सेवा और श्रद्धाञ्जलि समर्पणकर लोक-परलोक मे सर्वत्र सभीको परितृप्त कर सके।

रजस्वला, गर्भिणी और व्रतचारिणी दशा मे, दिवा. सन्ध्या और पर्वकाल मे स्त्रीसंग सर्वथा वर्जित है। "नोदक्यां न दिवा गच्छेत् न सगर्भां न व्रतस्थिताम। न पर्वसु न सन्ध्यासु ...." आत्रेयी[1] के स्पर्श और उसके साथ सम्भाषण से आयु क्षीण होती है। सगर्भा के पास जाने से बच्चे रोगी, कामी, मूर्ख, अल्पायु और कमजोर होते हैं, पुरुष को इन्द्र को ब्रह्महत्या मे हिस्सा बटाना पड़ता है। चतुर्दशी, अष्टमी. पूर्णिमा, अमावस्या और रविसंक्रांति ये पञ्च पर्वदिवस हैं। इन दिनों मे गर्भाधान करने से विकलाङ्ग बच्चे पैदा होते हैं। कृष्णपक्ष मे गर्भाधान करने से अधिकांश पुत्र और शुक्लपक्ष के गर्भ से अधिकांश कन्यायें होती हैं। उदक्या[2] के चार अशुचि दिन छोड़कर शेष द्वादश रात्रियां तक गर्भाशय का मार्ग विशेषरूप से खुला रहता है। उनमे युग्म अर्थात् दो से भाग

१—आत्रेयी=रजस्वला। २—उदक्या=रजस्वला।

देने पर कट जाने वाली ६-८-१०-१२ प्रभृति संख्यायें पुत्र के लिये और अयुग्म अर्थात् दो से न कटने वाली ५-७-६-११ आदि संख्यायें कन्या के लिये प्रशस्त मानी गई हैं। स्त्री-पुरुष अवस्था, वल, वीर्य मे विषम होने चाहिये, सम होने से गर्भ नहीं रहता। २०-२५ वर्ष के वर के लिये १६-१८ की बधू ठीक है। समागम के समय पुरुष की दक्षिण श्वास और स्त्री की वाम श्वास चलती हो तो पुत्र और इसके विपरीत कन्या होती है। ये सब सम्भावनायें हैं। मुख्यत: पुत्र-कन्या का जन्म क्रमशः शुक्र-शोणित के आधिक्य पर निर्भर करता है। गर्भोपनिषद् मे इसका सविस्तर वर्णन किया गया है।

पितूरेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातूरेतोऽतिरेकात्स्त्री उभयोर्बीज तुल्यत्वान्नपुंसको भवति व्याकुलित मनसांऽन्धाः खंजाः कुब्जा वामना भवन्ति—पिता के वीर्यातिरेक से पुरुष, माता के वीर्यातिरेक से स्त्री, और दोनों का वीर्य समान होने से यातो गर्भ नहीं रहता और यदि रहता है तो उससे नपुंसक बच्चा होता है। गर्भाधान के समय मन व्याकुलित हो तो अन्धे, लूले, लंगड़े, कुबड़े और छोटे वामन जी पैदा होते हैं।

अन्योन्यवायुपरिपीडित शुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते—परस्पर वायु के संघर्ष से शुक्र के छोटे दो टुकड़े होजाते हैं उससे लवकुश के जोड़े पैदा होते हैं।

जन्मपत्री बनवाने की प्रथा तो हिन्दुओं मे है, गर्भाधान की कुण्डली भी तैयार कराना चाहिये। ऐसा तभी सम्भव है जब एक निश्चित तिथि मे निषेक किया जाय और महीने भर असंग रहकर उसकी प्रतीक्षा करके देखा जाय। दोनों पत्रियाँ मिलाकर फलाफल निकालने और वर-कन्या का चुनाव करने से गार्हस्थ्य जीवन अधिक सफल हो सकता है।

कन्या की सम्भावना मे रजाभिभूतशुक्र और पुत्र की सम्भावना मे शुक्राभिभूत रज रहता है। फिर वह कलल[1] अण्डाकार मे क्रमशः बढ़ता है। जरायुमे पुत्र होने पर गर्भ के द्वितीय मास से भावी माता की दक्षिण आँख अपेक्षाकृत बड़ी होजाती है, दक्षिण पयोधर मे दूध प्रथम आता है और वह भी आकार मे वाम से थोड़ा बड़ा होता है, चलने के समय दक्षिण उरु अधिक भारी लगता है, मुखाकृति प्रसन्न होती है "दक्षिणाक्षि महत्त्वं स्यात्, प्राक्क्षीरं दक्षिणे स्तने। दक्षिणोरुः सुपुष्टः स्यात्, प्रसन्नमुखवर्णता ॥" कन्या गर्भ मे हो तो लक्षण ठीक इसके विपरीत होते हैं।

शिशु के शरीर मे केवल एक तण्डुलप्रमाण पिता का आत्मदान है, शेष सारा कलेवर माता के आत्मदान से बनता है। गर्भधारण, प्रसव और लालन-पालन का कष्ट भी मां को ही उठाना पड़ता है। इसीलिये बच्चे के जीवन मे पिता से माता का गौरव सहस्र गुण अधिक बताया गया है "सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते"। मन्दिर के गर्भगृह मे जैसे देवता विराजता है वैसे ही अन्तःसत्त्वा[2] के गर्भ मे अर्भक[3]। गर्भस्थ बालक आत्मसमर्पण का मूर्त्तिमान् आदर्श रूप है। मा के प्राण मे प्राण और जीवन मे जीवन। सृष्टि मे भगवान् का यह अद्भुत कर्मकौशल है। देवालय के देवता के ही समान गर्भवती देवी का यत्न, मान और पूजन करना चाहिये। यदि उसकी कोई सदिच्छा अपूर्ण रही तो बच्चे का स्वभाव लोभी और दरिद्र हो सकता है। ६ मास पर्यन्त अन्तर्वत्नी[4] का जैसा

१—कलल=गर्भाशय मे रज-वीर्य मिलकर एकरस बनता है, जरायु। २—अन्तःसत्त्वा=गर्भवती।
३—अर्भक=गर्भस्थ बालक। ४—अन्तर्वत्नी=गर्भवती।

भोजन, चिन्तन और आचरण होता है वही बालक का आजीवन चरित्र बनता है। जिन्हें वीरप्रसू बनना हो वे विदुला की वीरगाथा श्रवण करें। जन्म से योद्धा ही योद्धा है और सब तो वेतन भोजी हैं। अभिमन्यु जब गर्भ में था अर्जुन ने सुभद्रा को चक्रव्यूह भेद का रहस्य समझाया था। जहाँतक सुभद्रा ने सावधान होकर सुना, सो नहीं गई वहाँ तक अभिमन्यु उस विद्या में जन्म ही से प्रवीण हुआ। इससे स्पष्ट है कि माता के रहन-सहन, खानपान, शयन आदि सभी बातों का प्रभाव गर्भस्थ बालक के जीवन पर पड़ता है। यहाँ तक कि निषेककाल में व्यास को देखकर अम्बिका ने अपनी दृष्टि बन्द कर लिया था इसलिये उसके पेट से अन्धा धृतराष्ट्र पैदा हुआ।

मातापिता जो विद्या बड़े श्रम से उपार्जन करते हैं वह पुत्र की सहज बपौती होती है।

भारतवर्ष की जो देवियाँ विद्वान्, भक्त, योगी और ज्ञानी महात्माओं की जननी बनना चाहें उनको अध्यात्मशास्त्र की चर्चा में कालक्षेप करना और मदालसा का आख्यान सुनना चाहिये।

कयाधू के उदर में यद्यपि देवद्रोही असुर वीर्य था किन्तु गर्भकाल में नारदमुनि के आश्रम में वसने और धर्मज्ञान श्रवण करने के कारण प्रह्लाद ऐसे भक्त, ज्ञानी और धर्मज्ञ महात्मा उसके पेट से पैदा हुए। "धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्" ७-१५। "ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः" ७-१६ भा०। गर्भस्थ बालक को उद्देश्य करके नारद जी ने कयाधू को जो निर्मल ज्ञान और धर्म का तत्त्व समझाया

था ऋषि के अनुग्रह से प्रह्लाद को भूमिष्ठ होने के बाद भी उसकी स्मृति सदा बनी रही। यह बात स्वयं प्रह्लाद जी अपने बालसखाओं से कह रहे हैं।

चिकित्सा, विज्ञान, वाणिज्य, कृषि, शिल्प, कला, काव्य, संगीत, नृत्य आदि जिनजिन विषयों की विशेषज्ञ सन्तति अभीष्ट हो भावी मातायें उसी चर्चा और वातावरण मे जीवन यापन करें। उनउन विषयों मे बच्चे की जन्म से सहज रुझान होगी, शिक्षा के लिये विशेष श्रम नहीं केवल उस विषय का स्मरण करा देना पर्याप्त होगा। तभी तो ऋषि से ऋषि और वीर से वीर पैदा होते थे। ९ मास गर्भ मे और ५ वर्ष गोद मे माता बच्चे मे जिन सद्गुणों का बीजारोपण कर देती है बड़े होने पर कार्यकारण संयोग से उन्हीं का जीवन मे विकास होता है। अपने मे कुछ विशेषता हो तो वाह्य शिक्षा का भी असर पड़ता है। अन्तर कोरा है तो साबुनतेल से नहलाकर गधा को गैया नहीं बनाया जा सकता। खेत, बीज और अंकुर से ही पता चल जाता है कि आगे चलकर पेंड़ कैसा होगा। होनहार बिरवान के होत चीकने पात। पाठशाला की शिक्षा तो केवल खाद-पानी का काम करती है। जिस पौधे के बीज मे जो गुण पहिले से विद्यमान हैं खाद-पानी देकर लोक मे उन्हींका विकास किया जा सकता है। इमली मे आम कोई नहीं फला सकता। और न अस्पताल मे इंजेक्शन देने की तरह विद्यालय मे सद्गुणों की सुई लगाई जाती। विशेषतः आधुनिक पाठशालाओं की शिक्षा तो उदरपालिका विद्या है उससे मनुष्योचित गुणों का विकास नहीं होता। पेट पालन यदि जीवन को रखने के लिये जरूरी है तो मनुष्योचित गुण जीवन मे कुछ कर दिखाने के लिये उससे भी ज्यादा जरूरी है।

पुत्र को आत्मज कहा है। वह मातापिता की आकृति पाता है, कोई कारण नहीं कि उसे उनकी प्रकृति न मिले। स्वभाव जन्म के साथ आता है और श्मशान तक साथ जाता है। इसलिये देवसन्तति लाभ के लिये बच्चों के दैवीस्वभाव की सृष्टि करना पड़ेगा। मनुष्य केवल पंचभूतों का संघात नहीं है। स्थूलशरीर तो पांचकोशों मे से जीव का केवल एक कोश है। ऐसे वीर्य से निषेक करना चाहिये जिसमे कि सूक्ष्मरूप से पांचोंकोश विकसित हों। अतएव सृष्टि कार्य मे प्रवृत्त होने के पूर्व दम्पति को योग के द्वारा अपने पांचोंकोशों को खोलने की कुञ्जी प्राप्त करना चाहिये। निषेक कोई खेलवाड़ नहीं यह एक योग और कठिन तप है।

(ख)

प्रजनन मे जनक-जननी दोनों का योग है। इसलिये केवल दो सन्तान उत्पन्न करना चाहिये। एक पुत्र हो जो लोक मे पिता का प्रतिनिधित्व करे। और एक ही पुत्री हो जो संसार मे माता का प्रतिनिधित्व करे। जगत्पिता और जगन्माता की सेवा के लिये एक जोड़े को मिलकर केवल एक ही जोड़ा पैदा करना चाहिये। जच्चा-बच्चा दोनों के स्वास्थ्य की दृष्टि से उभय गर्भों मे ५ वर्ष का व्यवधान होना अनिवार्य है। जैसे सोख्ता स्याही सोखता है ऐसे ही बच्चा मा का खून सोख लेता है, इससे कम समय मे वह कमी पूरी नहीं हो सकती। प्रणयजीवन के लिये अल्पायु के इस युग मे एक दशक से अधिक समय किसी को मिलता भी नहीं। हाँ, जिसे जल्दी मरना और जबतक जीना डाक्टरों का कर्जा पटाते रहना है उसकी बात निराली है। खानेवालों की संख्या खाद्यान्न से अधिक होगई है इसलिये अल्प सन्तान तो संसार मे आज सभी चाहते हैं किन्तु शिश्ना-

परायणता के इस युग मे माता जीवन मे अधिक से अधिक केवल दो बार ही गर्भ-धारण करे यह कैसे सम्भव है ?

भारतीय सभ्यता का सुझाव यह है कि संयम और समाधि से ही इस समस्या का समाधान किया जाय। संयम सच्चिदानन्द का पथ है। उससे गर्भनिरोध के साथ ही मन और इन्द्रियों का भी निरोध होता है। यही प्राकृत पन्था है।

परन्तु संसार मे इस समय कृत्रिम उपायों के द्वारा गर्भनिरोध की प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही है। यह अविद्या का मार्ग है। इससे मनोनिरोध तो असम्भव ही है, गर्भनिरोध भी सन्दिग्ध है। स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध की जितनी भी औषधियाँ होंगी वे वीर्य को पतला करने वाली, गरम और उत्तेजक होंगी। धातु फट जाने से गर्भ भले ही न ठहरे किन्तु उससे विषय-प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण शरीर और मन के उपर उसका खराब प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

गर्भनिरोधक औषधियों के विज्ञापन से प्रायः सभी समाचारपत्रों के पन्ने आजकल रंगे रहते हैं। यह संसार को मुख्यतः पाश्चात्य सभ्यता और विज्ञान की देन है। अनुसन्धान करके वैज्ञानिकों ने तरह तरह की दवाइयाँ निकाला है। हिन्दुस्थान तो मानों उनकी इस कोटि की नई खोजों का प्रयोगशाला ही बन बैठा है। सुनते हैं कि उनके सेवन से वीर्य के कीटाणु मर जाते हैं और गर्भ नहीं रहता। एक तो मनुष्य स्वभाव से ही इस सम्बन्ध मे बहुत दुर्बल है, राजभय है नहीं, अब इससे लोकभय भी जाता रहेगा। कहीं युवक-युवतियों की सहशिक्षा और गर्भांकुश की दवाई चल गई तो शिक्षालय भोगालय मे बदल जायेंगे। एक भी कन्या कुमारी नहीं बचेगी। स्मरण रहे

विद्यालयों मे आज न तो अर्जुन जैसे शिक्षक हैं और न कचके समान सतीर्थ[1]। उत्तरा के पिता विराट के द्वारा किये गये विवाह के प्रस्ताव को अर्जुन ने इसी आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि वह उत्तरा का शिक्षक होने के नाते पितातुल्य है और अन्त मे उसे स्नुषा[2] के रूप मे स्वीकार किया। ऐसे ही सहपाठी और गुरुभाई होने के नाते कचने शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। आज जब कि विद्यालय अपने इस पवित्र आदर्श से च्युत होकर केवल लोकलज्जा के भय से सुरक्षित हैं उनके हाथ मे गर्भांकुश की दवाई पड़ जाने से समाज की कितनी दुर्दशा होगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस समय संसार स्वच्छन्द संभोग की वैतरणी मे वेग से बह रहा है। समाज में चरित्र का कोई भी नैतिक स्तर नहीं रह गया। विलायत मे तो प्रसवपीड़ा के भय से रमणी प्रायः जननी बनना ही नहीं चाहती। अमेरिका के डाक्टर लोग कहते हैं कि उनके देश मे द्वादशवत्सरोपरि कोई अनवद्याङ्गी[3] कन्या ही नहीं। फिर गर्भांकुश की यह गोली कभी-कभी निशाना भी चूक जाती है। उससे कानीन[4] कर्ण पैदा होंगे और समाज नरक होजाएगा। द्वितीय युद्ध मे पराजित जर्मनी की स्त्रियों और इंगलैण्ड-अमेरिका के सिपाहियों से ऐसे लाखों बच्चे पैदा हुए हैं। जापान में अमेरिकी सेना ने भी जापानी महिलाओं से करीब डेढ़ लाख ऐसे बच्चे पैदा किया है। समाज उन बच्चों को

१—सतीर्थ=सहपाठी। २—स्नुषा=पुत्रवधू।
३—अनवद्याङ्गी=जिसका किसी पुरुष से संसर्ग न हुआ हो।
४—कानीन=विवाह के पूर्व कन्यावस्था मे ही सन्तान पैदा हो वह।

अपना नहीं रहा है, वे उन देशों की एक समस्या बन गये हैं। भारतीय विद्यालयों की जो युवतियाँ सेना मे भर्ती होने के लिये छटपटा रही हैं इन घटनाओं से उनकी आँख खुल जानी चाहिये। संसार इस समय वित्तमोह से विमूढ़ होरहा है। ओषधि के द्वारा गर्भनिरोध मे मुख्यतः आर्थिक दृष्टि है, संभोग की सुविधा भी अधिक मिलती है जिससे शरीर खोंखला होजाता है और जच्चाबच्चा के स्वास्थ्य मे कोई वाञ्छित सुधार नहीं होता। इससे कम बच्चे हो सकते हैं, उत्तम बच्चे कदापि नहीं। जिससे आसुरी भावनाओं को प्रोत्साहन मिले उस मार्ग मे चलने से मानवजाति का मंगल नहीं हो सकता।

न साम्परायः प्रतिभाति वालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् !
अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

कठो० १-२-६

धन के मोह से मूढ़, प्रमादी वालबुद्धियों को पारमार्थिक श्रेयपथ नहीं सूझता। वे कहते हैं कि बस यह लोक ही सत्य है; खान, पान और मैथुन ही मुख्य है; इसके परे कुछ नहीं। ये सब वारम्वार यमराज के हवालात मे बन्द किये जायेंगे।

अविद्यायांमन्तरे वर्तमानाःस्व यं धीराःपण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाःपरियन्ति मूढ़ाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

कठो० १-२-५

अविद्या के भीतर स्थित होकर भी अपने आपको धीर और पण्डित मानने वाले मूढ़ अन्धे के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे की तरह ठोकरें खाते चारों ओर भटकते रहते हैं।

महात्मा सुकरात (साक्रेटीज) से एकवार किसी ने पूछा कि मैथुन कितने बार करना चाहिये ? उत्तर मिला. जीवन मे

एकवार। न रहा जाय तब ? अच्छा दो बार। फिर वर्ष मे एकवार, मास मे एकवार। जब वह पूछता ही गया तब सुकरात ने कहा कि पहिले चिता सजालो फिर जाकर मरो।

मनुष्यजीवन मे मैथुन करने की नहीं, वल्कि कभी न करने की चीज है। जिनके लिए इतना संयम संभव नहीं वे विवाह करके केवल दो एक सन्तान उत्पन्न करने के लिए स्त्री-समागम करें। जो इसमे भी असमर्थ हों वे तन्त्र और हठयोग के द्वारा वीर्यस्तम्भन करके विषयरस को सुखा डालें।

तन्त्र, योग और बौद्धग्रन्थों मे बज्रोली, अमरोली आदि मुद्राओं की चर्चा है। यह साधना गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के लिए है। त्याग की प्रबल इच्छा होते हुए भी जो अभीतक आत्म-नियन्त्रण मे समर्थ नहीं हुए हैं उनको इससे मदद मिल सकती है। मूल[1], उड्यान[2] और जालन्धर[3] बन्ध की सहायता से मन, प्राण और वीर्य का स्तम्भन करते करते विषय की नीरसता और निःसारता का भाव चित्त मे सुदृढ होजाता है। वीर्य की वाह्यगति न होकर जब वह अन्तर्चालित होने लगता है तब आनन्द भीतर से आने लगता है और विषयसुख का झूठा भ्रम सदा के लिए मिट जाता है। संसार मे ऐसा कौन मूर्ख है जो वीर्यधारण के सुख का एकवार अनुभव करके उसके पात मे सुख खोजने जाएगा। "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते"। आत्मरति का अनुभव हुए विना विषयों से पूर्ण विरति नहीं हो सकती। कामरिपु का कुत्सित रूप एकबार चित्त मे चढ़ा कि फिर महात्मा बनते देर कितनी लगती है। कहा है कि जो शीघ्र आत्मा की हृदय ग्रन्थि छेदन करना चाहे उसे वैदिक के साथ

१—मूलबन्ध=गुदा का संकोच। २—उड्यान=उदर का संकोच। ३—जालन्धरबन्ध=कण्ठ के छिद्र का संकोच।

तन्त्रमिश्रित विधि से केशव भगवान् की आराधना करनी चाहिए :—

"य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥

भा० ११-३-४७

अवश्य ही इन्द्रिय-निग्रह एक व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। इस विषय मे वलात् किसी पर संयम लादा नहीं जा सकता। किन्तु निर्वल और रोगी शरीर से भोग भी तो नहीं होता। सुतरां तन्त्र-मन्त्र से, योग-याग से जैसे भी हो संयम ही इस रोग की रामवाण दवा है। इससे जनसंख्या, मृत्यु संख्या, रोगियों की संख्या, अपराधियों की संख्या, यहाँ तक कि सारे अनर्थों की संख्या एकसाथ कम होजायेगी और सबसे बड़ी बात यह होगी कि संयम से भगवान् मिलेंगे। संयम के वलपर ही उपनिषद् के ऋषि खाट मे पड़े-पड़े नहीं अपितु काम करते हुए संसार मे सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करते थे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" ईश० म० २

पाश्चात्य चिन्ताधारा देह के जन्म मे एकमात्र देह को ही कारण मानती है। "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ गीता १६-८। जगत आश्रयरहित, असत्य और विना परमेश्वर के है। अपने आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसमे कामभोग ही हेतु है। इसके सिवाय और क्या है? गीता का भगवान् इस विचारधारा को आसुरी सम्पत्ति बतलाता है। दुर्भाग्यवश संसार आज इसी दुस्तर धारा मे बह रहा है और आर्यऋषियों की जन्मभूमि भारतवर्ष भी स्वतन्त्रता लाभकर इसीसे डूबना

चाहता है। इस देश के साधारण जनता की धारणा यह है कि जन्म, मरण, विवाह तीन विधि के हाथ हैं। उनके बिना एक तिनका भी नहीं हिलता इसलिये गर्भाधान मे भी निःसन्देह भगवान् ही कारण हैं। किन्तु विधवा और कुमारी को तो प्रसव करते देखा नहीं जाता। अतएव न तो यह सत्य है कि समाज केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, भगवान का इसमे कोई हाथ नहीं और न यही कि यह केवल भगवान् से उत्पन्न हुआ है, इसमे स्त्री-पुरुष का कोई हाथ नहीं। भगवान् के बनाये हुए कुछ प्राकृतिक नियम हैं और वे उतने ही बलवान् हैं जितने कि स्वयं भगवान्। जैसे आम के पेंड़ मे आम के बीज लगते हैं वैसे ही मनुष्य ईश्वरदत्त मनुष्यजाति का बीज धारण करता है। इसलिये विसर्ग[1] का काम भी भगवान् का आदेश मानकर करना चाहिये। हिन्दूजाति के जीवन का कोई भी अङ्ग भगवान् से अछूता नहीं। प्रत्येक कर्म के साथ भगवान् का सम्बन्ध जोड़कर ऋषियों ने कर्म को भगवत्पूजा का फूल बना दिया है। गीता कहती है--"स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिम् विन्दति मानवः"। कर्मफलभोक्ता जीव है। इसलिये कर्माध्यक्ष होते हुए भी जीव को निमित्त बनाये बिना परमेश्वर प्रत्यक्ष रूप से संसार मे कुछ नहीं करता। एक तृण पर्यन्त संसार मे जो कुछ भी है सब भगवान् के हाथ का यन्त्र है। जीव अहंकार के वश मे होकर संसार-चक्र के अव्यक्त चालक को नहीं देखता। जीवन-संग्राम की प्रत्येक विजय को अपनी मानकर वह कभी फूलता, कुम्हलाता और अन्त मे झड़कर गिर जाता है। अहंकार मर जाय तो जीवन और जगत की प्रत्येक चेष्टा भगवत्प्राप्ति का साधन होजाय। स्त्री-पुरुष को

१—विसर्ग=सृजन।

निमित्त बनाकर परमात्मा ही सृष्टि कर रहा है। "सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता"॥ गीता १४-४—भगवान् कौन्तेय से कहते हैं कि सर्व योनियों मे जितनी भी मूर्त्तियां उत्पन्न होती हैं महद्ब्रह्म (महत्तत्त्व) उन सबों की योनि अर्थात् माता है और मै बीज प्रदान करने वाला सबका पिता हूँ। कवि रवीन्द्र ने कहा है "आमारे ना जेनो करी प्रचार आमार आपन काजे; तोमारी इच्छा हउक पूर्ण आमार जीवन माझे"।

गृहस्थों को उचित है कि वे देव कोटि के बालक-बालिकाओं को जन्म देकर संसार मे दैवी सम्पत्ति के बलको बढ़ायें। आसुरीशक्ति के उपर विश्व की विजय हो।

—

युवक

(क)

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव"
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्
यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः ।

तैत्ति० उ०

माता देवता हो, पिता देवता हो, आचार्य देवता हो। कौन कर्म वा आचरण करें और कौन न करें मनमे जब कभी ऐसा सन्देह उपस्थित हो तो उन-उन बातों मे गुरुजन जैसा वर्ताव करें अपने को भी वैसा ही करना चाहिए।

युवक ! तू देश की अगली पीढ़ी का शिक्षक और पिता होगा, तब यह नहीं चाहेगा कि तेरे बच्चे तेरी बात न सुनें। इसलिए तू भी अपने गुरु और पितृजनों की आज्ञा का लंघन न कर। औद्धत्य छोड़कर सदा विनम्र बना रह। कल जब तू कन्या का पिता होगा तब यह नहीं चाहेगा कि पथ मे जाती तेरी पुत्री से कोई छेड़छाड़ करे, इसलिए तू भी किसी कुमारी से असभ्यता का व्यवहार न कर। आज तू किसी अधिकारी के विरुद्ध हड़ताल और विद्रोह फैला सकता है परन्तु कल जब तू स्वयं एक अधिकारी बनेगा तब इस भावना की भूल समझ मे आजायेगी। आज किसी धनी को देखकर तेरा दिल यह चाहता है कि इसे लूटकर अपने जैसा दरिद्र बनादें परन्तु कल जब तू परिश्रम के पैसे से लक्ष्मीपति बनेगा तब समानता का यह पाठ भूल जाएगा और तेरी महत्त्वाकांक्षायें गलत सिद्ध होंगी। यही नहीं, लूट के पैसे को भी तू बराबर बाँटकर खाना

नहीं चाहेगा। यदि तेरे पास एक रोटी है तो आधी किसी भूखे को दे दे, ऐसा करने से अन्नपूर्णा तेरे पास स्वयं दश रोटी और भोज देंगी और तू बाँटता ही रहेगा। यदि दूसरे का छीनकर मौज उड़ाना चाहेगा तो स्वयं भी दरिद्र हो जाएगा और दूसरों को भी दरिद्र बना डालेगा। तेरी बुद्धि मे जो न्याय है उसे स्वयं कर सकता है और दूसरों से केवल कह सकता है। भिखारी तेरे द्वार पर एक पैसे के लिए जाता है और तब तू धन के मद मे उसे अकर्मा कहकर कुत्ते की तरह दुत्कार देता है। याद रहे, वही कल चोर बनकर तेरे घर जाएगा और तेरा सर्वस्व हर ले जायेगा, तब तू भी भिखारी बनकर घर-घर घूमेगा और चाहेगा कि तुझे कोई कुछ दे दे। आज तेरे रक्त मे गरमी है; अपने आश्रित, वृद्ध माता-पिता और रोगीजनों से तू घृणा करता है। सावधान! काल तुझे छोड़ेगा नहीं और जब तू भी कल रोगी और वृद्ध होजाएगा तो चाहेगा कि दूसरे तेरी सेवा करें। जबतक तेरी बहिर्दृष्टि है तुझे ऐसा जान पड़ता है कि तेरी सब बातें ठीक और दूसरे की सब गलत हैं, जब तेरी अन्तर्दृष्टि होगी तब समझेगा कि तेरी बहुत सी बातें गलत हैं और दूसरों की बातों मे भी कुछ सत्य है।

(ख)

"ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो नतु मानुषः"

युवक! जन्म से मृत्यु तक यदि तू ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी है तो तू पृथ्वी का देवता है। यदि सन्तान के लिए जीवन में केवल एक या दो बार इच्छा से ब्रह्मचर्य खण्डित करता है तो तू आदर्श मानव है। यदि तू ऋतुगामी है तो पशु है। यदि तू

प्रकृति की इस मर्यादा को भी नहीं मानता तो इस देह का त्याग करदे, तुझे जीने का हक़ नहीं।

यदि तू विश्व की प्रजा-परिषद का सदस्य होना चाहता है तो अपना अंशी खोज और परीक्षा करके पाणिग्रहण कर। वर्तमान चुनाव पर ही तेरा भावी सुख अवलम्बित है। देख, उसीके गर्भ मे तेरे देश की आशायें छिपी हैं। जल्दी मत मचा। अकस्मात् कोई काम करके एकबार चूका कि फिर चूका। आप्तकामा[1], सदाचण्डी, क्रोधना, प्राज्ञमानिनी[2] कैकेयी को अपने घर मत ला। जो नैसर्गिक शोभा से सन्तुष्ट नहीं, अतिरिक्त वेश-विन्यास से चतुर्दिक मनसिज[3] के कीटाणु बिखेरकर जो पापी भौंरों को निमन्त्रण देती है, जिसका अधिक समय नश्वर देह के सजाने मे जाता है, चर्मरंग के सौन्दर्य मे जो फूली नहीं समाती, आत्म-प्रशंसा सुनने के लिए जो उत्कर्ण[4] है, जो अट्टहास करती और सप्तमस्वर मे बोलती है, पितृगृह से जाने के लिए जिसके पैर मे शनीचर चढ़ा है, जिसके आंख की पुतली गृद्ध के समान पुरुषों के चेहरों मे निर्लज्ज विचरती है, शील जिसके स्वभाव को छूता ही नहीं, जिसका मिजाज बहुत तेज है, झूठ और परनिन्दा जिसके जीभ मे घर कर लिया है, जो बहुत बोलती और मुख से ही पेट का सारा मल निकालती है उसका मुखमण्डल चाहे आकाश का चाँद ही क्यों न हो, उसकी आत्मा सुन्दर होने मे सन्देह है,

१—आप्तकामा=जैसे भी हो अपनी इच्छा पूरी करनेवाली स्त्री। २—प्राज्ञमानिनी=अपने को बहुत बुद्धिमती माननेवाली स्त्री। ३—मनसिज=कामदेव। ४—उत्कर्ण=कान खड़ा किये।

उस ओर से तू अपना मुख फेर ले। उसके रूपजाल मे फँसकर यदि व्याह किया तो तेरा शान्तिसदन कोपभवन मे बदल जाएगा। इसके विपरीत जिसका मधुभरा भावुक हृदय हो, जो मृदुस्वभाव, व्यवहार-कुशल, दक्ष, शिष्ट, भद्र, शिक्षित और बहुज्ञ हो उसे तू अपने घर की रानी बनाकर विश्वासपूर्वक सारा काम सौंपदे। जिसकी अंग चेष्टायें सब नृत्य हों, जीभ से संगीत बर्षे, मुख से फूल झड़ें वह प्रेम भरे नेत्रों के शीतल जल से नहला कर तेरा सारा तापश्रम हर लेगी। तेरी सारी कमाई उसके हाथ मे रखदे, विश्व उसके गर्भ से निकला है, वह तेरे से अच्छा प्रबन्ध कर लेगी, उसमे दखल मत दे। वह भाषण से नहीं, भ्रूचाप मे विवेकबाण चढ़ाकर घर का शासन करती है। उसे ईश्वरदत्त प्रसाद समझ। प्रेम और सम्मानपूर्ण व्यवहार से उसके हृदय मे घर करले। रूखे व्यवहार से उसकी कोमल भावनाओं को हिंसित न कर; भर्त्सना करके नहीं, समझाकर उसकी त्रुटियों का शोधन कर। उसकी सम्मतियाँ सचाई से भरी सीधे हृदय मे निकलती हैं, अकारण उनका विरोध मतकर। उससे कठोरता से अपनी आज्ञा का पालन न करा। अपनी गुह्य बातें उसके हृदय मे भर दे। वह तेरे मनोविकार की दासी नहीं है। कुकर्मी बनकर उसे धोखा न दे, विश्वासघात से उसके हृदय को चोट लगती है। अपना अवगुण देख। उसका हृदय कोमल है, उसके साथ निर्दयता का व्यवहार न कर, बीमारी मे तेरी दया और प्रेमभरी दृष्टि उसके लिए दश वैद्यों से कहीं अधिक है। परस्त्री से प्रेमकर उसे पर-पुरुष से प्रेम करना मत सिखा। वह आर्यनारी है जो तेरे साथ जियेगी और तेरे साथ मरेगी। चुनाव मे जो छानबीन करना हो सो करले, ऋषियों का आदेश है कि फिर प्राण रहते

मृत्यु या सन्यास के पहिले तू उसे छोड़ नहीं सकता।

तेरी गृहिणी विदुषी और वागेश्वरी हो। चुन-चुन कर बोले। उसकी भाषा राष्ट्रभाषा होगी। बच्चे माता की मधुभाषा को अपने कर्णपुटों से पीते हैं। मुख से झड़े विष को बच्चे कहीं चुग लिये तो उनके वाग्देवी की हत्या होजाएगी। अर्द्धांगिनी जब प्रसूतिका हो तो याद रख, गर्भ मे जाकर तू ही उसका बच्चा बनकर पैदा हुआ है। बच्चे की आँख से स्त्री को देखकर तू संयत हो जा। ब्रह्मचर्य के फूटे बाँधको फिर से बाँधना होगा। अब वह रमणी नहीं, जननी है। तेरे बच्चे उसे मातृ-भाव से प्यार करना तुझे सिखा रहे हैं। अपने बच्चों को अपना गुरु बना और दिव्यप्रेम का पाठ उनसे सीख। बच्चा मातृभाव से स्त्री की पूजा करना सिखा रहा है। पत्नी जब जननी होजाय तो तू वसुधैव कुटुम्बी होकर आत्मचिन्तन और राष्ट्रहितचिन्तन मे लगा हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा कर। उस स्त्री का पति धन्य है और धन्य है उसका पुत्र जो मैत्रेयी के समान यह कहे कि "येनाऽहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्"—पतिदेव! जिसे पाकर मै अमर नहीं होजाऊँगी उस नश्वर संसार को लेकर मैं क्या करूँगी? वृह० उ०।



शिक्षा

(क)

ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल मे निवास करते आयु के २४ वर्ष पूरे होगए। ज्ञानगंगा मे स्नान करके विद्यार्थी स्नातक होगया। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वनने की इच्छा उसकी नहीं है। वह समावर्तन संस्कार करके लोकधर्म को स्वीकार करना चाहता है। बिदा मागने के लिये प्रणिपात करके विनम्र भाव से हाथ जोड़ सामने खड़े हुए शिष्य को गुरुदेव आदेश करते हैं :—

वेदम् अनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनम अनुशास्ति = वेद पढ़ाकर आचार्य अन्तेवासी[1] को शिक्षा देता है। सत्यं वद= सत्य बोलो। धर्मं चर=धर्म का आचरण करो। स्वाध्यात् मा प्रमदः=स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। आचार्याय प्रियं धनं आहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः=आचार्य के लिये प्रिय धन आहरण कर वंश-परंपरा को चालू रक्खो, संतान के सूत्रको छेदन मत करो। सत्यान् न प्रमदितव्यम्=सत्यसे प्रमाद करना उचित नहीं। धर्मान् न प्रमदितव्यम=धर्म से प्रमाद करना उचित नहीं। कुशलान् न प्रमदितव्यम=जिससे अपना स्वास्थ्य अच्छा रहे, जिससे अपनी भलाई हो उन शुभ कर्मों से प्रमाद कभी न करना चाहिये। भूत्यै न प्रमदितव्यम= जिससे अपने ऐश्वर्य मे वृद्धि हो उन्नति के उन साधनों से प्रमाद करना उचित नहीं। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्=स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद न करना चाहिये।

१—अन्तेवासी=गुरु के पास रहने वाला विद्यार्थी।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्=देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद न करना चाहिये। (यहाँ तक प्रमाद, आलस्य, असावधानी या लापरवाही को धर्ममार्ग का सबसे बड़ा शत्रु मानकर आचार्यने उससे शिष्य को बारम्बार सतर्क किया है)।

मातृदेवो भव=माता मे तुम्हारी देवबुद्धि हो।

पितृदेवो भव=पिता मे तुम्हारी देवबुद्धि हो। आचार्यदेवो भव=आचार्य मे तुम्हारी देवबुद्धि हो। अतिथिदेवो भव=अतिथि मे तुम्हारी देवबुद्धि हो। यानि अनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि=जो अनिन्द्य कर्म हैं उनका सेवन कर, दूसरे निन्द्य कर्म तुझे न करना चाहिये। यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि=हमलोगों के जो सुन्दर आचरण हैं उनकी तू उपासना कर, इनसे इतर जो हमारे चरित्र मे दोष हों उनका अनुकरण तुझे न करना चाहिए। ये के च अस्मत् श्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्=कोई भी हो, जो हमलोगों से अधिकतर ब्रह्मवेत्ता हैं उनको तुम अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर सन्तुष्ट करना। श्रद्धया देयम्=जो भी दो श्रद्धा से दो। अश्रद्धया अदेयम्=अश्रद्धा से देना उचित नहीं। श्रिया देयम्=अपने वित्त के अनुसार दो एवं सुन्दर ढंग से दो। ह्रिया देयम्=दान मे विनय और संकोच हो, अहंकार नहीं; सोचो अरे मैने क्या दिया, मै तो धन का संरक्षक हूं स्वामी नहीं, जिस विष्णु की लक्ष्मी है उसी की सेवा मे तो मैने कृष्णार्पण किया है? भिया देयम्=मेरा तो उतना ही है जितना मेरे पेट मे जाता है ऐसा सोचकर कर्त्तव्यबुद्धि से तो देना ही चाहिये साथ ही इस भय से भी देना चाहिये कि पास मे रहते हुए भी न देने से एक तो संसार मे कंजूस कहकर लोग

बदनाम करेंगे, दूसरे जो आज दरवाजे पर चार पैसे के लिये भीख मागने आये हैं न देने पर जब वे भूखों मरेंगे तब कल डकैत बनकर घर-घुसेंगे और सर्वस्व लूट ले जायेंगे, मौत भी हमे छोड़ेगी नहीं तब सब तरह से केवल पछताना ही हाथ लगेगा, उसकी अपेक्षा आज दानकर लोक मे यश और परलोक मे पुण्य कमाना कहीं अधिक अच्छा है। संविदा देयम्=दान मे देश, काल और पात्र का ठीक-ठीक विचार भी अवश्य कर्त्तव्य है। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः=अब यदि तुझे कर्त्तव्य कर्म मे अथवा आचरण या आजीविका के बारे मे कभी कोई सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ जो कोई यथार्थ निर्णय करनेवाले, योगी, सदाचारी और धर्म की कामनावाले तत्त्वज्ञ ब्राह्मण हों, स्वभाव जिनका रूखा न हो वे लोग उन कर्मों और आचरणों मे जैसा वर्ताव करें उन विषयों मे निश्चय तुमको भी वैसा ही वर्ताव करना चाहिये। अथ अभ्याख्यातेषु—ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः= अब यदि किसी के ऊपर मिथ्या अभियोग लगाये गये हों तो उनके सम्बन्ध मे यथार्थ निर्णेता, योगी, सदाचारी, अरूखे स्वभाववाले और धर्मकामी ब्रह्मविद् पुरुष जैसा वर्ताव करें वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। एष आदेशः=यही वेद-शास्त्र की आज्ञा है। एष उपदेशः=यही उपदेश है। एषा वेदोपनिषद्= यही वेदों का सार रहस्य है। एतद् अनुशासनम्= यही परम्परागत शिक्षा है। एवम् उपासितव्यम्=तुमको ऐसा ही अनुष्ठान करना चाहिये। एवम् उ च एतद् उपास्यम्=

निःसन्देह यह इसी प्रकार अनुष्ठान के योग्य है। तैत्ति० उ० शिक्षावल्ली एकादश अनुवाक्।

"समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति" जो मिथ्या भाषण करता है वह जड़सहित सूख जाता है—

प्रश्नो० ६ प्र०, १ मं०।

× × (ख) × ×

ॐ श्वेतकेतुः हा आरुणेयः आस तं ह पिता उवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्य अस्मत् कुलीनः अननूच्य ब्रह्मबन्धुः इव भवतीति। छान्दो० ६-१

अरुण का पौत्र श्वेतकेतु था। पिता उद्दालक ने पुत्र से कहा, श्वेतकेतो! तू ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल मे वास कर। हमारे कुल मे अध्ययन न करके कोई भी ब्रह्मबन्धु[1] सा नहीं होता। "स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदान् अधीत्य महामनाः अनूचानमानी स्तब्धः एयाय" तब वह १२ वर्ष की अवस्था मे उपनयन कराकर गुरुगृह मे वास करने लगा और २४ वर्ष की अवस्था मे सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके अपने को बहुत बड़ा बुद्धिमान् और वेद का व्याख्याता मानते हुए अनम्रभावसे घर लौटा। श्वेतकेतु की आँख और मुखाकृति में दर्प और उद्दण्डता की छाया देखते ही उद्दालक ऋषि ताड़ गये और सोचा कि है दाल मे कुछ काला। विद्वान् मे देहाभिमान और विद्याभिमान तो होता ही नहीं। मालुम पड़ता है कि इसने सब कुछ जाना परन्तु अपने को नहीं जाना। "स्व" का अध्ययन किये विना तो स्वाध्याय पूरा ही नहीं होता। असली

१—ब्रह्मबन्धु=नाममात्र का केवल जन्म से ब्राह्मण, कर्म से नहीं; ब्राह्मण कुल मे पैदा होकर भी जो मूर्ख है वह।

विद्या की जड़ तो आत्मा है। "(आत्मनि) विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति" मुण्डक उ०। आत्मज्ञान मे सब ज्ञान आजाता है। आत्मा को न जानकर सब कुछ जानकर भी मनुष्य कुछ नहीं जानता क्योंकि उसके सारे आचरण मूर्ख जैसे ही होते हैं। '१२ वर्ष पढ़कर भी लड़का मूर्ख ही निकला' मन मे ऐसा खेदकर उद्दालक ऋषि ने लड़के से पूंछा, "तं ह पिता उवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्य इदं महामना: अनूचानमानी स्तब्धः असि उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यः, येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातम् इति" छान्दो० ६-२-३। पिता ने कहा, सोम्य श्वेतकेतो ! तू जो इतना महामना, पाण्डित्य का अभिमानी और अविनीत है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है जिसके द्वारा जो नहीं सुना गया है वह भी सुनलिया जाता है, अमत मत और अविज्ञात भी विशेषरूपसे ज्ञात होजाता है? श्वेतकेतु ने जबाव दिया "कथं नु भगव: स आदेशः भवतीति" भगवन् ! वह आदेश कैसा होता है मै नहीं जानता और निश्चय मेरे गुरु जी भी उसे नहीं जानते, यदि जानते तो हमसे अवश्य कहते।

वर्तमान अध्यायी, अध्यापक और अध्ययनशालाओं की यही दुर्दशा है। सर्वत्र अविनय और अहंकार का राज्य है। अहंतत्व तो मनुष्य मे जन्म से है। किन्तु परा विद्या के द्वारा वास्तविक अहम् को पहिचान लेने से झूठे अहम् की मौत हो जाती है। अभिमानवश मनुष्य अपने को जगत् से भिन्न और श्रेष्ठ मानता है। देह, गेह, नेह, विद्या, बुद्धि, रूप, गुण, और पद जितनी भी एकदेशीय वस्तुयें हैं उन सबके अहंकार का यही सुनिश्चित फल है। आत्मज्ञानी अपने को जगत् से अभिन्न मानता है। विश्वात्मा किसको बड़ा-छोटा

मानकर अभिमान करे, क्योंकि वही तो सब है। 'किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्' जब आत्मा से भिन्न द्वैत नाम की कोई वस्तु ही नहीं तब क्या और कितना भद्र वा अभद्र है यह प्रश्न ही नहीं उठता। 'आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः। त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः'॥ यह जो कुछ भी विश्व है वह आत्मरूप ही है। वही प्रभु अपने को सृष्टि के रूप में सृजन करता है। जो विश्वात्मा है स्वयं वही स्वयं का सृजन कर स्वयं ही स्वयं की रक्षा और स्वयं ही स्वयं का संहार करता है। 'तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः' इसलिए आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ का कहीं निरूपण ही नहीं है। 'एतद् विद्वान्......न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सुर्यवत्' जो इस प्रकार आत्मा को जानता है वह लोक में सूर्यवत् विचरता है किसी की निन्दा-स्तुति नहीं करता, भा० ११-२८-४-६-७-८। या तो हम इतने अणु हैं कि हमसे छोटा दूसरा कोई नहीं अथवा हम इतने महान् हैं कि अखिल विश्व हम में समाया हुआ है, हमसे भिन्न कुछ नहीं। अहंकार से बचने के बस ये ही दो उपाय हैं, प्रथम भाव को वैष्णव भक्तों ने अपनाया है और दूसरे को ज्ञानियों ने। चैतन्य महाप्रभु का श्लोक है "तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना, अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः" जो तृण से भी अधिक नीच, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, स्वयं अमानी और दूसरे का सम्मानी है वही सर्वदा भगवान् का कीर्तन करने के लिये उपयुक्त व्यक्ति है। ज्ञानी और भक्त के उक्त दोनों भावों में परस्पर कोई विरोध नहीं, क्योंकि आत्मा में वे दोनों ही भाव विद्यमान हैं। "अणोरणीयान् महतो महीयान्" वह आत्मा अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है।

यह मनुष्यशरीर वास्तव मे अहंकार का ही ३½ हाथ का एक पौधा है। आत्मज्ञानविहीन जितना भी बौद्धिक विकास है सब उस पौधे मे खाद-पानी का काम करता है। जितनी ही बुद्धि बढ़ती है हृदय उतना ही शुष्क होता जाता है। हृदय शुष्क होजाने से श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और निष्ठा प्रभृति सद्गुणों की मृत्यु होजाती है। कहीं मन ही स्थिर नहीं होता "अशान्तस्य कुतः सुखम्" अशान्त को सुख कहाँ ? अहं को छाती का पीपर कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसकी जड़ें हृदय का शोषण कर जीवन को चौपट कर डालती हैं। विद्या-बुद्धि और जीवन के बीच मे एक मोटी दीवाल खड़ी होजाती है। वे न तो एक दूसरे को स्पर्श करते और न जीवन मे उस ज्ञान का कुछ प्रभाव ही पड़ता। संशय बढ़ता ही जाता है। संशयात्मा विनश्यति ही उसकी परागति है। सूत्र से बँधी पक्षी आकाश मे चाहे जितनी दूर उड़ जाय अन्त मे उसको बन्धन के स्थान मे लौटकर आना ही पड़ेगा, अन्यत्र कहीं विश्राम नहीं मिल सकता। उसी प्रकार हृदय गुहा मे सोते आत्मा को छोड़कर विश्व की विद्या-बुद्धि विकास के नामपर आकाश मे ऊँचे चढ़ते-चढ़ते चाहे चन्द्रलोक की यात्रा ही क्यों न कर आये मनुष्य को कहीं शान्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि देहादि असत् पदार्थों मे जिसकी अहंबुद्धि है वह मूर्ख ही है—"मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः" भा० ११-१६-४२।

"यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इति एव सत्यम्" छान्दोग्य। सोम्य। जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से मिट्टी की बनी जितनी भीवस्तुयें हैं उनका ज्ञान होजाता है; घट, इष्टक और दीप तो वाणी से कहने भर के लिये नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, उसी प्रकार विश्व का तत्त्व जो आत्मा है

उसे समझ लेने से और सब समझ मे आजाता है। "सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" हे सोम्य ! सत् ही इस सारी प्रजा का मूल है, सत् ही इसका आश्रय और सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है। 'स य एषः अणिमा एतद् आत्म्यम् इदम् सर्वं तत् सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" वह जो यह अणिमा अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है वही ज्ञेय है, एतद्रूप ही यह सब है, वही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। "एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्, यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्।"

भा० ११-२६-२२

बुद्धिमानों की वही बुद्धि और मनीषियों की वही मनीषा है जो मृत्युग्रस्त इस मिथ्या देह से संसार मे रहते हुए सत्य और अमृतरूप उस शुद्ध "अहम्" परमात्मा को प्राप्त कर लेती है।

———

चतुःषष्टिकलाः

"अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः"

भा० १०-४५-३६

श्रीकृष्ण और बलराम उपनयन संस्कार से द्विजत्व लाभकर विद्याध्ययन के लिए गुरु सान्दीपनि के पास उज्जैन गये। छै अंग और उपनिषद् सहित चारों वेद, मंत्र और उनके देवताओं के सहित धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, छै प्रकार की राजनीति, न्याय और अध्यात्मविद्या अध्ययन किया। दोनों भाई चौसठ दिन-रात मे चौसठ कलायें सीखा। फिर गुरुजी को दक्षिणा देकर सन्तुष्ट किया और घर चले आये। वे ६४ कलायें कौन हैं जिन्हें कृष्ण-बलराम ने सीखा यह कहना आज बहुत कठिन है। ग्रन्थों मे अलग-अलग वर्णन मिलता है। संख्या और सूची मे भी गड़बड़ है। एक-एक कला की अनेक शाखायें हैं। बौद्ध जातक ग्रन्थों मे सैकड़ों की संख्या गिनाई गई है। ललितविस्तर मे ८६ और कादम्बरी मे ४८ की संख्या दी हुई है। कहीं-कहीं तो पांच-पांच सौ तक संख्या मिलती है—इनमे कौन मुख्य और कौन शाखा-प्रशाखा हैं इसका निर्णय करना आज असंभव है। वात्स्यायन और शुक्र-नीतिसार मे संख्या तो ६४ ही गिनाई गई है किन्तु दोनों की सूची से बड़ा अन्तर है। जो वर्णन मिलता है उनमे वर्तमान युग के लिए कुछ अनावश्यक भी हैं। जो पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं उनका अर्थ भी अस्पष्ट और विवादास्पद है। फिर किसी-किसी ने अपनी सूची मे वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद आदि को भी सम्मिलित किया है और

किसी ने ६४ कलाओं को इन विद्याओं से भिन्न माना है। कलाओं मे कुछ का सम्बन्ध विशेषकर स्त्रियों से है और कुछ का पुरुषों से किन्तु सीखते स्त्री-पुरुष दोनों थे। शुक्रनीतिसार मे वर्णित सूची लोकव्यवहार की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। वात्स्यायन कामसूत्र की सूची सर्वमान्य है; वही यहाँ दी जारही है। श्रीधरस्वामी ने भी सामान्य परिवर्तन के साथ उसी को माना है।

१—गीतम्; २—वाद्यम्; ३—नृत्यम्; ४—आलेख्यम्=चित्रकला; ५—विशेषकच्छेद्यम्=बेल-बूटे बनाना अथवा पत्ते से टोप-खोम्हरी आदि शिरस्त्राण बनाना। ६—तण्डुलकुसुम-बलिविकाराः=चावल और पुष्प से पूजोपचार की रचना किम्वा चावल पीसकर उससे आलिम्पन या मण्डल बनाना। ७—पुष्पास्तरणम्=फूलों से गृह और सेज की सजावट। ८—दशनवसनाङ्गरागः=वस्त्र रँगना तथा देह और दाँतों को स्वच्छ एवं सुन्दर रखना। ९—मणिभूमिकाकर्म=मोजैक या पच्चीकारी का काम किम्वा मणियों की फर्श बनाना। १०—शयनरचनम्=शय्या-रचना से लेकर पति को प्रसन्न रखने की सब युक्तियाँ। ११—उदकवाद्यम=जलतरंग तथा मुरज बजाना। १२—उदकघातः=पिचकारी या हाथ से उलीच कर जलक्रीड़ा करना अथवा जलबन्धन कर बाँध या पुल बनाना। १३—चित्राश्चयोगाः=विचित्र सिद्धियाँ दिखाना अथवा देशद्रोहियों को ओषधि, छल या अभिचार से क्षति-ग्रस्तकर भगा देना। १४—माल्यग्रथनविकल्पाः=भाँति-भाँति के पुष्पहार और स्तवक[1] बनाना। १५—शेखरकापीडयोजनम्=पुष्पों से कर्ण और शिर के आभूषण बनाना किम्वा शेखरक

१—स्तवक=फूल के गुलदस्ते।

और आपीडक दो शिरोभूषण सजाना । १६—नेपथ्यप्रयोगाः= नाट्यकला तथा रंगभूमि के योग्य साजबाज । १७--कर्णपत्र-भंगः=कानों के पत्तों की रचना, हाथी दाँत या धातु से कर्णफूल बनाना । १८--गन्धयुक्तिः=सुगन्धित इत्र-तेल या और कोई चीज तैयार करना । १६—भूषणयोजनम्—कपड़े और गहने बनाना तथा उन्हें यथायोग्य पहिनना एवं रखना । २०—ऐन्द्रजाल-योगाः—जादूगरी या अचम्भे की कोई बात । २१—कौचुमा-राश्चयोगाः—शक्तिवर्धक ओषधियाँ तैयार करना अथवा (कुच कौटिल्य अल्पीभावयोः—सूत्र के अनुसार) छोटा-बड़ा-टेढ़ा जब जैसा वेश धारण कर लेना । २२ - हस्तलाघवम्= हाथ की फुर्ती के काम, कार्य-दक्षता आदि । २३—विचित्र-शाकयूप—भक्ष्यविकारक्रिया—तरह-तरह के खाने के व्यंजन तैयार करना । २४—पानकरसरागासवयोजनम्=भाँति-भाँति के पेय पदार्थ तैयार करना । २५—सूचीवानकर्माणि—सुई का काम । २६— सूत्रक्रीड़ा—कठपुतली बनाना और नचाना । २७ – वीणाडमरुक वाद्यानि । २८—प्रहेलिका—पहेली, जैसे ऐसा कौन जानवर है जो आदि मे ४ पैर से, मध्यमे दो पैर से और अन्तमे ३ पैर से चलता है ? उत्तर-मनुष्य—पहिले बोकइयाँ, फिर सीधा, अन्तमे लाठी के सहारे । २६—प्रति-माला—अन्त्याक्षरी, जैसे एक ने कोई पद कहा, दूसरे ने उसके अन्तिम अक्षर से आरम्भ कर कोई अन्यपद इसी प्रकार । ३०—दुर्वाचकयोगाः=कूटनीति अथवा आपस मे मिलकर ऐसे श्लोक कहकर मनोविनोद करना जिसमे क ख, प फ आदि कठोर वर्ण आवें । ३१—पुस्तकवाचनम् । ३२— नाटकाख्यायिका दर्शनम्—नाटक-कहानी लिखना और रचना । ३३—काव्य-समस्यापूरणम् । ३४ पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः—झण्डी, पट्टी,

वाण और बेंतकी चीजें बनाना। ३५—तक्षकर्माणि=गलीचा-दरी आदि बनाना। ३६—तक्षणम्=बढ़ई का काम। ३७—वास्तुविद्या=गृहनिर्माणकी कला। ३८—रूप्यरत्नपरीक्षा। ३९—धातुवादः=खनिज को शुद्ध करना, गलाना, मिलाना या सोना-चाँदी बना लेना। ४०—मणिरागाकरज्ञानम्=मणियों के रंग की पहिचान और खदान का ज्ञान। ४१—वृक्षायुर्वेद-योगाः=पेंड़ की चिकित्सा और कलम आदि बांध कर तरह-तरह के पौधे तैयार करना। ४२—मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः। ४३—शुकसारिका प्रलापनम्=तोता-मैना पढ़ाना। ४४—उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्=शरीर और केश की सफाई तथा मालिश। ४५—अक्षरमुष्टिकाकथनम्=शब्दसमूह बनाना और उनका अर्थ निकालना जैसे मेषवृषादि १२ राशियों के लिए "मेवृमिकसिंकतुवृधमकुंमी," अथवा मुट्ठी की चीज या मन की बात बताना। ४६—म्लेच्छितविकल्पाः=म्लेच्छ काव्य समझना या अस्पष्ट संकेत लिपिज्ञान। ४७—देश-भाषाविज्ञानम्। ४८—पुष्पशकटिका=फूलों को सजाकर उससे गाड़ी, घोड़ा आदि बनाना। ४९—निमित्तज्ञानम्=लक्षण या शकुन अपशकुन का ज्ञान। ५०—यन्त्रमातृका=नाना प्रकार के मातृका यन्त्र बनाना किम्वा जल-स्थल के यान बनाना। ५१—धारणमातृका=एकबार सुनकर ही आवृत्ति करजाना और धारणाशक्ति बढ़ाना। ५२—सम्पाठ्यम्=ऐसा श्लोक कहना जो दूसरा न जाने या संकेत भाषा बनाना किम्वा वार्तालाप की कला। ५३- मानसी=जिसमे किसी पद्य के कुछ शब्द या अक्षर लिखना और कुछ छोड़ देना, दूसरा पूर्ति करे वह विद्या अथवा नई-नई बातें सोचकर निकालना। ५४—काव्यक्रिया=कविता करना। ५५—अभिधानकोशछन्दो-

विज्ञानम=शब्दकोश और छन्दों का विशेषज्ञान। ५६ - क्रिया-कल्प:=काव्य और अलंकार का ज्ञान। ५७—छलितकयोगा: =छल या कूटनीति से कार्य सिद्ध करना। ५८—वस्त्रगोपनानि =वस्त्रों को यत्न से रखना, रक्षा करना एवं पहिनने की कला। ५९—द्यूतविशेषा:। ६०—आकर्षक्रीड़ा=रस्सा खिंचाई आदि का खेल किम्वा दूर के मनुष्य या वस्तुओं को आकर्षण कर लेना। ६१—वालक्रीडनकानि=बच्चों को नाना प्रकार के खेल सिखाना, तरह-तरह के वालक्रीड़ा की सामग्री तैयार करना आदि। ६२—वैनयिकीनांविद्यानांज्ञानम्=मनुष्य को शिष्ट, सभ्य, शिक्षित, विनयी और व्यवहार कुशल बनाने की कला। ६३—वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्=युद्ध मे विजय की कला। ६४—व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम=नाना प्रकार के व्यायामों का ज्ञान, मल्लयुद्ध, तैरना आदि।

"षोडशकलः सोम्य पुरुषः" छान्दो०—पुरुष की षोडश कलायें हैं। चन्द्रकला भी षोडश हैं। एक-एक कला की चार-चार रश्मियाँ और होती हैं। इस प्रकार ६४ कलायें मानी गई हैं। फिर इन्हीं के सैकड़ों भेद-प्रभेद होगये हैं। कलाओं का जहां भी वर्णन मिलता है उनमे अन्य भेद जो भी हों किन्तु नृत्य, गीत, वाद्य से सभी ने प्रारम्भ किया है, इनको किसी ने नहीं छोड़ा। भारतवर्ष मे स्त्री-पुरुष दोनों नृत्य, गीत और वाद्य मे प्रवीण होते थे। लौकिक शिक्षा के ये विशेष अंग हैं। इस देश मे इनका इतना अधिक प्रचार था कि दूसरों कि कौन कहे अन्त्यज भाई भी आजतक नाच गाकर ही व्याह-शादी करते हैं। "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति"—ये सब अपरा विद्यायें हैं। मु० उ०। कहीं-कहीं इनको ६३ ही माना गया है।

क्षुद्रास्त्रिषष्टि विद्यास्स्युस्तत्फलं नश्वरं भवेत् ।
चतुष्षष्टितमी ब्रह्मविद्यात्वमृतदायिनी ॥

६३ विद्यायें क्षुद्र, लौकिक और नश्वर फलवाली हैं। चौंसठवीं ब्रह्मविद्या है जो अमृत प्रदान करनेवाली है। इसी को परा विद्या या अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्मविद्या ६४ वीं हो या ६५ वीं निश्चय यही परमार्थ है, इसीसे और केवल इसीसे आत्मकल्याण हो सकता है, अन्य किसी विद्या से नहीं। अक्षरतत्त्व की उपलब्धि परा विद्या से ही होती है "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" मुण्ड० उ०।

मातृदेवोभव

मान् पूजायाम् + डातृ वा तृच = माता मान्यते पूज्यते या सा। माता शब्द का अर्थ है पूजनीया। विश्व की जितनी भी भाषायें हैं माता शब्द का "मा" सबमे है। माता विश्ववन्द्य है, उसीने यह समाज प्रसव किया है। यद्यपि इस बात का यथार्थ ज्ञान किसी को नहीं कि हम किस स्त्री के उदर से पैदा हुए हैं किन्तु जनता को ईश्वर मे संशय है, अपनी माता के सम्बन्ध मे किसी को कोई सन्देह नहीं। माता पृथ्वी की आदि देवता है। सभी इसके ऋणी हैं। किसी दिन हम सब लोग मा के गर्भ मे थे। मातृभाव जीवन का आदिभाव है, इसे किसी से सीखना नहीं है। गर्भ से पृथ्वी की गोदमे गिरते ही नारीने मातृरूप से सबका मुख चूमा और हृदय से लगाया है। जन्म के बाद आँख खोलते ही मातृभाव से सबने स्त्रीजाति का मुखदर्शन किया है। अतएव मातृभाव से नारीजाति की पूजा बहुत ही सरल, सहज और स्वाभाविक है। भला बच्चे बनकर मातृभाव से नारीजाति की पूजा करने मे अपना क्या लगता है? संसार मे जितने पुरुष हैं नारिजाति के सब बच्चे ही तो हैं? बड़े होने पर हाथ-पैर जरा लम्बे-लम्बे होजाते हैं, और तो कोई बात है नहीं। अन्यभाव क्लिष्ट और कृत्रिम हैं। पत्नीभाव से स्त्री की उपासना तो बहुत ही कठिन कार्य है। इस देश ने माता का गौरव पितासे सहस्र गुण अधिक माना है "सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते"। पुरुष के गर्भ से पुरुष और स्त्री के गर्भ से स्त्री पैदा होती तब की बात भिन्न थी परन्तु ऐसा नहीं होता। वालक और वालिक दोनों की गर्भधात्री

होने के कारण स्वयं परमेश्वर ने ही स्त्रीजाति का गौरव संसार मे अधिक बढ़ा दिया है।

हिन्दू धर्मशास्त्र मे वेदविहित षोडश मातायें मानी गई हैं :—१—गर्भधात्री, २—स्तनदात्री, ३—भोजनदात्री, ४—गुरुप्रिया, ५—अभीष्ट देवपत्नी, ६—विमाता, ७—विमाता की कन्या, ८—सगर्भजा भगिनी, ९—पुत्रबधू, १०—पत्नी की माता, ११—मातामही, १२—पितामही, १३—भ्रातुष्पत्नी, १४—माता की बहिन, १५—पिता की बहिन, १६—मामा की स्त्री—मातुलानी। यद्यपि जगत् की अखिल स्त्रियाँ और अखिल विद्यायें माता हैं परन्तु उपरोक्त षोडश तो प्रत्यक्ष माता होने के नाते नित्य पूजनीया हैं।

मातः ! इस शब्द से सम्बोधन कर जिस किसी स्त्री से पुरुष सम्भाषण करे वह मातृतुल्या है "मातरित्येव शब्देन यां च सम्भाषते नरः सा मातृतुल्या"। माता इतना पवित्र शब्द है कि यदि कोई नर "मातुः पादौ वन्दे" केवल इतना ही कहकर किसी वारनारी की गोद मे नग्न बैठ जाय तो दोनों मे किसी की भी विषय मे प्रवृत्ति न होगी, यह ध्रुव सत्य है। मातृभाव काम-क्रोध से आत्मरक्षा करने का अभय कवच है। प्रातः सायं रोज मातृमुखदर्शन और मातृपदवन्दन करना चाहिए। ऐसा करने से पाप-खण्डन होता है। किसी स्त्री को देखकर मन मे विकार उठे तो तत्क्षण अपनी जन्मदात्री माता की आकृति का ध्यान करे, उससे काम-क्रोध हवा होजाएगा, खोजने से भी उसका कहीं पता न चलेगा। दुर्योधन की सभामे कर्ण युधिष्ठिर को अनाब-सनाब बक रहा था। युधिष्ठिर को क्रोध तो आए किन्तु जब भी उनकी दृष्टि कर्ण के युगल चरणों मे पड़ती, उससे माता की याद आजाने से उनका क्रोध ठण्डा होजाता

क्योंकि कर्ण के दोनों पैर कुन्तीमाता के पैरों से मिलते-जुलते थे। "सभायां क्लिश्यमानस्य......तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह। कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम" महा भा० शा० १-३६-४१ ॥

एक जोड़ा जूता को कोई आधे-आध बाँट नहीं सकता, वह जहाँ रहेगा पूरा ही रहेगा। मा-भगिनी का राष्ट्रीय-करण हो सकता है क्योंकि वे सबकी हो सकती हैं, नारीत्व का बाँटकर उपभोग नहीं होता। स्त्री जिस किसी की होगी सोलहआना केवल उसी की होगी। किन्तु पाण्डवों के हृदय मे माता के प्रति इतना अधिक आदर था कि कुन्ती के मुख से यद्यपि अनजान मे शब्द निकल गया था तोभी माता के गौरव को बहुमान देने के लिए उसके वचन को प्रमाण मानकर उन्होंने द्रौपदी तक का कालभेद से आपस मे बँटवारा कर लिया। इससे बढ़कर मातृभक्ति का दूसरा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। स्त्रीके कामिनीरूप की पूजा करके आजकल लोग संसार को नरक बना रहे हैं और कहते हैं कि हिन्दूसमाज और शास्त्र मे तो स्त्रियों का कोई सम्मान ही नहीं। इस देश मे नारीजातिके मातृत्व की पूजा है, उसके कामिनीरूपकी आरती नहीं उतारी गई है। कोई-कोई इसे कोरा आदर्श कहकर मनुष्य की पहुँच से परे बताते हैं। अरे पूजा आदर्श की ही होती है, संसार मे कुछ न कुछ गुण-दोष तो सदा ही बना रहेगा। उत्तर की ओर मुख करके चलते चलेंगे तो स्वर्ग की सीढ़ी कभी न कभी आ ही जायेगी। आदर्श गिराकर या मुख फेरकर बैठ जाने से तो लक्ष्य की प्राप्ति कभी हो नहीं सकती। संसार मे झूठ बोलने वालों की संख्या अधिक है तो क्या आजतक विश्वमे किसीने

सत्य की उपेक्षा करके मिथ्या को अपना आदर्श बनाया ? "झूठ बोलना जायज" ऐसा कानून और ऐसी शिक्षा संसार मे कहीं नहीं। आदर्श की आराधना भी बन्दकर दीजाय तो लोक मे जो कुछ भी दो-चार प्रतिशत सत्य है वह भी समाप्त होजाय। धन्य आर्य जाति और धन्य है उसका सनातन धर्म जिसने नारिजाति के प्रति अपना ऐसा उच्चतम लक्ष्य बनाया है।

गर्भधारिणी माता को तो अखिल विश्व मातृभाव से पूजता है इसमें तो कोई विशेषता है नहीं। विशेष बात है पर-दारा मे मातृभावना। यदि स्त्री-मात्र के प्रति मातृभावना न हो तो अपने से बड़ी अवस्थावाली स्त्रियों को माता, बराबर वालों को बहिन और छोटी उम्र की लड़कियों को कन्या की दृष्टि से सम्मान करना चाहिए "मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये, परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः" जो ब्रह्मचारी या साधु-सन्यासी हैं उनके लिए तो योनिमात्र माता है। योनि मे जिसका राग है उसे गर्भवास कर जन्म लेना ही पड़ेगा, मुक्ति नहीं मिल सकती। परदारा तो माता है ही, स्वदारा को भी मातृपद प्राप्त कराकर आर्यपुत्र निकल पड़ता है उसकी खोज मे जो यह कहता है कि इस जगत् का माता, धाता, पिता और पितामह मै हूँ "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" गी०—९—१७। वह युग कैसा रहा होगा जब कि आठ-आठ वर्ष के बालक घर-द्वार छोड़कर गुरुकुल मे विद्याध्ययन के लिये चले जाते थे और जब भूँख लगती तो प्रत्येक गृह को अपना गृह और प्रत्येक गृहिणी को अपनी माता समझकर जो जहाँ पहुँच जाता वहीं अपनी क्षुधा निवृत्त करलेता था। जननी को, परस्त्रीको, स्त्रीमात्रको, यहाँ तक कि योनिमात्रको

मातृभाव से पूजना तो फिर भी बुद्धिगम्य है क्योंकि ये चेतन-प्राणी हैं, परन्तु भारतवर्ष तो माता का इतना भक्त है कि वह देश को भी भारतमाता, मिट्टी को पृथ्वीमाता, धनको लक्ष्मी-माता, विद्या को सरस्वती माता और शक्ति या बलको काली-माता मानकर पूजता है। मदर इंगलैण्ड या मदर अमेरिका कहते आजतक किसी को नहीं सुना गया।

भाव ही प्रधान है। एक ही नारी लोक मे एक की कन्या, दूसरे की बहिन, तीसरे की पत्नी और चौथे की माता होती है। पति स्त्री के उसी शरीर को देखता है तो उसके मन मे रजोविकार उदय होता है जबकि पिता, पुत्र और भ्राता के हृदय मे उसे देखकर दिव्यप्रेम उमड़ता है। भाव मे कितनी अधिक ताकत है यह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्वसा[1], दुहिता[2] आदि नारी मे आरोपित ये विभिन्न भाव ही हैं, कोई पृथक् द्रव्य या वस्तु नहीं। कन्या, भगिनी और भार्या हैं स्त्री के साधनरूप और माता है उसका सिद्धरूप। धन्य उनको जिन्होंने उसके सिद्धरूप को पहिचान कर नारिमात्र मे मातृत्व का दर्शन किया और काम-कश्मल[3] से पार निकल गये। परमहंस-सन्यासी सर्व ऋणों से मुक्त होता है, उसका शिर कहीं नहीं झुकता परन्तु लोकसम्बन्ध का छेदन करके भी वह माता के चरणों मे मस्तक नवाता है, क्योंकि जबतक रक्तमांस का देह बना है तबतक मातृऋण से कोई मुक्त नहीं हो सकता। दूसरे से कौन कहे माता तो स्वयं परमेश्वर से भी बड़ी है। बड़ी कठिन तपस्या के बाद-जब अन्तःशुद्ध होता है तब कहीं जाकर परमेश्वर के दर्शन

१—स्वसा=भगिनी, बहिन। २—दुहिता=कन्या, पुत्री।
३—कश्मल=पाप, मल।

होते हैं। परन्तु माता तो बच्चे के गुण-दोष का विचार ही नहीं करती। धूलि मे लोटना बच्चों का काम है और उन्हें अहर्निश नहला-धोलाकर स्वच्छ करते रहना माता का काम है। निर्मल होने के लिए बच्चे मा के पास जाते हैं निर्मल होकर उसके पास कोई नहीं जाता। गैया भी अपने बछड़े का गात्र चाट-चूटकर उसे साफ करती रहती है।

संस्कृत भाषा का अम्बा शब्द कदाचित् गैया की आवाज से ही लिया गया हैं। यह माता को पुकारने का शब्द है। इसी का अपभ्रंश अम्मा है, बंगाल मे मा और व्रज मे माई चलता है। अम्बा या मा ऐसे पवित्र मंत्र को छोड़कर अशिक्षित लोग कहीं कहीं माताको दीदी और बहू कहकर पुकारते हैं - यह प्रथा अच्छी नहीं है इसे बन्द करदेना चाहिए। मुसलमानों के अक्का और अल्ला शब्द भी संस्कृत भाषा के हैं; उसका अर्थ भी माता होता है।

माता जिसे चाहे पृथ्वी का देवता बना दे। जिसकी बचपन मे माता मरगई उससे बढ़कर संसार मे दूसरा कोई अभागी नहीं। यदि मदालसा जैसी माता मिले तब तो शायद कोई ऋषि जन्म-मरण से घबड़ाकर परमात्मा से मोक्ष की याचना भी न करे। आदर्श माता मदालसा रोते बालक को निम्न वाक्यों से सान्त्वना दिया करती थी :—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पंचात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥

यह पांचभौतिक देह तेरा नहीं, तू इसका नहीं, बेटा तू क्यों रोता है ? अरे तू तो विशुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम

नहीं, यह जो तेरा नाम लेकर लोग तुझे पुकारते हैं वह तो अभी हाल का रक्खा हुआ काल्पनिक और झूठा है, उससे तेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

तातेति किंचित् तनयेति किंचित् अम्बेति किंचिद्दयितेति किंचित्।
ममेति किंचिन्नममेति किंचित् त्वं भूतसंघं बहुमानयेथाः ॥

यह देह पंचभूतों का समुदाय है। मिट्टी के इस ढेर को ही तू बहुत रूप से मानता है और कहता है कि यह मेरा पिता और यह मेरा पुत्र है; यह मेरी अम्बा और यह मेरी प्राणप्रिया है; यह मेरा है और यह मेरा नहीं है। वास्तव मे तू आत्मा है। आत्मा किसी का मेरा या पराया नहीं होता, न वह किसी का माता-पिता और न किसी का स्त्री-पुत्र ही है। ये सारे सम्बन्ध देह मे कल्पित और झूठे हैं। आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

दुःखानि दुःखोपगमाय भोगान् सुखाय जानाति विमूढ़चेताः।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि जानाति विद्वानविमूढ़चेताः ॥

जिसे आत्मज्ञान नहीं, जिसका चित्त माया से मोहित है उसकी बुद्धि विपरीत होजाती है और वह दुःख देनेवाले संसार के भोगों को सुखद मानने लगता है। पुनश्च, जो आत्मा को जानता है और जिसका चित्त माया से मोहित नहीं है वह दुःखों की कौन कहे संसार के सुखों को भी दुःखरूप जानकर उनसे विरक्त होजाता है।

हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्ममत्युज्वलं यत्कलुषं वसायाः।
कुचादिपीनं पिशितं घनं तत् स्थानं रतेः किं नरकं न योषित् ॥

स्त्रियों का हास्य हड्डियों का प्रदर्शन नहीं तो और क्या है ?

चमकीले दोनों नेत्र मेद-विकार ही तो हैं ? उभरे हुए मोटे घने स्तन मांसपिण्ड के अतिरिक्त तो और कुछ हैं नहीं। अरे नारी, भला तू ही बता, रतिस्थान क्या साक्षात् नरक नहीं है ?"

यदि स्वयं माता छोटेपन से बच्चे को ऐसी शिक्षा दे तो उसे ज्ञान-वैराग्य न हो भला यह कैसे हो सकता है ? मातृमुख से आत्मज्ञानकी ऐसी बातें सुनते-सुनते मदालसा के तीन पुत्र तो कौमारावस्था मे ही घरद्वार छोड़कर वनवासी मुनि होगए। पति ने उसकी भर्त्सना किया और कहा कि हम तुझे अपना घर बसाने को ले आये हैं और तू बच्चों को सन्यासी बनाकर घर-उजाड़ने पर ही तुली हुई है। इस प्रकार पिता के आग्रह से चतुर्थ पुत्र घोर संसारी हुआ। वृद्धावस्था में मदालसा अपने पति के साथ वाणप्रस्थ लेकर जब वन को जाने लगी तब माता को अपने चौथे बच्चे के उद्धार की बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा कि अभी तो यह मेरी बात सुनेगा नहीं, इसलिए दो श्लोक रेशमी कपड़े मे लिखकर सोने के तावीज मे बच्चे की भुजा मे बाँध गई और कहा कि बेटा जब तुम्हें कोई घोर विपत्ति पड़े तब इसको खोलकर देखना। विना दुःख पड़े विवेक-वैराग्य नहीं होता।

संसार मे उसकी बढ़ती हुई घोर आसक्ति देखकर एक विरक्त भाई ने महाराज बनारस को प्रेरणा कर उस पर हमला करवा दिया और जब उसे विपत्ति पड़ी तब माता के वचनों की याद आई और यन्त्र खोलकर दोनों श्लोकों को पढ़कर वह भी संसार से विरक्ति होगया। ये हैं वे दोनों श्लोक :—

संगः सर्वात्मनात्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेपजम्॥

कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः ।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम् ॥

संग सर्वथा त्याज्य है, असंग न हो सके तो सज्जन-संग करे, सत्संग ही संगरोग की ओषिधि है। कामना सर्वथा हेय है, परिहार न होसके तो कामना छोड़ने की इच्छा रक्खे, मुमुक्षा ही कामव्याधि की ओषधि है। सुखेच्छा काम है, उसमे आसक्ति संग है, त्यागेच्छा मुमुक्षा है।

नारायणि नमोऽस्तुते । वन्दे मातरम् ।



देवभाषा

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ २८
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ २९

वाल्मी० रा० किष्कि० तृ०–सर्गः ।

किष्किन्धा मे जब पहिलीवार हनुमान् जी मिले तब उनका वक्तव्य सुनकर भगवान् राम हनुमान् की प्रशंसा मे लक्ष्मण से कहते हैं :–ऋक्, यजु और सामवेद का ज्ञाता हुए विना कोई ऐसी शुद्ध संस्कृत नहीं बोल सकता। सन्देह नहीं कि यह सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्रका विशेषज्ञ एवं बहुश्रुत है क्योंकि यह बड़ी देरतक धाराप्रवाह संस्कृत बोलता गया, किञ्चित् भी कहीं कोई अशुद्धि नहीं हुई। देखो यह कैसी सुन्दर, हृदयको हर्षित करनेवाली मङ्गलमयी देववाणी उच्चारण करता है "उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदय हर्षिणीम्"।

हनुमान् जी अशोकवाटिका मे जब सीताजी से मिले तब जगन्माता से उन्होंने देवभाषामे वार्तालाप नहीं किया। गुप्त रूपसे पहुंचकर ये तरु-लताओं मे छिपे थे कि इतने मे स्त्रियोंसे परिवृत दशानन वहाँ उपस्थित हुआ। रावण और सीता का संस्कृत मे प्रश्नोत्तर सुनकर हनुमान् जी सोचने लगे "अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः" मै क्षुद्रकाय विशेषकर एक बन्दर हूँ। "यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्" यदि मै भगवती सीता से द्विजातियों की तरह संस्कृतभाषामे बात

करता हूँ तो ये समझेंगी कि भला बन्दर कबसे संस्कृत जानने लगा, यह दुष्ट रावण ही वेश बदलकर फिर से आगया है और मेरा विश्वास करना तो दूर रहा "रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति" मुझे रावण मानकर सीता भीता होजायेंगी। अतएव "वाचञ्चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्" मैं तो इनसे मनुष्य की संस्कार की हुई प्राकृतभाषामे ही बात करूँगा। "अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत" निश्चय हमको मनुष्य की सीधीसादी भाषा मे ही इनसे अपना अभिप्राय व्यक्त करना चाहिये।

वाल्मीकीय रामायण के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि उस समय भारतवर्ष के शिक्षित समाज की भाषा संस्कृत थी और साथ ही साधारण बोलचाल मे संस्कृतसे निकली प्राकृतभाषा भी चलती थी। उसीका रूपान्तर प्रान्तों की वर्तमान भाषायें हैं। भारतीयों का यह दावा कि संसार की आदिभाषा संस्कृत ही थी, पक्षपातपूर्ण समझा जायेगा परन्तु इस तथ्य को पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार करलिया है कि विश्वकी आदिभाषा जो भी रही हो उसमे संस्कृतधातुओं से बने शब्दों का ही बाहुल्य था।

परतन्त्र भारतके गलेमे शासकवर्गने जो अँगरेजी भाषा ठूस दिया था उसके प्रति जनता का मोह अभीतक दूर नहीं हुआ है। संस्कृत विद्या और उसके विद्वानों के प्रति उदासीन भाव स्वतन्त्र भारत के लिये अत्यन्त अशोभनीय और दुर्भाग्य का विषय है। उर्दू और अँगरेजी की भक्ति संस्कृत को दबा तो नहीं सकती, उसके विकास मे थोड़ा विलम्ब कर सकती है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सहित किसी भी प्रान्तीय भाषा का सम्यक् ज्ञान संस्कृत के बिना नहीं होसकता। इच्छया या अनिच्छया

भारत के हिन्दू, मुसलमान, इसाई तीनों भाइयों को संस्कृत पढ़ना होगा। संस्कृत को थोड़े से पण्डितों की भाषा कहना सत्य का अपलाप करना है। पण्डितों ने दुर्दिन मे उसकी रक्षा अवश्य किया है और इसके लिये देश को उनका कृतज्ञ होना चाहिये। उर्दू, अँगरेजी मौलवी और पादरियों की जन्मगत भाषायें भले ही हों, भारत मे न तो ये किसी प्रान्त की भाषा हैं और न किसी प्रान्त के माता की भाषा। बंगाल की मुसलिम देवियाँ बँगला, गुजरात की गुजराती और मलाबार की मलयालम बोलती हैं। संस्कृत हिन्दूमाता की भाषा नहीं अपितु भारत-माता की भाषा है। सस्कृत को सम्प्रदाय विशेष की भाषा कहने-वाला भारत का शत्रु है। वह भारतीय नहीं जो भारती[1] नहीं जानता।

कालेज और विश्वविद्यालयों की अँगरेजी शिक्षा खर्चीली है। अभीतक सरकारी उच्च कर्मचारी, व्यापारी, राजा और जमीदारों के लड़के अँगरेजी पढ़ते थे। व्यापार गया, जमीदारी गई, सबलोग दरिद्र होगये और जो दरिद्र थे वे धनी हुए नहीं इसलिये लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर अब केवल सरकारी उच्च कर्मचारियों के लड़के ही विश्वविद्यालयों मे अँगरेजी शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। संस्कृत विद्या कम से कम खर्चीली और अधिक से अधिक उपादेय[2] है। ऋषिप्रणीत ग्रन्थों मे राष्ट्र और व्यक्ति का सर्वाङ्ग नागरिक जीवन निर्माण करने की सामग्री विद्यमान है। प्रयोग के लिये तीन बच्चों को आदि से अन्ततक संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू भाषा एवं साहित्य की अलग-अलग शिक्षा देकर उनको विश्व के रंगमंच मे छोड़ दिया जाय तो यह निश्चित है कि संस्कृत का पण्डित दूसरों

१—भारती=देवभाषा। २—उपादेय=लाभप्रद।

की तुलना मे यमविभाग पुलिस के लिये कम से कम समस्य: होगा, सबसे सादा जीवन वितायेगा, कम से कम अपराध करेगा और उसके शरीर के पीछे कम से कम ओष-धियाँ खरच होंगी। जैसे भौतिकप्रेम अँगरेजी विद्याकी वैसे ही आध्यात्मिक प्रेम संस्कृत विद्याकी सहज देन है। मौत पास आते ही अँगरेजी डर जाती है। अनुभव से देखा गया है कि किसी हिन्दूको, चाहे वह अँगरेजी का भले ही बड़ा पण्डित हो, आयु के शेषभाग मे संस्कृत न जानने का आन्तरिक खेद होता है। गान्धीजी भी उनमे एक थे और अनेकों अभी हैं। 'अहो मैने अँगरेजी नहीं जाना' यह खेद लेकर संस्कृत का कोई विद्वान् नहीं मरेगा। गीता-भागवत के मूलपाठ मे जो आनन्द आता है उनके अंगरेजी अनुवाद मे वह रस नहीं। भारत के रक्त मे ऋषियों का ऋण है। संस्कृतका अध्ययन किये विना इस देश की आत्मा ऋषि-ऋण से मुक्त न होकर अन्तमे खेद करके ही मरेगी। हिन्दुस्थान को समझने के लिये संस्कृत का ज्ञान बहुत आवश्यक है और हिन्दुओं का तो यह प्राण है।

भारत के ३५ करोड़ की जनसंख्या मे यदि बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर अँगरेजी भाषा के ३५ लाख विद्वान् मानलिये जाँय तो इस अनुपात से उनकी एक प्रतिशत संख्या बैठती है, बाँकी १०० मे ९९ लोग अंगरेजी नहीं जानते। अब उनकी संख्या दिनप्रतिदिन इससे कम ही होगी, बढ़ेगी नहीं। इसलिये संस्कृत की उपेक्षाकर अँगरेजी से चिपकना कोई अर्थ नहीं रखता। विदेशों मे हिन्दी और संस्कृत का जितना स्थान है स्वदेश मे किसी विदेशी भाषा को उससे अधिक स्थान देना अपने ही घरमे अपनी भाषा का तिरस्कार करना है। सम्प्रति जिन विद्यार्थियों की शिक्षा बीचरस्ते मे है

उनको तो अँगरेजी पढ़ना कई कारणों से अपरिहार्य होगया है किन्तु जिन शिशुओं की शिक्षा अभी आरम्भ हुई है उनको अँगरेजी के पीछे न पड़कर संस्कृत पढ़ना और सरकार को उन्हें संस्कृत पढ़ाना चाहिये ; क्योंकि १०-१२ वर्ष बाद शिक्षित होकर जब वे कर्मक्षेत्र मे उतरेंगे तबतक अँगरेजी का प्रभाव देश से मर चुकेगा और सरकारी नौकरियों के लिये अँगरेजी जानना कोई आवश्यक न होगा। जो लोग विदेशों से व्यापार किम्वा सरकार के वैदेशिक विभागमे नौकरी करना चाहेंगे अँगरेजी विद्या केवल उन्हीं के काम आयेगी, दूसरों के नहीं। स्वाभाविक है कि उनकी संख्या वहुत ही नगण्य होगी। इसके अलावा विदेश कोई अँगरेजीभाषी ही तो नहीं है ? तत्तद्देशों से सांस्कृतिक, व्यावसायिक और दौत्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिये चाइनी, जापानी. रशन और अरेवियन प्रभृति भाषाओं को भी तो सीखना पड़ेगा ? जो लोग स्वदेश मे कामकाज करना चाहते हैं उनके लिये संस्कृत का ज्ञान इसलिये आवश्यक है कि विना उसके न तो राष्ट्रभाषा मे विशेष योग्यता होसकती और न किसी प्रान्त की भाषामे. क्योंकि वे सब संस्कृत विद्या की ही पुत्री हैं ; और जो लोग वैदेशिक विभाग अथवा विदेशी दूतावासों मे काम करना चाहते हैं उनके लिये किसी विदेशी भाषा के साथ संस्कृत का अध्ययन इसलिये आवश्यक है कि विना उसके वे वैदेशिक भावना का आदान तो करेंगे किन्तु विदेशों मे भारतीय सभ्यता का परिचय देकर कुछ प्रदान न कर सकेंगे। अपनी दो, दूसरे की लो यही वैदेशिक विभाग का काम है। जो संस्कृतवाङ्मय से अपरिचित है उसे य पता नहीं कि भारत क्या है तो फिर वह दूसरे को देगा क ऐसा दूत विदेशी रंग मे रँगकर जायेगा और उसी रंग

करके लौट आयेगा, धोबी का कुत्ता न घर का रहेगा न घाट का। अतएव यावत् शतप्रतिशत भारतवासी संस्कृत का अध्ययन नहीं करेंगे तावत् न तो जनता मे सांस्कृतिक चेतना का संचार होगा और न देश का अभ्युदय। देश मे सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण होरहा है। ऐसी दशा मे अपने खर्चे से सैर-सपाटे के लिये न जाकर विदेशों मे केवल वही जा सकेगा जिसे भारतसरकार अपने काम से भेजेगी। इसलिये अध्यापक और अभिभावकों की ओर से केवल उन्हीं थोड़े से इनेगिने छात्रों को अँगरेजी या अन्य कोई विदेशीभाषा सीखने के लिये उत्साह और सुविधा मिलनी चाहिये जो प्रतिभाशाली हों और साथ ही तन-मन-धन से विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा प्राप्त करने मे समर्थ भी हों। जबतक कम से कम बी० ए० तक की योग्यता न हो, अँगरेजी भाषामे लिखना, बोलना और साहित्यक लाभ उठाना किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसलिये निम्न कक्षाओं तक अल्पदिन अँगरेजी पढ़कर छोड़देना छात्रों की शक्ति, सम्पत्ति और समय की बरबादी करना है। साधारण प्रजाका जीवन अनुदिन कठिन होता जारहा है। अब तो जो कमायेगा वही खायेगा और पासमे कुछ बचा न सकेगा। पड़ोस मे जाने के लिये किसी को अवकाश नहीं तो भला विदेश कौन जाय ? गृहस्थी मे पैसे और फुरसत का नदी-नाव संयोग कभी हो भी गया तो पुण्यसलिला गंगा-यमुना के तीर्थों को छोड़कर शायद ही कोई विदेशों की हवा खाने जाय। रही साहित्यिक रस लेने की बात तो दूसरों की कौन कहे, सम्प्रति हालत यह है कि विश्वविद्यालयों के छात्र और प्रोफेसर भी, जिनका कि अहोरात्र केवल पढ़ना-पढ़ाना ही काम है, कक्षा मे निर्धारित ग्रन्थावली के अतिरिक्त कुछ नहीं पढ़ते।

विना ब्रह्मचर्य के स्वाध्याय मे अभिरुचि नहीं होती। कमाओ, खाओ, सिनेमा देखो, शयन करो और मर जाओ बस यही सबका जीवन होता जा रहा है। मान लीजिये गृहकाय से अवकाश मिलने पर सायं-प्रातः पाठ मे किसी की रुचि भी हुई तो वह गीता–रामायण पढ़ेगा कि साहित्य के अँगरेजी फूलों की गन्ध सूँघनें जायेगा। सभी विषयों मे संस्कृत साहित्य का ही इतना बृहद् भण्डार है कि जिसे पढ़ते-पढ़ते जीवन समाप्त हो जाता है, साहित्य नहीं खतम होता। काशीमे तो ऐसे महात्मा देखे गये हैं जो यह कहते-कहते मरे हैं कि विश्वनाथ जी! तुम हमको मुक्ति न देना, हम संस्कृत पढ़ने के लिये फिर से जन्म लेना चाहते हैं।

संस्कृत की प्रशंसा का यह भी अर्थ नहीं कि संस्कृतज्ञ सब देवता ही होते हैं। भाषा केवल ज्ञानका एक साधन है, किसी भाषा का ज्ञान स्वयं कोई ज्ञान नहीं। तोभी इस बातको सबलोग एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि संस्कृतविद्याका अभ्यासी उससे प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। जीवन मे शब्द का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है क्योंकि चिदाकाश मे केवल शब्द की ही गति है। इसलिये देववाणी का प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह देखने मे आता है कि देश के जो विद्वान् अँगरेजी और संस्कृत दोनों विद्याओं से परिचित हैं उनकी विचारधारा केवल अँगरेजी जानने वालों की अपेक्षा अधिक सात्त्विक एवं आस्तिक है। संस्कृतविद्या के अभ्युत्थानमे इदानीं ये लोग देश मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। संस्कृत के जो पुराने ढंग के पण्डित हैं उनकी बात को तो लोग साम्प्रदायिक कहकर उड़ा देते हैं किन्तु इन लोगों की बात का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। अँगरेजी पढ़े-लिखे युवक

समाजमे शास्त्र, धर्म और संस्कृति के प्रति जिस विद्रोह भावनाने घर कर लिया था वह यद्यपि अभी मिटी नहीं है किन्तु जहाँतक संस्कृत भाषाके पठन-पाठन का प्रश्न है उसके पक्ष मे प्रायः सभी लोग हैं। भारतीय सभ्यता की रक्षा के लिये आशा की केवल यही एक किरण अवशेष है। इसीसे इस बात का निर्णय होगा कि भारत किधर जारहा है। संस्कृत भाषा ही अतीत और वर्तमान भारतके बीचकी एकमात्र कड़ी हो सकती है। आस्तिकों का ऐसा विश्वास है कि देवभाषा के प्रचार से देवता के प्रति श्रद्धा और देवश्रद्धा की प्रतिष्ठा से सनातनधर्म के प्रति निष्ठा अपने आप आयेगी।

संस्कृत की प्रचलित पाठन-पद्धति मे परिवर्तन तो बहुतों को अभीष्ट है किन्तु देवभाषा के जो पुजारी अँगरेजी के विद्वान् हैं वे लोग भाषा के कलेवर को भी कुछ बदलना चाहते हैं। आंग्ल मनोवृत्ति की यह विशेषता है कि उसे न तो अपने मे कोई दोष दीखता और न उसका सुधार सूझता। लोगों को अपना सुधार छोड़कर और सबमे सुधार सूझा करता है। संस्कृतभाषामे सुधारकर उसमे नवीन साहित्य-रचना की आज इतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि प्राचीन लिखित संस्कृत समझने की है और ऐसा करने के लिये उसके पुराने रूप कोही जानना पड़ेगा। संस्कृतमे अपेक्षित सुधार स्वयं हुआ है। परस्मै और आत्मनेपदी की मर्यादाका पालन कड़ाई से कभी हुआ नहीं। समास, धातूपसर्ग और संहितैकपद को छोड़कर गद्यरचना मे सन्धि ऐच्छिक है। लट् वर्तमान काल की क्रिया मे स्म लगाकर अथवा निष्ठा प्रत्यय के द्वारा भूत-कालकी क्रिया अत्यन्त सरल कर दीगई है। भविष्यके लिये अहँ करिष्यामि वा मया कर्त्तव्यं' ये दोनों ही प्रयोग चलते

हैं। दश पाँचबार शब्दरूपावली देख जाने से लिंगानुशासन का बोध भी सुगम होजाता है। जो लोग सूत्र नहीं रटना चाहते उनके लिये ईश्वरचन्द्रविद्यासागरप्रणीत सरल सुबोध व्याकरण कौमुदी भी मौजूद है। अब क्या चाहिये ? धातु, लकार, सन्धि, समास और शब्दरूप बस इतनी ही तो संस्कृत है। कुछ परिश्रम भी करना ही चाहिये। अँगरेज़ी ही कौन बड़ी सरल भाषा है ? लिखने मे लेखनी और बोलने मे वाणी न रुके ऐसे अँगरेजी के ज्ञाता हिन्दुस्थान मे कितने हैं ? अँगरेजी शिक्षित पुरुषोंमे बोलचालकी भाषा होगई है इसीलिये सरल प्रतीत होती है। इसी प्रकार यदि लोग संस्कृत बोलने लगें तो इसका शिक्षण भी सुगम होजाय। ऐसा तभी संभव है जब स्त्रियाँ शतप्रतिशत संस्कृत पढ़ने लगें। जबतक देवियाँ विदुषी न होंगी, संस्कृत बोलचालकी भाषा नहीं हो सकती। केवल व्याकरणकी सहायतासे कोई भाषा सीखना कठिन होता है। छोटे बच्चोंकी तरह पहिले बोलना सीखना चाहिये। संस्कृत बोलना आजाय तो व्याकरण के द्वारा वाणी-शोधन तो फिर बायें हाथ का खेल है। जो माता-पिता संस्कृत जानते हैं उन्हें छोटेपन से बच्चों के साथ संस्कृत मे वार्तालाप अवश्य करना चाहिये।

संसार मे जितनी लिपियाँ प्रचलित हैं संस्कृतभाषा के वर्णमाला की संख्या उन सबसे अधिक है। यह पूर्ण वैज्ञानिक भाषा है। लिखो कुछ पढ़ो कुछ का झगड़ा इसमे नहीं है। मूलाधार से आज्ञा पर्यन्त षट्चक्र हैं। सब मिलाकर उनके ५० दल हैं, एक-एक दलसे एक-एक वर्ण की उत्पत्ति होती है। कण्ठ से ओष्ठ पर्यन्त जितने प्रकार के स्वर-व्यंजन उच्चारण करना मनुष्य के लिये संभव है अ से क्ष तक इन ५० वर्णों मे वे सब आजाते हैं। यही कारण है कि एक संस्कृतज्ञ विश्व की अन्य

भाषाओं को जितने शुद्ध उच्चारण के साथ सीख लेता है, दूसरे भाषा-भाषी लोग संस्कृत का इतना शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। फिर भी अन्य देशों मे संस्कृत-साहित्य के प्रति भारतीयों की अपेक्षा आज अधिक श्रद्धा है। इस लज्जाको मिटाने के लिये प्रत्येक भारतीय को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि विना संस्कृत पढ़े वह नहीं मरेगा। संस्कृतभाषा, हिन्दीराष्ट्रभाषा, मातृभाषा, किसी दूसरे प्रान्त की एक भाषा अथवा उसके बदले मे कोई एक विदेशीभाषा—ये चार भाषायें भारतवर्ष के प्रत्येक शिक्षित नागरिक को सीखनी होंगी। भारत के शिक्षाक्रम से संस्कृत को किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता है। भगवान् और महर्षियोंके वचन देवभाषा मे ही पढ़ने को मिलेंगे। एक बुढ़िया अशुद्ध उच्चारण के साथ बड़ी श्रद्धा से गीता का पाठ कर रही थी। चैतन्य महाप्रभु ने कहा, माई! तू विना समझे क्या तोता की तरह पढ़ती है? बुढ़िया ने उत्तर दिया, बेटा! मै केवल इतना ही समझती हूँ कि ये शब्द स्वयं मेरे भगवान् के मुख से निकले हैं। महाप्रभु गद्गद् होकर नाम-संकीर्तन करने लगे और कहा कि माई! तू सब समझ गई, अब तेरे को कुछ समझना बाँकी नहीं है। धन्य यह देश जिसमे भगवान् ने अवतार लिया और धन्य संस्कृत भाषा जो स्वर्ग के देवताओं की भी भाषा है।

———

सत्यमेव जयते

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

मुण्ड० तृ० प्र० ६

सत्य ही विजयी होता है, अनृत[1] नहीं। आप्तकाम[2] ऋषिगण जिस अर्चिस्[3] मार्ग के द्वारा सूर्यमण्डल को भेदकर सत्य के परमधाममे प्रवेश करते हैं उस देवयान पथ को सत्य ही ने प्रस्तुत कर चोड़ा किया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ईश० १५

सत्यका मुख सूर्यमण्डलरूप चमकीले पात्र से ढका है। ऋषि सूर्य से प्रार्थना करता है—हे पूषन्! तू ने सत्य का मुख बन्दकर रक्खा है, हम उसका दर्शन करना चाहते हैं, तू अपना ढक्कन हटाले, देख हमने सत्यधर्म का अनुष्ठान किया है।

जो असत् का संग छोड़कर सत्यस्वरूप होगया है वही सत्यमय देवमार्ग से चलकर परम सत्यके दर्शन के लिये योग्य होता है। महर्षि व्यास श्रीमद् भागवत्के मंगलाचरणमे सत्यके स्वरूपका अति सुन्दर वर्णन कर उसका ध्यान करते

१—अनृतं=न ऋतं, असत्यम्। २—आप्तकाम=जिसकी कोई इच्छा शेष नहीं सब त्यक्त हो गई या पूरी होगई। ३—अर्चिस्=अग्निशिखा, किरण, रश्मि।

फा०—२४

हैं :-जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञ: स्वराट्, तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय:। तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्त-कुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ भा० १-१-१॥ अस्य जगत: जन्म-स्थितिभङ्गा: यत: भवन्ति तं सत्यं परं धीमहि=यह जगत् जिससे उत्पन्न होकर जिसमे स्थित है और जिसमे लीन होजाता है वही सत्य है, हम उस परम सत्य का ध्यान करते हैं। सत्य ने ही संसार का प्रसव किया है। सत्य ही की गोद मे यह संसार खेल रहा है और सत्य की ही गोद मे यह सोजाता है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विज्ञासस्व (तत् सत्यं) तद् ब्रह्म इति" तैत्ति० भृ० ३-१-१। यह प्राणिसमूह जिससे उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर जिससे जीवित है, जिसमे अपनी सारी चेष्टायें करते हुए अन्तमे प्रवेश कर जाता है उसे जानो, वही सत्य है, वही ब्रह्म है। उसीका हम ध्यान करते हैं। य: अन्वयात् इतरत: व्यतिरेकतश्च अर्थेषु कार्येषु पदार्थेषुवा गत: व्याप्त: वा तम् सत्यं परं धीमहि=जिस सत्य का संसार के प्रत्येक पदार्थ से कर्पास-वस्त्रवत् सम्बन्ध है उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं। य: अभिज्ञ: सर्वज्ञ: तं, य: स्वराट् स्वप्रकाश: तं, य: आदिकवये ब्रह्मणे हृदा हृदयेन मनसा वा ब्रह्म ब्रह्मज्ञानं सत्य-सनातनज्ञानं वेदं वा तेने प्रकाशितवान् प्रचोदितवान् वा, यत् यस्मिन् ब्रह्मविषये सूरयोऽपि मुह्यन्ति तं सत्यं परं धीमहि=जो सत्य चिद्रूप एवं सर्वज्ञ है, जो सूर्य से चन्द्रवत् प्रकाशित नहीं वल्कि स्वत: प्रकाशित है उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं। जो सत्य आदिकवि ब्रह्माजी के हृदय मे सर्वप्रथम सत्य सनातन वेदज्ञान का प्रकाश किया है; जो सत्यब्रह्म क्या है और क्या नहीं है

ऐसा सोचकर पण्डितगण भी जिसके विषयमे ठीक-ठीक निर्णय न कर सकने के कारण मोहित होजाते हैं उसी परम सत्य का हम ध्यान करते हैं। यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः तथा यस्मिन् सत्ये मृषाऽपि त्रिसर्गः त्रयाणाम् मायागुणानाम् सर्गः अमृषा इव प्रतीयते तं सत्यं परं धीमहि—जैसे तेज, अप् और मिट्टी की एक दूसरे मे मिथ्या प्रतीति होती है वैसे ही त्रिगुणमयी सृष्टि वास्तव मे न होते हुए भी जिस सत्य के कारण प्रतीत होरही है उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं। तेज, अप् और अन्न या मिट्टी ये तीन रूप ही सत्य हैं। तृण से लेकर चन्द्र-सूर्य पर्यन्त संसार के यावत् पदार्थ इन तीन देवताओं के समास से बनने के कारण त्रिसर्ग हैं। आदित्य मे जो कुछ लोहित है वह तेज है, जो शुक्ल है सो अप् है, जो कृष्ण है वह अन्न है। इन तीनों तत्त्वों को निकाल देने से आदित्यत्व निवृत्त होजाता है, अतः आदित्य केवल वाणी से कहने भर के लिये झूठा नाम है। यह त्रिगुण संसार इसी प्रकार अवस्तु होने पर भी प्रतीत होरहा है—छान्दो० अ० ६। स्वेनैव धाम्ना तेजसा निरस्तकुहकः यः तं सत्यं परं धीमहि= स्वतेज से ही जिसमे कुहक सदा निवृत्त है; छल-कपट, झूठ और माया जिसे त्रिकाल मे कभी छू नहीं सकते वह सत्य है, उसी परम सत्य का वेदव्यास ध्यान करते हैं और हम सबों को भी उसका ध्यान करना सिखा रहे हैं।

राम, कृष्ण, अल्ला, रहीम, करीम, क्राइष्ट, लार्ड और गाड प्रभृति जितने भी परमेश्वर के उपास्य नाम हैं ये सब केवल अपने-अपने सम्प्रदाय या वर्गविशेष के ही लिये मान्य हैं। अखिल विश्व-मानव समानरूप से इन नामों मे आस्था नहीं रखता। परन्तु दो अक्षरों वाला "सत्य" ऐसा नारायण

का जो नाम है इसमे किसीको कोई विवाद नहीं, न पृथ्वीके किसी मनुष्यको सत्यनारायणकी उपासना मे कोई आपत्ति ही है।

सत्य तत्त्वतः त्रिकालावाधित और सर्वगत है। किन्तु प्रकाश व्यापक होते हुए भी जैसे सूर्य की प्रतिकृति काच अथवा जल मे ही दिखाई पड़ती है उसी प्रकार सत्य का मूर्त्तिमान् विग्रह मनुष्य की वाणी मे सदा विद्यमान रहता है। अयथार्थ भाषण करने से सत्यनारायण की हिंसा होती है और यह परमेश्वर का अक्षम्य अपराध है। असत्य बोलना पाप है किन्तु सत्य बोलना पुण्य नहीं है क्योंकि वह मनुष्यका स्वभाव है। वाक् सत्यनारायणका प्रत्यक्ष मन्दिर है, मन्दिर मे ही भगवद्विग्रह की झाँकी होती है अतएव उसे शुद्ध रखना चाहिये। यदि यह स्मरण रहे कि मुख से जितने मिथ्या शब्द निकले सत्यनारायण के ऊपर उतने ही तीर लगे तो सामान्य चर्चा मे भी मनुष्य की मृषा भाषा मे प्रवृत्ति न हो। वाक् सत्य का आश्रय है, वाक् का आश्रय दिव्याग्नि है और वही अग्नि परमात्मा का मुख है अतएव जो परमेश्वर के मुख-दर्शन के अभिलाषी हैं उन्हें केवल सत्य का ही आश्रय लेना चाहिये। भूर्भुवः आदि सप्तलोकों मे सत्यलोक ही सर्वोच्च है। अग्नि ही जीवको वहाँ तक पहुंचाता है, यही तेज है। जो ऊपर जाय वही अग्नि। अङ्गति ऊर्ध्वं गच्छति इति अग्निः। पथिक प्रार्थना करता है "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"—ईशो० मं० १८। हे अग्निदेव ! जीवननिधि जो सत्यनारायण हैं उनके पास हमको सुमार्ग से ले चलो। जिन्होंने झूठ बोल-बोलकर वाग्देवता अग्नि मे खूब पानी ढाला है उनको सत्यलोक मे जाने के लिये अग्निदेव मार्ग

नहीं देते। सत्य मे इन्द्रियों की गति नहीं। वह इन्द्रियों से अतीत तत्त्व है। यदि कोई इन्द्रिय सत्य के पास तक पहुँच सकती है तो वह वाक् ही है। इसीलिये वाणी को शब्दब्रह्म कहा है और सत्यानुभू महर्षियों ने जिज्ञासुओंको परमसत्यके समझाने के लिये वचन का ही सहारा लिया है, वही शास्त्र है। उपदेश भी जहाँ नहीं जाता वहाँ मन्त्र जाता है, मन्त्र भी कुछ शब्दों का ही समूह है। अतएव वाणीको सदा सत्यपूत रखना चाहिये "सत्यपूतां वदेत् वाचम्"—भा०।११-१८-१६। आकाश सर्वगत और सूक्ष्मतम तत्त्व है एवं वही है शब्दकी उत्पत्तिका स्थान। मुख से निकला शब्द मिनटों मे विश्वव्यापी होजाता है। शब्दकी यह सामर्थ्य रेडियो आदि आधुनिक यन्त्रों से भी प्रमाणित होचुकी है। अतएव अनृतवार्ता से सत्यनारायण की ही नहीं जगन्नारायण की भी हिंसा होती है और आत्महनन तो प्रत्यक्ष ही है। सुतरां किसी प्रकार मिथ्या-परायण होकर लोकक्षय के कार्य मे प्रवृत्त न होना चाहिये। झूठमे प्रवृत्ति भय से होती है, चाहे अपकीर्ति का भय हो या और किसी का। तस्मात् लोकमे स्वयं न तो किसी से डरना चाहिये और न किसी को डरवाना चाहिये। अपनी किसी चेष्टा से किसीके दिलमे भयका आतंक पैदा करना उसको असत्यमे प्रवृत्त करना है। "अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तोऽस्तु" हमसे सबलोग अभय होजाँय ऐसा हाथ उठाकर सबको कह देना चाहिये। "दण्डन्यासः परं दानम्"—भा० ११-१९-३७। दण्डन्यास और अभयदान एक ही चीज है। डरना ही हो तो उस सत्यदेव को ही डरे जिनके डर से चन्द्र, सूर्य और पवन दौड़ रहे हैं। ईश्वर कानको खुला छोड़कर यह सिखाता है कि सबकी सुनो और मुखको बन्दकरके यह सिखाता है कि सोच-

कर बोलो। अतिवादी सत्यवादी कदापि नहीं होसकता। मुख खोलने के पूर्व गीतोक्त वाङ्मय चतुर्नियमों की चिन्ता कर लेनी चाहिये "अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्" वाक्य अनुद्वेगकर हो, सत्य हो, प्रिय हो और हितकर हो—गी० १७-१५। जब अपने वाणी की काटछाँट और राशनिंग करेंगे तब पता चलेगा कि हमलोग कितने व्यर्थ शब्द बोला करते हैं, जिसमे यदि ८० प्रतिशत कटौती कर दीजाय तो लोक-व्यवहार खुशी से चल सकता है; उससे संसार के अनेक अनर्थ भी कम होजाँय और आत्मशक्ति का अपव्यय भी न हो। बहुत से लोग सारे अनर्थों से बचने के लिये वाणी को मारकर काष्ठमौन होजाते और हाथ से लिखकर अपना मनोभाव व्यक्त करते हैं। मुख का काम हाथ से लेना ही यदि ईश्वर को अभीष्ट होता तो वह वाक् न देकर मनुष्य को केवल ६ इन्द्रियाँ ही देता, दश नहीं। बिलकुल न बोलने की अपेक्षा समय पर तोलकर बोलना अधिक क्लिष्टकर साधना है। जीभ के उपर मुख का म्यान चढ़ा है, उसे सावधानी से बन्द करके रखना चाहिये। मुख खोलकर जीभरूपी तलवार को सदा लपलपाते रहना और प्राणियों को मर्माहत करना बहुत बड़ा पाप है। मुख से पेट का मैला नहीं निकालना चाहिये, पेट का मैल बाहर करनेके लिये परमेश्वर ने दो अधो इन्द्रियाँ दिया है, मुख तो है सत्यभाषण करने और हरिनाम जपने के लिये।

सत्यवादिता का यह भी अर्थ नहीं कि हृदय की गुह्यबातें चाहे जिससे कह दीजाँय। ऐसा करना सरलता नहीं मूर्खता है। उससे कोई लाभ भी नहीं; हाँ, हानि अवश्य है। अर्थ और परमार्थ की ऐसी अनेकों बातें हैं जिनको जानते हुए भी उनका

उत्तर मौन मे देना अधिक हितकर है। जैसे कोई माता पुत्रको यह तो नहीं बता सकती कि तुम कैसे पैदा हुए हो। परन्तु यदि कहना ही पड़े और बिना कहे कोई प्रयोजनीय काम ही अटकता हो तो फिर पुत्र सत्यकाम और माता जबाला के समान यथार्थ ही कहना चाहिये। दूसरे का दोष जानकर भी न कहे और स्तुति भी न करे क्योंकि एक की स्तुति मे दूसरे की निन्दा का अध्याहार[1] होजाता है, रागद्वेष से हम बच नहीं सकते। परदोष के दर्शन और कथन से अपनी हानि होती है तथा दूसरे का भी कोई कल्याण नहीं होता, उल्टे हम उसके घृणा और क्रोध के भाजन बनते हैं। सबसे उत्तम बात तो यह है कि जबतक कोई दोषी स्वयं अपना दोष आकर न कहे तबतक न तो किसीको किसी दोष का दोषी माने और न उसके सुधार का ही कोई प्रयत्न करे। आत्मश्लाघा[2] तो आत्महत्या करनी है, स्वदोष भी अनधिकारी श्रोता के समक्ष प्रकाश न करे क्योंकि वह सहानुभूति दिखाकर उद्धार का उपाय बताना तो दूर रहा उल्टे उपहास करेगा। अपना दोष दूसरों से कहनेवाला और दूसरे के दोषों को जानकर भी उससे सच्चा सौहार्द करनेवाला विशाल हृदय का या तो कोई महात्मा है अथवा वह स्वयं परमात्मा है। मनुष्य को सब समय वाग्दण्डी होकर मुखमे ताला लगा रखना चाहिये। दो-चार आवश्यक बात करना हो तो आचमन करके करले, आचमन के लिये जल अप्राप्य हो तो तुलसीदल से काम चलाले, वह भी न मिले तो केवल दशबार इष्टमन्त्रका जाप करके अनिवार्य बात करले और फिर मौन होजाय। मौन और आलाप के मध्य का यही एक सुगम मार्ग

१—अध्याहार=बिना कहे भी इसारे से किसी बात का आजाना। २—आत्मश्लाघा=अपनी प्रशंसा।

है। इसमे वाणी के सदुपयोग और वाक्-संयम दोनों नियमों की युगपद् रक्षा होती है। वित्त-कार्पण्य तो दोष है किन्तु वाक्कृपण होना एक बड़ा गुण है। सत्यव्रती मुकदमा और दलबन्दी से सदा दूर रहे। दलबन्दी से अध्यक्ष के स्वर मे स्वर मिलाना पड़ता है चाहे अन्तरात्मा उस बात के लिये साक्षी दे या न दे; और कोर्ट-कचहरी है मिथ्या का कारखाना। अनिच्छा से कभी मुकदमा शिरपर आही पड़े तो गवाही और वकील न करे क्योंकि सत्य स्वतः प्रमाण है, उसे प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता नहीं। अपने से यदि ऐसी कोई भूल होजाय कि जिसका फल अपने ही तक सीमित हो और उससे अपने चित्तमे ग्लानि हो तो आत्म-शुद्ध्यर्थ प्रायश्चित्त करे। व्यक्ति-विशेष से उसका सम्बन्ध हो तो क्षमा मागे। यदि समाज या सरकार का अपने से कोई अपराध बनजाय तब दण्ड-याचना करनी चाहिये।

एक मुख होते हुए भी जो दश जगह दश तरह की बात बनाता है वह दशमुख है। वाणी से ही मनुष्य अपना हृद्गत-भाव दूसरे के सामने व्यक्त करता है, इसलिये जीवन मे अन्य दोष भले ही हों वाणी तो सत्य ही होनी चाहिये "यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाचं तदा तदा जातिकुलप्रमाणम्" कौन कैसा है इसका परिचय वाणी ही देती है। काम-क्रोध छोड़ने मे जीव को कष्ट होता है परन्तु यथार्थ वचन कहने मे अपने को कोई श्रम नहीं करना पड़ता। सत्यकी पूजा करने से श्रमजीवी लकड़िहारे शूद्रका दुःख दूर हुआ, भिक्षुक ब्राह्मण का दारिद्र्य गया, साधु वैश्यको धन और उसकी कन्या कलावती को पति मिला, राजा का खोया राज्य पुनः प्राप्त होगया और इस प्रकार चारोंवर्ण के स्त्री-पुरुष सत्यव्रत से समान सुखी हुए बस इतनी

ही सत्यनारायणव्रतकथा है। दिन-रात बातें बनाकर संसार को ठगना और फिर घड़ी-घण्ट बजाकर चलना सत्यनारायण को भी ठगने तो यह कोई कथा नहीं। जिस सत्य के लिये राजा दशरथ ने प्राण छोड़ा और राम-सीता, जिनका नाम जपकर कि हिन्दू मोक्ष की कामना करता है, जिसकी रक्षाके लिये वन-वन भटके सत्यके उसी वेदमन्त्रको भारत सरकार ने अपने ध्वज, मुद्रा एवं सील-मोहर मे अपना लिया है; किन्तु मानव-चेतना का योग यदि उसमे न हो तो सील-मोहर केवल एक जड़ चीज ही रह जाती है, अस्तु व्यक्ति, समाज और सरकार अपने दैनिक जीवन मे भी यदि इस 'सत्यमेव जयते' मन्त्रको स्थान दे दे तो बस उसी दिन देशमे रामराज्य की प्रतिष्ठा होजाय। 'नासौ धर्मो यत्र नो सत्यमस्ति' वह धर्म नहीं जिसमे सत्य नहीं। 'नो तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्' वह सत्य नहीं जो छल से अनुविद्ध हो। 'कलौ धर्मपादः सत्यमेवावशिष्यते' कलिमे धर्म का एक चरण केवल सत्य ही अवशेष है, उसे खोया तो सब खोया। 'सत्यमेवेश्वरो लोके' भूलोकमे सत्य ही ईश्वर है। 'सत्यं च समदर्शनम्' समदर्शन का ही नाम सत्य है। 'ऋतं च सूनृता वाणी' सत्य और प्रिय वाक् ही ऋत है। 'सत्यपूतां वदेत् वाचम्' सदा सत्यपूत वचन बोले। 'सत्यमेव जयते' निश्चय सत्य ही की जीत होती है। 'सत्यं परं धीमहि' आओ, हम सबलोग मिलकर उसी परम सत्य का ध्यान करें। मिथ्याभाषी समूल सूख जाता है "समूलो वा एष परिशुष्यति यो अनृतं अभिवदति" प्रश्न० ६-१।



मूर्तिपूजा

"ईशाऽऽवास्यम् इदम् सर्वम्" ईश० मं० १।

यह सत्य है कि 'परमेश्वरने अपनी महानता से जगत् को ढक रक्खा है' किन्तु यह भी कम सत्य नहीं है कि सूर्यको क्षुद्र मेघके समान जगत् ने भी परमेश्वर को छिपा रक्खा है, क्योंकि सर्वगत होते हुए भी सच्चिदानन्द का कहीं पता नहीं चलता और जीव दुःखी है। काष्ठ मे व्याप्त वह्नि से न तो अन्धकार मिटता और न मिट सकती है वायु मे व्याप्त जल से किसी की तृषा। पिपासा बुझाने के लिये जल मिलेगा जमीन को किसी एक स्थान मे खोदने से या वापी, कूप, तड़ाग आदिमे जानेसे। ठीक इसी प्रकार चाहे एक कंकड़ ही क्यों न हो संसार की किसी एक चीज मे अनन्य निष्ठासे मनको गड़ाकर वहीं पर ब्रह्मको प्रकट करके सत्यनारायण भगवान् रामके राज्य मे प्रवेश कर जाना होगा। परोक्ष परमात्मा की अपरोक्षानुभूति का अन्य कोई उपाय नहीं। बस यहीं से साधनपथमे मूर्तिपूजा के सिद्धान्त की नीव पड़ी, चाहे उसका वाह्यरूप जो भी हो।

हरिः ॐ तत्सत् का इदम्[1] जगत् मे अन्वय[2] और प्रकाश होने के कारण जबकि इसीमे उसे खोजना है तो मूर्तिपूजा को किसी न किसी रूपमे अपनाना ही पड़ेगा। अर्जुन ने श्रीकृष्ण

१—इदम्=यह दृश्य संसार और उसकी सब चीजें।

२—अन्वय=ब्रह्म से जगत् का सम्बन्ध, ब्रह्म की दृष्टि मे जगत् का अभाव जैसे मिट्टी के विना या मिट्टी की दृष्टि मे घट नहीं।

से पूछा, भगवन्! मै किन किन भावों या पदार्थों मे आपकी चिन्ता करूँ ? "केषुकेषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया" गी० १०-१७। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवन् ने चन्द्र, सूर्य, नदी, पर्वत, वृक्ष, प्राणी आदि जो कुछ भी जगत् मे है उसे आत्म-विभूति बताकर इदम् मे ही अपनी पूजा करना सिखाया है। पण्डित हो या मूर्ख इदम को सब भजते हैं। अन्तर इतना पड़ता है कि अतत्त्वज्ञ इदम् को ही भगवान् मान लेता और उससे आसक्तिवश दुःख पाता है क्योंकि वह क्षयशील है जबकि आस्तिक एवं तत्त्वज्ञ तत् से इदम् के व्यतिरेक[1] को समझने के कारण इदम् का त्याग करके इदम् के ही सहारे तत् मे प्रवेश कर जाता है। जो इदम् है वही मूर्ति है। भगवान् ने गीतामे प्राणीके अर्थमे मूर्ति शब्दका व्यवहार किया है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

गी० १४-४

अर्जुन! सबप्रकार की योनियों मे जितनी मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, महद् ब्रह्म अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृति उन सबकी गर्भधात्री माता है और मै परमात्मा हूँ सबका बीज-प्रदान करनेवाला पिता।

१—व्यक्तिरेक=जगत से ब्रह्म का भेद, जगत् के बिना या जगत् की दृष्टि से ब्रह्म का भाव, जैसे घट के बिना भी मिट्टी का होना। ब्रह्म की दृष्टि से जगत् को देखा जाय या जगत की दृष्टि से ब्रह्म को सिद्ध दोनों अवस्थाओं मे ब्रह्म ही होता है, जगत् नहीं— यही अन्वय-व्यतिरेक है।

इस भगवद्वाक्य के अनुसार संसार मे जितने शरीरधारी प्राणी हैं सब भगवान् की सजीव मूर्तियाँ हैं और भगवद्बुद्धि से उनकी निष्काम सेवा ही सच्ची मूर्तिपूजा है। इस न्याय से प्राणी की हिंसा मे परमात्मा की हिंसा है। किसी मनुष्य से मिथ्याभाषण करना साक्षात् परमेश्वर से ही झूठ बोलना है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है—

"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

गी० १६-१८।

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के आश्रित, गुण मे ही दोष देखनेवाले, परनिन्दक पुरुष अपने और पराये देह मे स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले होते हैं।

"खं, वायु, अग्नि, सलिल, मही, ज्योतियाँ, प्राणिपुंज, दिक्, द्रुम, सरित्, समुद्र सब हरि के शरीर हैं;" "परम पुरुष आदिदेव नारायण ने पंचधातुओं की सहायता से ब्राह्मण, गो, हस्ति, शुनि, श्वपाक आदि भौतिक देहों का निर्माण किया और अपने को एकादशधा विभाजित कर आत्मरूप से उनमे प्रवेश करगया" प्रवेश करते ही जड़मूर्तियों मे भगवान् की प्राण-प्रतिष्ठा होगई। "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" निद्राजित् अर्जुन ! सब प्राणियों के अन्तःकरण मे स्थित आत्मा मै हूँ, ऐसा भगवान् ने कहा है। किसी से द्वेष न करना और सबके प्रति मित्रता एवं करुणा का भाव होना ही भगवान् ने भक्ति का प्रथम लक्षण बताया है, " अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च " गी० १२-१३।

संसाररूपी मन्दिर मे विराजमान विविध योनियों की इन मूर्तियों मे भगवत्पूजा की विधि श्रीकृष्ण ने उद्धव को भागवत ११ स्कन्ध श्लो० १२ से १६ तक समझाया है। विस्तारभयात् अत्र तु अर्थमात्रम्—"निर्मलान्तःकरण पुरुष अपनेमे और सम्पूर्ण भूतप्राणियों मे अपनी आत्माको और मुझ परमात्मा ही को आवरणशून्य आकाश के समान बाहर-भीतर व्याप्त देखे। साधक ऐसा मानता हुआ केवल ज्ञानदृष्टि का आश्रय लेकर परमात्माबुद्धि से सब प्राणियों का सत्कार करे। ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, ब्राह्मणभक्त, सूर्य, स्फुलिंग,[1] क्रूर[2] और अक्रूर[3] इन सब विषम मूर्तियों मे जो एक समतत्व परमात्मा को देखता है वही पण्डित है। नर-नारियों मे बारम्बार मुझ परमात्मा की भावना करनेवाले पुरुष के चित्त से थोड़े ही दिनों मे अहंकार के सहित स्पर्धा, असूया[4] और तिरस्कार आदि दोष दूर होजाते हैं। लोकलज्जा, देहदृष्टि और अपनी हसी उड़ानेवाले लोगों की उपेक्षाकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे तक को भी भूमिमे पड़कर दण्डवत् प्रणाम करे। यावत् समस्त भूत प्राणियों मे भगवद्भाव उत्पन्न न हो तावत् कायिक वाचिक और मानसिक वृत्तियों से साधक इस प्रकार उपासना करता रहे। ब्रह्मविद्या एवं आत्मबुद्धि के कारण उसे सब ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है और वह मुक्तसंशय होकर सब ओर से उपरत या विरक्त होजाता है। तन, मन और वचन की अखिल वृत्तियों से सकल भूतप्राणियों मे भगवद्भाव रखना सर्वश्रेष्ठ साधना है।"

१—स्फुलिंग=चिनगारी। २—क्रूर=निर्दय।

३—अक्रूर=सदय।

४—असूया=किसी के गुण मे दोष का आविष्कार।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

भा० ११-२-४५ ।

जो आत्मा के भगवद्भाव को सब भूतों मे और भूतप्राणियों को भगवान् और अपने आत्मा मे देखता है वह उत्तम भागवत है ।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सुच ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६

जो परमेश्वर मे प्रेम, भगवद्भक्तों से मैत्री, मूर्खों मे कृपा और अपने से द्वेष करनेवालों के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है वह मध्यम कोटि का भक्त है ।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७

जो लोग भगवद्भक्तों तथा अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं मे भगवत्पूजा न कर केवल धातु या पत्थर की बनी प्रतिमा मे ही भगवान् की पूजा करते हैं वे साधारण श्रेणी के भक्त हैं और यह भक्ति की प्रारम्भिक साधना है ।

अर्चा[१] को भी भगवान् का चिन्मय-विग्रह मानकर पूजा करनी चाहिये । पाषाणबुद्धि रखकर मूर्तिपूजा करने से न तो जीव की जड़ता भङ्ग होती और न उस पूजा के फलस्वरूप परमात्मा के ही दर्शन हो सकते ।

१—अर्चा=प्रतिमा, मूर्ति ।

"महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः"

भा० ११-३-४८

साधक अपनी मन-पसन्द मूर्ति के द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् की विधिपूर्वक आत्मवत् पूजा करे और साथ ही हृदयमे भी उन्हें पूजे "अर्चादौ हृदये चापि"। अपने आत्मा को भगवत्स्वरूप ध्यान करते हुए हरि के मूर्ति की पूजा करने से ही आत्म-कल्याण होता है "आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्ति सम्पूजयेत् हरेः" भा० ११-३-५४। साधक को उचित है कि शुचि होकर स्थिर भाव से अर्चित मूर्ति के सम्मुख बैठे और प्राणसंयम-पूर्वक नाड़ियों का शोधन करते हुए आत्म-विजय करे। परमात्मा की चेतना से जैसे यह जड़ देह प्रकाशित है उसी प्रकार प्राणियों की आत्मचेतनासे प्रतिमा मे प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। सुतरां आत्मा को छोड़कर केवल वाह्य पूजा-पाठ से अधिक सफलता नहीं मिलती, क्योंकि किसी भी उपाय से हो ज्ञानका संचार तो अपने अन्दर ही करना है। प्रतिमा, परमात्मा और अपने आत्मा तीनों मे अभिन्न बुद्धि रखकर उपासना करने से चिन्मय लोकमे साधकका प्रवेश होजाता है। किसी भी एक देश या वस्तुमे अनन्य निष्ठासे यदि एकबार दृष्टि खुल गई तो फिर सर्वत्र समानरूपसे असीम सच्चिदानन्द के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार वह साधक अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और हृदय आदि मे सर्वत्र समान रूप से अपने आत्मरूप परमेश्वर की पूजा करते हुए शीघ्र ही मुक्त होजाता है "एवमग्न्यर्कतो-यादावतिथौ हृदये च यः। यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥" भा० ११-३-५५। पाषाणमयी प्रतिमा जैसे निन्दा-स्तुति, मानापमान और शीतोष्णादि द्वन्द्वों मे सदा सम रहती

है तथा उसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकारादि विकार नहीं उठते ठीक इसी प्रकार देहाभिमानशून्य, आत्मविद् पुजारी को भी मरणशील, जड़ शरीर की निन्दा-स्तुति मे सम रहकर गुणों से कभी विचलित न होना चाहिये। ऐसा पुजारी अल्प-दिन मे ही महात्मा होजाता है और प्रतिमा उसके लिये हसती-बोलती भगवान् की प्रत्यक्ष मूर्ति बन जाती है। मीरा को गोपाल मूर्तिमे और श्रीरामकृष्णदेवको भवतारिणीकालीकी प्रतिमा मे इसी प्रकार अर्चावतार का साक्षात्कार हुआ था। परमहंस जी कालीके नाक मे जब हाथ देते थे तो उनको मूर्तिमे प्रत्यक्ष श्वास चलती मालुम पड़ती थी।

हिन्दुओं मे दो प्रकार के देव-देवियों की मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। एक तो रामकृष्णादि नारायणके उन अवतारों की मूर्तियाँ हैं जिन्होंने धर्म के अभ्युत्थान के लिये समय-समय पर जन्म लेकर लोकसंग्रह के उद्देश्य से दिव्य कर्मो का अनुष्ठान किया था और दूसरी हैं आध्यात्मिक एवं आधि-दैविक मूर्तियाँ। तत्वदर्शी ऋषियों ने स्तरभेद से जिन-जिन रूपों मे आध्यात्मिक सत्यका साक्षात्कार किया उन्हें जन-साधारणको बोधगम्य बनाने के लिये प्रतीक के रूपमे देव-प्रतिमाका आकार देकर तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र के द्वारा उपासनाका मार्ग निर्दिष्ट किया है। योगाभ्यासके समय नाना प्रकारके जो नाद सुने जाते हैं घड़ी, घन्टा, शंख सब उन्हींके प्रतीक हैं और उन सबकी ध्वनि प्रणव से मिलती-जुलती है। प्रतीकोपासनामे सर्वश्रेष्ठ पूजा शिवलिंगकी है। महद्ब्रह्म अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृति विश्वयोनि है और उसमें गर्भाधान करानेवाला आदि पुरुष ही शिवलिंग है, उन्हीं दोनों के संयोग से अखिल भूतप्राणियों की उत्पत्ति हुई है। "मम

योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥" गी० १४–३ । इस भगवदुक्तिमे प्रकारान्तरसे शिवतत्वका बड़ा सुन्दर चित्रण है। अंगुष्ठ-प्रमाण पुरुष ही ज्योतिर्लिङ्ग शिव है। इसे कपोल-कल्पित न समझना चाहिये! यह सब वास्तव मे ऐसा ही है। अन्तःपुर मे गुणवैषम्य को भेदकर त्रिगुणमयी प्रकृति की साम्यावस्था मे प्रतिष्ठित इस ज्योतिर्मय शिवलिंगका दर्शन कोई भी साधक कर सकता है। मन्युमूर्ति[1] अहि[2] निर्विष होकर शिवका भूषण बन गया है। कामका प्रतीक बैल निर्विकार होकर मन्मथारी[3] का वाहन है। भालेन्दु[4] ऊर्ध्वरेतस् का सूचक है। जीवरूपी शिव यावत् मोहनिद्रा मे सोता है तावत् अविद्यामयी महा-माया काली शिवको पैरों के नीचे दबाकर उसीके अधिष्ठान मे नाचती रहती है। विद्यादेवी जब शिवको जगाती हैं तब प्रकृति-पुरुष का संघर्ष ठण्डा पड़ जाता है। शिव-शक्ति दोनों एक होकर मिलनेसे योगसिद्धि और ज्ञानके प्रतीक प्रणवरूप गणेश की उत्पत्ति होती है। बम्-बम् अर्थात् व्योमतत्व चिदा-काशमे यह अलौकिक दर्शन लाभकर साधक कृतार्थ हो जाता है।

कुछ लोग मूर्ति को पाषाण सिद्ध करने का व्यर्थ आयास करते हैं। व्यर्थ आयास इसलिये कि जो स्वयं सिद्ध प्रत्यक्ष है उसे क्या सिद्ध करना। कौन नहीं जानता कि मूर्ति धातु या पत्थर से बनी है? विशेषता तो उसे देवता सिद्ध करने मे है। भगवान् यदि सर्वत्र हैं तो निश्चय पत्थर मे भी हैं। प्रतिमा

१—मन्युमूर्ति=क्रोधकी मूर्ति। २—अहि=सर्प।

३—मन्मथारी=काम का शत्रु।

४—भालेन्दु=शिवके ललाटका चन्द्रमा।

को परमात्मा मानकर पूजा करने मे इतना खतरा नहीं जितना कि किसी मनुष्य को परमात्मा मानकर पूजा करने मे है, क्योंकि कोई महात्मा कितना भी महान हो शरीरधारी पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकता। यह स्वाभाविक है कि किसी के दोषों की ओर दृष्टि जाने से अश्रद्धा तो होती ही है, साथ ही उसके दोष भी अपने मे आजाते हैं। किन्तु प्रतिमा सदा एकरस, निर्विकार ब्रह्म है। उसे काम, क्रोध, अहंकार कभी विचलित नहीं करते। वह स्थान, जहाँ कभी अशुभ कर्म नहीं होते, सिद्धपीठ है और वह मूर्ति, जिसमे करोड़ों जनता की देवबुद्धि है, जड़ नहीं चिन्मय है। प्रतिमा से प्रारम्भकर धीरे-धीरे चराचर सभी वस्तुओं मे परमात्मा की पूजा का अभ्यास करना चाहिये; परमेश्वर असीम है, उसे संकीर्णता पसन्द नहीं।

जो हिन्दूजाति जड़ पत्थर तक मे चैतन्यबुद्धि रखकर सच्चिदानन्द भगवान् की पूजा करती है वह संसार मे किसी जीव से द्वेष कैसे कर सकती है ?

भारतवर्ष मे ऐसा एक भी हिन्दू नहीं जो किसी न किसी रूप मे मूर्तिपूजा न करता हो। जो लोग सनातन धर्म के देवी-देवताओं को नहीं मानते वे भी कुछ न कुछ तो मानते ही हैं। बौद्ध मन्दिरोंमे बुद्धकी प्रतिमा पूजी जाती है, जिनसे बढ़कर संसार मे आजतक किसी की मूर्ति ही नहीं बनी। जैनी तीर्थङ्करों की दिगम्बर (नग्न) मूर्ति पूजते हैं। सिक्खलोग नानकसाहेबके ग्रन्थकी आरती उतारते हैं। पाण्डीचेरी आश्रममे श्रीअरविन्दजीकी समाधि तीन वेला फूलों से सजाई जाती है। अपने को राष्ट्रवादी कहनेवाले जो प्रगति-शील विचार के लोग हैं वे, भले ही हिन्दू देव-देवियों की खिल्ली उड़ायें, देहली के राजघाटमे अवस्थित गान्धीजीकी

समाधि मे जाकर स्वयं तो फूल-माला चढ़ाते ही हैं, दुनियाभर के लोगों से फूल-माला चढ़वाते भी हैं। भविष्य मे इस व्यवस्था के सुचारुरूपसे संचालन के लिये ट्रष्ट आदि के द्वारा आर्थिक व्यवस्था भी कीगई है। सुतरां प्राचीन देवालयोंमे पूजा-पाठ के लिये श्रद्धालुगण जो आर्थिक व्यवस्था कर गये हैं उसे मिटाने का संकल्प करना राष्ट्रीय सरकार के लिये सर्वथा अशोभनीय है। व्यवस्था को न मिटाकर उसमे जहाँ गड़बड़ी हो उसे सुधार देना चाहिये। मन्दिर सन्यासी एवं ब्रह्मचारियों का आश्रय है। गरीब विद्यार्थी भगवान् का प्रसाद पाकर वहाँ संस्कृत पढ़ते थे। अधिकांश देवालयों मे आज भी यह व्यवस्था है। मन्दिरों की सम्पत्ति छीन लेने से संस्कृत विद्या को आघात लगेगा।



ब्रह्मतन्तु

मुसलिम आक्रामकों ने तो बलपूर्वक हिन्दुओं के शिखा-सूत्र को नष्ट किया था किन्तु अँगरेजों ने तो ऐसा मंत्र फूँका कि लोग स्वयं ही शिखा-सूत्र फेंकने लगे। अँगरेजी शिक्षा का शिकार सबसे पहिले बंगाल हुआ। पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ते ही शिक्षितों को शिखा-सूत्र भार होगया और लोग इसाई होने लगे। शिखाभार फेंककर शिरपर हैट रख लिया और कंधे से जनेऊ का बोझा उतारकर अजागलस्तन के समान गले मे नेकटाई अर्थात् गलग्रह बाँध लिया। उनमे जो भारतीयता के प्रेमी थे उन्होंने मध्यमार्ग निकालकर ब्रह्म-समाज बनाया। उससे इसाई बनना तो अवश्य कुछ कम हुआ किन्तु शिखा-सूत्र को उनके ब्रह्म के यहाँ भी कोई स्थान प्राप्त न हुआ। आचार-विचार के साथ ही आहार मे भी यहाँ तक संकरता आई कि रवीन्द्रनाथ टैगोर और स्वामीविवेकानन्द ऐसे विश्ववन्द्य महापुरुष भी गोमांस भक्षण मे कोई दोष नहीं समझते थे। परन्तु परमहंस रामकृष्णदेवके प्रभाव के कारण बंगाल मे ब्रह्मसमाज अधिक दिन पनपने नहीं पाया। विजय-कृष्णगोस्वामी, केशवचन्द्रसेन और विवेकानन्द ऐसे लोगों पर उनकी छाप पड़ी। ब्रह्मसमाज छोड़कर ये लोग सनातनधर्ममे पुनः श्रद्धा करने लगे और जिन्होंने शिखा-सूत्र फेंक दिया था, पुनः धारण कर लिया। बादमें तो पाश्चात्य सभ्यता की देश भर मे ऐसी आँधी चली कि भारतीय विश्वविद्यालयों के प्रायः सभी छात्रों के शिखा-सूत्र को उड़ा लेगई और कहीं-कहीं तो भारतीय देवियों को भी विकचरूप देकर विकराल बना दिया।

अभीतक यह जादू बड़े नगरों तक ही सीमित था किन्तु अभी हाल मे सर्वोदय समाज नामकी एक संस्था बनी है जिसके आचार्य राष्ट्रीयता के नाम पर भारतीय ग्रामों मे भी इसका प्रभाव विस्तार करना चाहते हैं। इस समाज के अन्य सेवा-कार्य जोभी हों उनसे किसी का कोई विरोध नहीं किन्तु शिखा-सूत्र के प्रति ग्रामीण जनता की निष्ठा को ये लोग न मिटाते तो सनातन धर्म के प्रति इनका बड़ा अनुग्रह होता। अहिंसा के द्वारा एकता की भीख मागने से जैसे हिंसा भी कम नहीं हुई और देशका बटवारा होजाने से एकता भी हवा होगई वैसे ही कहीं द्विजातियों की जनेऊ भी गई और हरिजन, हिन्दू मुसलमान, इसाईयों मे उनके मन की चिरन्तन एकता भी न हुई तो बेचारा सवर्ण हिन्दू उभय लोक भ्रष्ट होकर कहीं का न रहेगा। दूसरों के लिये यह मार्ग भले ही सर्वोदय हो परन्तु हिन्दुओं के लिये तो यह निश्चय अधर्मोदय है। सनातनधर्म आधुनिक भाषामे न तो कोई सम्प्रदाय है और न साम्प्रदायिकता का अर्थ अहिन्दुओं के प्रति घृणा ही है। सांस्कृतिक उत्तराधिकार सम्प्रदायका अर्थ है। एकता और राष्ट्रीयता सभी सज्जनों को अभीष्ट हैं परन्तु उनके नाम पर मृगतृष्णा के पीछे अपनी सभ्यता को ही मिटा देना किसी प्रकार उचित नहीं। देश के जो पुजारी गजीके एक बीते कपड़े को राष्ट्रीय ध्वज मानकर उसके सामने मस्तक झुकाते हैं वे आर्यजाति के स्वधर्म की निशानी यज्ञोपवीत को डोरा कहकर कैसे तिरस्कार करते हैं यह बात समझमे नहीं आती। झण्डे के सामने सम्पूर्ण राष्ट्र जो अपना मस्तक नत करता है तो क्या कोई उस जड़ वस्त्र को थोड़े ही दण्ड-प्रणाम करता है। झण्डा राष्ट्र का प्रतीक है, जड़ नहीं उसमे देशभर की चेतना समाई हुई है।

भावना का ही समादर और सम्मान किया जाता है। इसी प्रकार शिखासूत्र मे भी आर्यधर्म को भावना जुड़ी है और उससे आर्यजाति को अभ्युदय और निःश्रेयस् के कार्यों मे प्रेरणा मिलती है। धर्मग्लानि के इस युगमे यह प्रश्न उठ सकता है कि आज कितने हिन्दू ऐसे हैं जो सच्चे अर्थ मे शिखा-सूत्र से अपने धर्म-कर्म की प्रेरणा ग्रहण करते हैं? यज्ञोपवीत का कर्म नहीं होता तो झूठमूठ उसे क्यों धारण किया जाय? इनसे केवल इतनी ही विनती है कि परम्परा के अनुसार यदि हमलोग इसे पहिनते रहेंगे तो कभी न कभी स्वधर्म की याद आने से उसमे प्रवृत्ति भी हो सकती है अथवा हमारी न सही, बीज बने रहने से हमारे भावी बच्चों मे अंकुर उग सकता है। यदि कुलपरम्परा ही मिटगई तब तो हम लोग सदा के लिये आत्म-विस्मृत होजायेंगे और आर्यजीवन का कोई चिह्न समाजमे दृष्टिगोचर न होने से कुछ दिन बाद हम इस बात को भी भूल सकते हैं कि आर्यावर्त हमारे ही पूर्वजों का देश है, हम व्यास-वशिष्ठादि की सन्तान हैं एवं उनकी लिखित वेद-शास्त्रादि ग्रन्थराशियाँ हमारी सांस्कृतिक निधि हैं। यदि हम अपने आदर्शों से दूर हैं तो उस खाईं को और भी चौड़ी करना बालबुद्धि का परिचय देना होगा। हम यज्ञोपवीत का वास्तविक अर्थ समझें और जैसे अतीत की कुछ ऐतिहासिक भूलों के कारण यह देश वर्तमान दुर्दशा को प्राप्त हुआ है उसी प्रकार हम लोग ऐसा कोई काम न करें जो देश की आगामी सन्तति के लिये अभिशाप सिद्ध हो। अहिंसा-सत्यादिक तो सार्ववर्णिक सामान्य धर्म हैं। शिखा-सूत्र विशेष धर्म के द्योतक हैं। ये तत्त्व आर्यजाति को एकता के सूत्रमे बाँधकर अतीत के साथ जोड़ते हैं, इन संस्कारों को मिटाना ठीक नहीं। संसार में

एक जैसा कोई नहीं, सभी भिन्न हैं। कम से कम शिखा की दृष्टि से तो सब हिन्दू एक हैं? यह काया यज्ञशाला है। स्वकर्म की आहुति से ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है। शिखा इसी अग्निशिखा का प्रतीक है। योगदृष्टि से यह सहस्रदलचक्रका आच्छादन भी है।

विद्यालाभ के लिए गुरु के पास जाने पर ब्रह्मचारी का यज्ञोपवीत होता है। यज्ञोपवीत शब्द की व्युत्पत्ति है—यज् देवपूजा, संगतिकरना, दानदेना + नङ्प्रत्यय + उप + समीप + वि + इण् गत्यर्थे + क्तप्रत्यय। यज्ञार्थाय गुरोः समीपं गतस्य चिह्नं यज्ञोपवीतम्। यज्ञके लिये गुरु के समीप गये हुए ब्रह्मचारी का चिह्न यज्ञोपवीत है। सीमन्त का सिन्दूर जैसे युवती के विवाह का सूचक है उसी प्रकार यज्ञोपवीत वैदिक कर्म मे अधिकार को सूचित करता है। विद्यारूप यह अग्नि कैसे पैदा होती है इसे अग्न्युत्पादन का लौकिक दृष्टान्त देकर समझाया गया है। "आचार्यः अरणिः आद्यः स्यात् अन्तेवासी उत्तरारणिः" आचार्य इस ज्ञानयज्ञ की नीचे की लकड़ी है और अन्तेवासी विद्यार्थी उत्तर की। "तत्सन्धानं प्रवचनम्" गुरु-शिष्य मे जो प्रश्नोत्तररूप प्रवचन है वही बीच का मन्थनकाष्ठ है। "विद्या-सन्धिः सुखावहः—भा० ११-१०-१२। इस प्रक्रिया से जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है वह परमानन्द प्रदान करनेवाली है। जो कर्म जिसके लिये नियत कर दिया गया है इस अग्नि मे अपने उसी कर्म की आहुति देकर परमात्मदेव की पूजा करने से मनुष्यको यथासमय नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" गी० १८-४६। हिन्दू की शिखा इसी अग्नि की शिखा का द्योतक है और ब्रह्मतन्तु इसी ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठाता का बाह्य चिह्न है। ब्रह्मार्पणबुद्धि से कर्मयोग का

अनुष्ठान किया जाय तो स्वकर्म यज्ञरूप होकर सर्वगत ब्रह्म से जीव को मिला देता है, क्योंकि यज्ञमे ब्रह्म नित्य ही प्रतिष्ठित है—गी० ३-१५। कर्म तो जनेऊ के विना भी होता है, कर्म के विना कोई एक क्षण भी नहीं रहता। जनेऊ केवल कर्म की नहीं अपितु यज्ञार्थ कर्म की निशानी है। यज्ञार्थ-भिन्न कर्म से यह संसार कर्मबन्धन का कारण होता है "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" गीता। कर्म का उद्भव वेद से होता है "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" गीता। ये वेद त्रिगुण-विषयवाले हैं "त्रैगुण्य विषया वेदाः"। ब्रह्मतन्तु के त्रिसूत्र इसी त्रैगुण्यकर्म के सूचक हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि के बाद साधक वेद से ऊपर उठकर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य होजाता है—गी० १८-४९-५०। "ज्ञानाग्निः दग्धकर्माणि" गीता। ज्ञानाग्नि मे कर्म दग्ध होजाने से सन्यास का अधिकार प्राप्त होता है तब जनेऊ की आवश्यकता नहीं रहती। सूत्रे मणिगणा इव जिसमे यह सब विरोया है उस ब्रह्मसूत्रको पाकर वह कृतार्थ होजाता है, वाह्य-सूत्र नहीं रखता। ज्ञानाग्निमे अध्यात्मयज्ञ करने के कारण वाह्याग्निमे हवन उसके लिये आवश्यक नहीं होता इसलिये अग्नियों को अन्तर मे ही धारणकर अग्निवर्णका वस्त्र पंहिनता है, उस देवमानवका केवल अग्निवर्ण है और कोई वर्ण नहीं। अग्नियों मे आहुतियाँ न पड़ने से अग्निशिखा नहीं इसीलिये उसके शिखा भी नहीं और भीतर रविरश्मियों के मिलजाने से उसकी जरूरत भी नहीं।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि वेद के ब्राह्मणभागमे ८० सहस्र पौरुषेय मन्त्र सर्वजनोपयोगी होने के कारण उनमे सभी का अधिकार है। प्रतीकरूप से ८० सहस्र की केवल अस्सी संख्या ले लीगई है। इसलिये शूद्रों मे जो आचारनिष्ठ भगत

नाम से पुकारे जाते हैं वे यदि चाहें तो ८० चौआ सूत्र बटकर उसका गठरी बनाकर माला की तरह सामने गले मे लटका सकते हैं। "अशीतिः शूद्र उच्यते"। कर्मकाण्ड के विधायक, उपासना विषयक १६ सहस्र अपौरुषेय वेद मन्त्र हैं; इनमे ४ सहस्र वैश्यकर्म बोधक, ८ सहस्र युद्धकला विषयक और ४ सहस्र ब्राह्मण धर्म अर्थात् शिक्षणविषयक मन्त्र हैं। इसलिये संहतांगुलिमूलसे ८०+४=८४ चौआ सूत्र लेकर वैश्य की, संहतांगुलियों के मध्यपर्व से ८४+८=९२ चौआसूत्र लेकर क्षत्रिय की और मिलित अंगुलियों के अग्रभागसे ९२+४=९६ चौआसूत्र लेकर ब्राह्मण की जनेऊ तैयार करना चाहिये। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि मिलित अंगुलियों के मूल से लिये गये सूत्र का परिमाण अपेक्षाकृत अधिक, मध्य से कुछ कम और अग्रभाग से और भी कम होगा। अतएव विषम संख्या होने पर भी मिलित अंगुलियों के अग्रभाग से चारों वर्णों का सूत्र लगभग ९६ चौआ ही बैठेगा और जनेऊ के परिमाण मे कोई खास अन्तर न पड़ेगा। परम्परा से भी ९६ चौआ जनेऊ ही तीनों वर्णों के लिये प्रसिद्ध है और यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

"चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत्" वेदमाता गायत्रीका उल्लेख चारों वेदोंमे पाया जाता है; उसमे २४ अक्षर होते हैं। इसलिये उसका चतुर्गुण अर्थात् २४×४=९६ चौआ ब्रह्मतन्तुका प्रमाण कहा गया है। ब्रह्मतन्तु धारण करनेवालेको सविधि सन्ध्या करनी चाहिये और यदि यह न होसके तो प्रातःसायं गायत्रीमन्त्र का जप तो करना ही चाहिये।

योगशास्त्रमे प्राणकी कुल लम्बाई १०८ अंगुल मानी गई

है—९६ अंगुल देहमे और १२ अंगुल देह से बाहर। शरीरका सीधा परिमाण यद्यपि ८४ अंगुल ही है, परन्तु उसमे वक्रगति से व्याप्त होने के कारण प्राण ९६ अगुल होगया है। प्राणके १८ मर्मस्थान हैं, उन्हींमे प्राणसूत्रने जीवको बाँध रक्खा है। देह मे प्राण का यह प्रमाण याज्ञवल्क्यसंहिता सप्तम अध्याय श्लोक ८ से २० तक देखना चाहिये। याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं:— प्राण का प्रमाण पादांगुष्ठ[1] से गुल्फ[2] तक ४½ अंगुल + गुल्फ से जंघामध्य १० अंगुल + जंघा मध्य[3] से चितिमूल ११ अं० + चितिमूल[4] से जानु २ अं० + जानु[5] से उरुमध्य ९ अं० + उरुमध्य[6] से पायुमूल ९ अं० + पायुमूल[7] से पीछेका देहमध्य २½ अं० + देहमध्य[8] से मेढ़ २½ अं० + मेढ़[9] से नाभि १०½ अं० + नाभि[10] से हृन्मध्य १४ अं० + हृन्मध्य[11] से कण्ठकूप ६ अं० + कण्ठकूप[12] से जिह्वामूल ४ अं० + जिह्वामूल[13] से नासामूल ४ अं० + नासामूल[14] से नेत्रस्थान ½ अ० + नेत्रस्थान[15] से भ्रूमध्य ½ अं० + भ्रूमध्य[16] से ललाट ३ अं० + ललाट[17] से व्योमसंज्ञा[18] मूर्द्धा ३ अं०=९६ अंगुल कुल। जनेऊ का ९६ चौआसूत्र प्राणसूत्र का प्रतीक है। सन्यासी देहाध्यास से मुक्त होता है इसलिये उसे जनेऊ नहीं। शरीर से बाहर प्राण के ये द्वादश अंगुल कुछ साधक मस्तक के ऊपर, कुछ घ्राण से बाह्य और कुछ पादांगुष्ठ के नीचे मानते हैं। वायु व्यापक तत्त्व होने के कारण दृष्टिभेद से तीनों मान्यतायें सत्य हैं। वस्तुतः शरीर के किसी भी भाग से हमारा प्राण १२ अंगुल तक बाहर व्याप्त है। शरीर से बाहर द्वादशांगुल प्राण मे जिसकी दृष्टि या धारणा-ध्यान स्थिर होगया है उसे अहंता-ममता प्रभृति देहविकार बाधा नहीं पहुँचाते, यह अनुभूत सत्य है और यही

मेढ़=लिंग।

योगी एवं सन्यासी के अन्तश्चेतना की स्थिति है। जपमाला के १०८ दाने १०८ अंगुल प्राणके प्रतीक हैं।

"देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः" भा० ११-२८-१६। देह इन्द्रिय, प्राण और मन का अभिमानी अन्तरात्मा गुणकर्ममयीमूर्ति को स्वीकार करके जीवभावको प्राप्त हुआ है। तीन लड़ी की जनेऊ आर्यजाति को यह याद दिलाती है कि तुम्हारी अन्तरात्मा इस देहमे सत, रज, तम, इन तीन गुणों अर्थात् रस्सियों से बँधी हुई है। देह रहते इन तीनों गुणों से मुक्त होकर त्रिगुणातीत अवस्था लाभ करना ही जीव का लक्ष्य है और यही प्रकृत सन्यास है। यज्ञोपवीत की तीनों लड़ियों के मूलमे एक ही सूत्र है, एक ही तीन हुआ है। इसी प्रकार सत, रज, तम ये तीनों गुण मूल में एक ही गुण या सूत्र हैं। "स्वभावः सूत्रमेव च" भा० ११-२२-१३। यह सूत्र ही स्वभाव है, स्वभाव ही त्रिविधभाव की योनि है। इसी को सूत्र, महान् इन नाना नामों से गायन किया गया है "सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार आधावति कालतन्त्रः" भा० ११-२८-१६ कालवश इसी सूत्र से बंधा जीव संसार मे भटक रहा है। देह रहते इस सूत्र को छेदनकर आत्मलाभ करना हिन्दूमात्रका उद्देश्य है। तीनों गुणों से सन्यास लेकर शिखासूत्रको फेंकदेना हिन्दुत्वका आदर्श है। जो द्विजाति इस गूढ़ रहस्य को बिना समझे पाश्चात्यभावापन्न होकर स्वधर्म से ही सन्यास लेरहे हैं एवं विद्रोहभावना से शिखासूत्र फेंककर शूद्रत्व को प्राप्त हो रहे हैं उनकी अवस्था उसी रोगी जैसी है जो व्याधि निवृत्त हुए बिना ही औषधि सेवन त्याग कर दिया हो।

"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता" गीता १६-५।

आसुरीसम्पत्ति बन्धन के लिये एवं दैवीसम्पत्ति मोक्ष के लिये मानी गई है। षोडश अध्याय गीता के आदि मे दैवीसम्पत्ति के २७ लक्षण गिनाये गये हैं। १—अभय अर्थात् जगत् को आत्मा तथा अद्वैतब्रह्मका स्वरूप मानना और किसी से डर-कर सत्यपथ से कभी भ्रष्ट न होना। २—अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि; ३-ज्ञानमे चित्त की अवस्थिति; ४—योगमे स्थिति; ५—दान अर्थात् अपने खाने-पहिनने सो जो बचे उस धनको दूसरे प्राणियों की सेवा मे निःसंकोच लगा देना; ६—दम अर्थात् मन और इन्द्रियों का निग्रह; ७—स्वकर्म या स्वधर्मरूप यज्ञ; ८-शास्त्राध्ययन और आत्मज्ञानरूप स्वाध्याय; ९—१७वें अध्याय गीतामे कहे गये कायिक, वाचिक और मानसिक तप; १०—आर्जव अर्थात् बालवत् निष्कपट सरलभाव; ११—अहिंसा अर्थात् मन वचन कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न देना; १२—सत्य अर्थात् यथार्थ वचन, १३—अक्रोध अर्थात् किसी से उद्विग्न होकर अपने मनका संन्तुलन न खोना और न अपनी इच्छा ही किसी पर लादना; १४—कर्मफलत्याग और आत्मा से भिन्न प्रतीत होने वाले संसार से अनासक्ति; १५—स्वभाव मे शान्ति; १६—अपैशुन अर्थात् किसी की चुगली या चाटु-कारिता न करना किम्वा किसी के परोक्षमे किसीके विरुद्ध कोई बात न कहना; १७—आत्मवत् सब प्राणियोंमे दया करना, दूसरे की सेवा मे सर्वस्व की बाजी लगा देना अथवा यदि कोई अन्याय करे तो उसे क्रोधका भाजन न बनाकर उसे दयाका पात्र समझना; १८—लोभ न करना; १९—कोमल, मृदु, मधुर स्वभाव; २०—ह्री अर्थात् अशुभ कर्म के आचरण मे लज्जा, संकोच और अपने प्रति लघुबुद्धि; २१—चपल न

होना; २२- तेज अर्थात् स्वधर्म मे दृढ़ निष्ठा; २३—क्षमा अर्थात् अपने प्रति किये गये दूसरे के अपराधों की उपेक्षा कर देना; २४—धृति अर्थात् सात्विकी धारणा; २५—आचार-विचार मे अन्तर-बाहर की शुचिता; २६—किसी प्राणी से द्रोह या विद्वेषभाव का न होना; २७—अपने को न मानना या तृणवत् मानना एवम् किसी प्रकार के अभिमान का न होना।

यज्ञोपवीत के तीनों तन्तुओं मे एक-एक मे नौ-नौ तन्तु होते हैं। इस प्रकार जनेऊ के ९×३=२७ तन्तु इन्हीं २७ दैवीगुणों के द्योतक हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जनेऊ के रूपमे दैवीसम्पत्ति के २७ लक्षणों को सर्वदा धारण करते हैं, ऐसा सोचकर उन्हें कभी विरुद्धाचरण नहीं करना चाहिये। दैवी-सम्पत्ति को बढ़ाकर दम्भदर्पादि आसुरीसम्पत्ति पर विजय-लाभ करने मे ही यज्ञोपवीत की सार्थकता है। जनेऊ मे जो गाँठ लगती है वह ब्रह्मपाश अर्थात् जड़-चेतन की ग्रन्थि का सूचक है। देह मे अहंबुद्धि इसीका फल है। दैवीभाव या विद्या के द्वारा ब्रह्मज्ञान लाभकर असंगशस्त्र से मायाग्रन्थि को छेदन करनेवाला सच्चा द्विज है।



महत्तत्वम्

"प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै" भा० ११-२२-१२। त्रिगुणों की निष्क्रिय साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। अव्यक्त, अव्याकृत, मूलप्रकृति या प्रधान हैं इसके पर्याय। यह पुरुष की शक्ति है, यहाँ सृष्टि का कार्य नहीं और यह है जीव की पहुँच से परे। "प्रधानात्तु महत्तत्वं प्रजायते" इसी प्रधान प्रकृति से सृष्टिका आदितत्त्व महत् पैदा होता है। विराट् जगत् का जो समष्टि महत् है वही ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ है। बुद्धि का दिव्यरूप, प्रेरक देवता ब्रह्मा माना गया है। ब्रह्मा वेदरूप है। अतएव महत्तत्व को, महद्ब्रह्म, वेद, प्रज्ञा आदि नामों से पुकारा गया है। प्रत्येक मनुष्य का विधाता, महत् अलग-अलग है और उसी महत् मे निहित है तत्तत् मानव का वेद अर्थात् विहित कर्मका प्रेरक देवता। "सूत्रंमहानिति" जीवको आवेष्टित करने के कारण महत्तत्व ही सूत्रात्मा है। "स्वभावः सूत्रमेव च" भा० ११-२२-१३। सूत्रात्मा ही मनुष्य का स्वभाव है। "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" गी० ८-३। गीता की परिभाषा मे स्वभाव को ही अध्यात्म कहा है। सृष्टि मे इस तत्त्वका प्रथम प्राकट्य होने के कारण इसीको कहीं-कहीं व्यक्त या व्यक्तप्रकृति के नाम से कहा गया है, यह देहधारी जीवकी शक्ति है। महद्ब्रह्म, सूत्रात्मा, व्यक्त, महत्, प्रज्ञा, वेद, अध्यात्म, स्वभाव, स्वधर्म, सहजधर्म, स्वकर्म, नियतकर्म ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

"योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः। अहं त्रिविन्मोहविकल्पहेतुर्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च" भा०

११-२२-३२। प्रधानभूत महत् से जो यह गुणक्षोभरूप विकार उत्पन्न होता है उसीको अहंकार कहते हैं। 'महतः अहंकारः जायते' महत् से ही अहंकार जायमान है। यह अहंकार सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार का है और यह त्रिविध अहंभाव ही जीवकी उपाधि है। अहंकार ही संकल्प-विकल्पात्मक मनका हेतु है और यह मन ही दश इन्द्रियवाले देहाभिमानी मानवको नचाता है। मन मे प्राक्तन[1] और क्रियमाण[2] कर्मों के संस्कार हैं। साधारण मनुष्य जो भी दौड़धूप करता है, कामना और संस्कार ही उसकी अखिल क्रियाओं के प्रेरक हैं। 'मै देह हूँ और उसमे उठे हुए राजस, तामस भाव मेरे हैं' ऐसा सोचकर मनुष्य उन वृत्तियों को चरितार्थ करता है। मनुष्याणां सहस्रेषु जो कोई योगारूढ़ है उसे छोड़कर शेष सभी लोगों के काम का यही तरीका है। राजसी, तामसी दिनचर्या के लोग ही संसार मे अधिक हैं। विद्वान् लोग यद्यपि ऊपर से यज्ञ, दान, तप आदि सात्विक कर्मों का अनुष्ठान करते हुए देखे जाते हैं किन्तु अन्तर्विकसित न होने के कारण उनका वह सत्कर्म भी प्रायः रज-तम से दूपित होजाता है। इसीलिये कहा है "जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते" शब्दब्रह्म अर्थात् "वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुण" की अपेक्षा योगका जिज्ञासु भी कहीं अधिक अच्छा है। यही मनुष्य की स्थिति है। विद्वान् हो या मूर्ख संसार मे कोई भी ऐसा न मिलेगा जो वेद-शास्त्र के पन्ने खोलकर, प्रत्येक बात उससे पूछ-पूछकर अपना रोजका कामकाज करता हो। कर्मकी प्रेरणा तो भीतर से आती है, इसमे शास्त्र का वाह्यज्ञान क्या

१—प्राक्तन=जो पूर्व किये गये हैं। २—क्रियमाण=जो वर्तमान जीवन के द्वारा किये जा रहे हैं।

करेगा ? इसका अभिप्राय यह नहीं कि शास्त्रज्ञान व्यर्थ है। वास्तव मे वह व्यर्थ नहीं सहायक है। किन्तु अपने अन्तर मे जो वेद की ऋचायें छिपी हैं जबतक वे मूर्तिमान् होकर सामने नहीं आतीं तबतक वाह्यशास्त्र बात मे तो आता है. काम मे नहीं आता। सीखे हुए बहुत से नये शब्द जब काम मे नहीं आते तब उनसे अजीर्ण होकर अहंकार की डकार उठने लगती है। कुछ लोग पण्डितों को अहंकारी बताकर स्वाध्याय से मुख मोड़ लेते हैं, किन्तु इतने से किसी का अहंकार से पिण्ड नहीं छूट सकता। विद्वानों को यदि सात्विक अहंकार है तो अविद्वानों को राजस और तामस अहंकार होता है। अहंकार विमूढ़ात्मा कोई भी यह नहीं कह सकता कि वह नियतकर्म कर रहा है। संकल्प-विकल्पात्मकमन, उसके संस्कार और त्रिगुणात्मिका अहंवृत्तियों ने महत् को ढक रक्खा है, उसे जीवन मे काम नहीं करने देता। प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वभाव उसके महत् मे छिपा है। घने बादलों के बीच से क्षणभर के लिये जैसे सूर्य का प्रकाश कभी-कभी आजाता है उसी प्रकार मन और अहं के परदे को फाड़कर महत् की दिव्य रश्मियाँ भी जीवन मे यदा-कदा काम कर जाती हैं। पशुओं मे मन क्रियाशील नहीं है, इसलिये जो जिसका स्वभाव है उसमें उनकी नित्य स्थिति होती है। मनुष्य समना जीव होने के कारण अपनी ओर से कर्मों का आरम्भ करता है और इसी से वह स्वभाव से विच्युत होजाता है। स्वभावज कर्म से पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते, यही कर्मबन्धनसे जीवकी मुक्ति है। व्याघ्र और मकर गैया को पकड़कर खाजाते हैं; पतितपावनी गंगा की बढ़ी हुई तरंगें प्रतिवर्ष घर, ग्राम, पशु और कृषि बहा लेजाती हैं—कोई पाप नहीं। इसी प्रकार यदि मनुष्य भी ज्ञानावस्थित-

चित्त होकर अपना स्वभावजकर्म करे तो वह नित्य मुक्त है। मानसज्ञान सोचने से मिलता है, फिर भी वह निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सोचने का अर्थ है पहाड़ खोदकर कौड़ी पाना। विचार के द्वारा कोई मत स्थिर भी कर लिया तो उसके अनुसार काम करने की शक्ति मनमे न होने के कारण वह ज्ञान व्यर्थ होजाता है. लोक मे सोचने-विचारने का चाहे जितना भी अधिक मूल्य हो, साधनपथ मे तो जो जितना ही अधिक विचार करता है अध्यात्म से वह उतना ही दूर रहता है। साधकको विचारोंका मोह छोड़ना ही होगा। महत्तत्व का काम करने का तरीका मन से सर्वथा भिन्न है। महत् मे अपने लिये प्रयोजनीय, नित्य, सिद्धज्ञान पहिले से विद्यमान है, सोच-विचार करने की वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं। एक जन्ममे व्यक्तिगत विकासकी जितनी सामग्री, शक्ति या ज्ञान अपेक्षित है उसे महत् के गर्भमे लेकर ही आत्मा वर्तमान देहमे आया हुआ है। संकल्पशून्य हृदय की नीरव गुहामें महत्तत्व क्रियाशील होने पर वह ज्ञान और उसे चरितार्थ करने की शक्ति प्रकाशमे आजाती है। जिस ज्ञानका बीज जिसके महत् मे नहीं उसका वह पात्र नहीं। उससे अधिक ज्ञान वह व्यक्ति धारण नहीं कर सकता। ऋषिगण व्यक्ति के महत् मे स्थित वेद, वर्ण, स्वभाव और नियतकर्मके बीज का दर्शन कर लोकमे उस व्यक्तिके शिक्षाकी वैसी ही व्यवस्था करते थे। प्रत्येक कर्म प्रत्येक व्यक्ति का स्वभावज कर्म नहीं होसकता और इसीलिये चाहे जो कर्म जिस किसी का नियत कर्म नहीं। जो जिसका स्वभावज नियतकर्म नहीं उसके द्वारा उस व्यक्तिको नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मनोवृत्तियाँ मनुष्य को स्वभाव, स्वधर्म, स्वकर्म या

नियतकर्म से भ्रष्ट कर तमस् अर्थात् अकर्म और रजस् अर्थात् विकर्म मे नियुक्त कर देती हैं। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इसी गर्त से निकाल कर उसे स्वधर्म मे लगाया था। आँख, कान, मन आदि जैसे मानव जीवन के अंग हैं उसी प्रकार महत् भी मनुष्य की एक दिव्य इन्द्रिय है जिसका कि उसे पता नहीं। इस अंग के क्रियाशील होने से दिव्यज्ञान का प्रकाश होने लगता है। यह दिव्यबुद्धि ही संसार के संग्राम मे जीवन-सारथी श्रीकृष्ण है। मनुष्य संसार मे सबकी बात उल्लंघन कर सकता है किन्तु अपनी बुद्धि के दास सब हैं, अपनी बुद्धि की बात अमान्य करने की सामर्थ्य किसी मे नहीं। तभी तो भगवान् ने कहा है कि जीवों! तुम लोग बुद्धि मे शरण खोजो "बुद्धौ शरणमन्विच्छ"। स्थिरप्रज्ञा और शास्त्र मे कोई मतभेद नहीं, वे दोनों एक हैं। प्रीतिपूर्वक अपनी भजना करनेवालेको परमात्मा बुद्धियोग ही देता है और वही बुद्धि अन्तमे जीवको भवकूप से उठाकर परमेश्वर से मिला देती है "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" ॥ गी० १०-१०।

"मम योनिर्महद् ब्रह्म" यह महद्ब्रह्म ही भगवान् की योनि है और भगवान् इसी अंग को जीव मे अपना ज्ञान प्रकाशित करने का यन्त्र बनाते हैं। अहं और मन के परदे से छनकर महत् का जो प्रकाश जीवन पर पड़ता है वह त्रिगुण-वृत्तियों और मन के संकल्प-विकल्प एवं संस्कारों से दूषित होजाता है, अतएव उसे शुद्ध भगवान् की प्रेरणा नहीं कह सकते। भगवान् मेरे इस जीवन के लिये कौन सा काम नियत किये हैं, वे हमसे कब क्या कराना चाहते हैं इस रहस्य को जानने के लिये मन और अहं के स्तर को भेदकर महत् से

अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। अन्यथा भ्रम की सम्भावना सदा बनी रहेगी। बहुत से लोग अहंकार, काम और क्रोध की प्रेरणा को ही भ्रम से भगवत्प्रेरणा मानकर ग्रहण कर लेते हैं। इस विपर्यय वृत्ति से सदा सावधान रहना चाहिये। महाभारतयुद्ध के पूर्व भगवान् कृष्ण दुर्योधन को समझाने के लिये जब हस्तिनापुर गये तो वह सामने खड़े हुए साक्षात् भगवान् के वचनों की तो उपेक्षा कर दिया और प्रज्ञावाद बखान करते हुए बोला "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" हृषीकेश! तुम हमारे हृदय में स्थित हो और हमसे जैसा कराते हो हम वैसा ही करते हैं। स्मरण रहे यह आसुरीबुद्धि है और इससे प्रेरित होकर प्रायः सभी लोग बड़ी सरलता से ऐसा कह दिया करते हैं कि भगवान् जो हमसे कराता है हम वही कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में उनका भगवान् अहं, काम और क्रोध होता है।

अस्त्रशस्त्र फेंककर अर्जुन काँपते हुए जब रथ के पिछले हिस्से में जाकर बैठ गया था तब भगवान् की बातें सुनकर दुर्योधन के स्वर मे स्वर मिलाते हुए यदि कहीं वह भी यही कह देता कि महाराज! आप हृदय मे स्थित होकर हमसे जैसा करा रहे हैं मै वैसा ही कर रहा हूँ अर्थात् मेरा अंग-कम्पन, अस्त्र-निक्षेप और स्वधर्म से विरति आदि कर्म आपकी प्रेरणा से ही होरहे हैं तब तो समग्र गीताज्ञान ही व्यर्थ हो जाता। परन्तु अर्जुन दुर्योधन के समान मोह और अहं की भाषा मे उत्तर नहीं देता। वह कहता है, अच्युत! आपके प्रसाद से मेरी आत्मस्मृति जग गई, मोह नष्ट होगया, मेरी मति स्वस्थ है मुझे कोई सन्देह नहीं, अब आप जैसा कहते हैं मै वैसा ही करूँगा। "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव" गी० १८-७३।

परम पुरुष परमात्मा के द्वारा नियत किया हुआ किस व्यक्ति का कौन सा स्वभावज कर्म है इसका विज्ञान महत्तत्व के साक्षात्कार से होजाता है परन्तु जबतक हृदयमे निरहंकार और निःसंकल्प अवस्था की प्रतिष्ठा नहीं होती तबतक आन्तरिक प्रचोदना का पता नहीं चलता। उस समय कर्तव्य का बोध कैसे हो, जीवन की यह एक जटिल समस्या है। आत्मज्ञान के पूर्व मनुष्य जो 'मै' शब्द का प्रयोग किया करता है वह वास्तव मे अहं के अर्थ मे करता है। महत् से उत्पन्न सत्, रज, तम के त्रिविध अहंभावों मे कोई एक गुण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे जन्म से प्रबल होता है और वही भाव कर्मक्षेत्र मे जीवन का नेतृत्व करता है। गुणों का चक्र त्रिचक्री (रिक्सा) के समान है। अग्रिम चक्र मे चालक पुरुष बैठता है और पीछे के दो चक्र प्रथम का अनुवर्तन करते हैं। गीता के चतुर्दश अध्याय मे भी गुणों का यह वैशिष्ट्य वर्णन किया गया है। जीवन मे जो गुण जन्म से प्रबल है उसके साथ जबतक अपनी अहंताका तादात्म्य बना रहता है तबतक प्रकृत स्वभाव जैसे-तैसे जीवन की गाड़ी को ढकेलता रहता है। किसमे कौनसा गुण प्रबल है आरम्भ मे इसका पता लगाने के लिये इसके सिवाय अज्ञानी जीव के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं कि जो जिस कुल, जाति, धर्म और वर्ण मे उत्पन्न हुआ है उसीको स्वधर्म के रूप मे अपनाकर आगे बढ़े। परन्तु मनुष्य कोल्हू का बैल नहीं, वह एक विकासशील प्राणी है। फिर एक ही व्यक्ति के लिये एक ही कर्म सब समय स्वधर्म नहीं हो सकता, देह और मन की अवस्था के भेद से आश्रम-भेद होजाता है और इसके अलावा जीवन मे कभी-कभी दूसरे

गुण भी प्रबल होकर जन्मजात गुण को अभिभूत कर लेते हैं जैसा कि अर्जुन को हुआ था। सत्, रज और तमोभाव श्वेत, लोहित और कृष्ण रंग के समान हैं। अहं पात्र है और महत् से अहं मे जो प्रेरणा आती है वह प्रपात के निर्मल जल के समान है। जीव की अहंता मे जब जिस गुण का रंग चढ़ जाता है सारी प्रेरणा उसी रंग का आकार धारण कर लेती है और उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बस यही अपना कर्तव्य कर्म है। स्वभाव मे यह वैषम्य और विकार हो ही जाता है चाहे जैसे भी हो। मल-मूत्र का विसर्जन पायु और उपस्थ का स्वभावज धर्म है किन्तु कभी-कभी मल-मूल अवरुद्ध होजाता है, इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं और औषधि सेवन करनी पड़ती है। कर्तव्य कर्म के निर्णय मे यह एक बड़ा भारी खतरा है। जबतक भीतर से प्रकाश और स्पष्ट आदेश न मिलने लगें तबतक एकमात्र यही उपाय है कि शास्त्रवचन, वर्ण और आश्रम के धर्म का दृढ़ता से पकड़े रहें और यदि सौभाग्य से कोई सिद्ध पुरुष मिल जाय तो उसकी शरण ग्रहण करें-- इसके सिवाय इस अन्धकार मे दूसरा कोई सहारा नहीं। जो जिस समाज, देश, धर्म, कुल और वर्ण मे पैदा हुआ है वह ईश्वर का ही विधान है। अवतारी योगेश्वर कृष्ण मोहग्रस्त अर्जुन के रथ मे न होते तो उसकी जो अवस्था होती उसी अवस्था मे प्रायः सब जीव पड़े हुये हैं।

भगवान् की अनन्य शरण ग्रहण करके झूठी अहन्ता ममता का त्यागकर "मै पुरुष हूँ, पुरुष हूँ" इस विशुद्ध आत्म-बोध के आसन मे चेतना को बिठाना पड़ेगा, अन्य कोई उपाय नहीं। कठश्रुति कहती है, "स्थूल इन्द्रियों से विषय सूक्ष्मतर हैं; विषयों से उत्कृष्ट मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत्

से अव्यक्त और अव्यक्त से उत्कृष्ट पुरुष है। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः"– कठ० प्र० तृ० १०-११। पुरुष से परे कुछ नहीं, वही साधन की पराकाष्ठा और वही साधक की परा गति है। तथा वह जो पुरुष है वही हम हैं "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" ईशो० १६।



वर्णाश्रम

मानवीय स्वभाव के चार भेदों का नाम चार वर्ण और व्यक्तिगत आयु या अवस्था के चतुर्विभाग का नाम चार आश्रम है। वर्णाश्रम का जितना आध्यात्मिक स्वरूप है वह तो ईश्वरीय सृष्टि है और समाज मे उसका जो आधिभौतिक रूप दिखाई पड़ता है वह जीवकृत सृष्टि है। वैदिक ऋषियों ने प्राणियों की मूलप्रकृति और उनकी जन्मगत सहज प्रवृत्तियों का यथार्थ दर्शनकर उसी आध्यात्मिक साँचे मे आर्यजाति के सम्पूर्ण लौकिक जीवन को ढालने का प्रयास किया था। उनका यह प्रयास मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक अखिल आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए उभय जीवन को एक ही सूत्र मे गूथने के उद्देश्य से था। इतर देशीय जातियों मे भी इस प्रकार के विभाग किसी न किसी रूप मे देखे जाते हैं किन्तु उन लोगों ने अध्यात्म को व्यक्ति एवं समाज की समस्त चेष्टाओं का एकमात्र लक्ष्य कभी नहीं बनाया और इसलिये कुमारिकाखण्ड के सनातन धर्मावलम्बियों को छोड़कर संसार के किसी भी समाज और शास्त्र मे वर्णाश्रम की चर्चा नहीं। वर्णाश्रम हिन्दूजाति, व्यक्ति, समाज, धर्म और शास्त्र का प्राण है। मनुष्य मे भेदबुद्धि पैदा करने के लिये किसी को ऊँच-नीच या बड़ा-छोटा मानकर

पादटीका :—वर्ण—समाजमे वर्ण जन्मसे मानाजाय कि कर्मसे, इस प्रश्न का उत्तर है कि न केवल जन्मसे और न केवल कर्म से। जन्म-कर्म दोनों के सामंजस्य से वर्णनिर्णयकी सामान्य प्रथा परम्परा से चली आती है वही मान्य होनी चाहिये, अपवाद की बात भिन्न है।

हिन्दूसमाज मे चातुर्वर्ण्य विभाग नहीं किया गया है। "सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः—अ० रा०" जो ऋषि घोषणा करते हैं कि 'उत्पन्न हुए सब प्राणियों मे आत्मरूप से मै ही अवस्थित हूँ' वे मनुष्यों मे भेदबुद्धि की कल्पना कैसे कर सकते हैं क्योंकि वही तो अज्ञान है और उसको मिटाना ही उनका लक्ष्य था। "गीता अध्याय १८ श्लोक २० मे भगवान् ने कहा है, "(साधकः) विभक्तेषु सर्वभूतेषु येन (ज्ञानेन) अव्ययं अविभक्तं एकं भावं ईक्षते, (हे अर्जुन! त्वं) तत ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि" साधक विभक्तहुए सब भूतप्राणियोंमे जिस ज्ञान के द्वारा अविभक्त, अव्यय, एक परमात्मभावको देखता है, हे अर्जुन! उसीको तू सात्विक ज्ञान समझ।

जगत् की भिन्न आकृतियों मे अभिन्न परमात्मा का दर्शन ही मनुष्यमात्र का लक्ष्य है। परमात्मा का यह विशुद्ध ज्ञान प्रकृति के हंसवर्ण और उसकी साम्य अवस्था मे ही प्रतिफलित होता है। आदि कृतयुग[1] मे सभी मनुष्यों की प्रकृति का एक हिंसवर्ण था और जन्म ही से सबकी प्रकृति मे था साम्य। सुतरां तब एक ही वर्ण और एक ही आश्रम था। "आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः" भा० ११-१७-१०। प्रकृति शुद्ध्यर्थ क्रियाकलाप या कर्मविधान की आवश्यकता न होने के कारण तब केवल प्रणव अर्थात् 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' ही वेद था 'वेदः प्रणव एवाग्रे'। परन्तु नई चीज सदा नई नहीं रहती, कालान्तर मे वह मलिन होजाती है। वस्त्र की मलिनता तन से ही आती है कहीं बाहर से नहीं, इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर के गुण-कर्म के कारण मानवीय प्रकृति की हंसता नष्ट होगई और उसकी अवस्था भी सम से विषम होगई। हंस

१—कृतयुग=सतयुग।

वर्ण का अभिप्राय हंस के श्वेतरंग से है। सतोगुण का रंग श्वेत माना गया है। अतएव शुद्ध सात्विक प्रकृति ही हंस वर्ण है और साम्यावस्था है गुणवृत्तिहीन प्रकृति की निष्क्रिय समाधिस्थ अवस्था। मनुष्य की आकृति के पीछे उसकी प्रकृति छिपी रहती है और जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसीके अनुसार उसकी आकृति नाचा करती है। यह जो प्रकृति है यही तत्तत् मानव का कारण या लिङ्गदेह है, इसीको स्वभाव भी कहते हैं। चातुर्वर्ण्य का सम्बन्ध जीव के लिङ्गदेह या उसकी प्रकृति के रंग से है और चार आश्रमों का सम्बन्ध है गुणभेद के कारण प्रकृति किम्वा चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से। जीव की प्रकृति जब हंसता और समता से च्युत होगई तो अच्युत भगवान् के साथ जीव का सीधा सम्बन्ध विच्छिन्न होगया और उसकी प्रकृति मे भी कई वर्ण और कई आश्रम विभाग होगये। परमात्मा के साथ जीव के उस सम्बन्ध को फिर से जोड़ना ही योग है और व्यक्तिगत आधार एवं चित्त की अवस्था के भेद से प्रकृति की हंसता और समता को प्राप्त करने के लिये जो उपाय या साधन बताये गये हैं वही वर्णाश्रमविभाग का तात्त्विक रहस्य है। हंस और सम के लाभ के लिये पात्रभेद से जो उपाय या कर्तव्य कर्म वेदों मे निर्दिष्ट है वही हिन्दू का धर्म. कर्म एवं शास्त्र है। जो वर्णाश्रम है वही सनातनधर्म है और जो सनातनधर्म है वही वर्णाश्रम है। संक्षेप मे सारांश यह निकला कि हिन्दूसमाजके शास्त्रोक्त चातुर्वर्ण्यविभाग का मुख्य उद्देश्य है मानवीय प्रकृति के रंगों या वर्णों को मिटा देना. चतुराश्रमों का उद्देश्य है चित्त की बदलती हुई विषम अवस्थाओं को मिटाकर प्रकृति मे साम्यावस्था की नित्य प्रतिष्ठा करना और

वर्णाश्रमानुयायी वेदोक्त कर्मकाण्डों का उद्देश्य है कर्म के पार पहुँचकर नैष्कर्म्यसिद्धि लाभ करना। प्रत्येक स्वीकृति है स्वीकृत के त्याग के लिये। वर्ण वर्णके त्याग के लिये, आश्रम आश्रमके त्याग के लिये, वेद वेदके त्यागके लिये, कर्म कर्मके त्याग के लिये, धर्म धर्मके त्याग के लिये, विधि-निषेध विधि-निषेधके त्याग के लिये और शास्त्र शास्त्रके त्याग के लिये। यही कारण है कि शास्त्रों मे जहाँ एक ओर वर्ण, आश्रम, वैदिक धर्म और कर्म मे बहुत अधिक जोर दिया गया है वहीं दूसरी ओर इनके विरुद्ध वचन भी मिलते हैं। "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"—गी० २-४५। हे अर्जुन ! वेद त्रिगुण-विषयवाला है, तू निस्त्रैगुण्य हो जा। "कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते—भा०" कर्म से छुटकारा पाने के लिये ही वेद मे कर्तव्य कर्म का विधान किया गया है। आत्मरत के लिये कहा है, को विधिः को निषेधः। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" अर्जुन ! सब धर्म छोड़कर एक मेरे ही शरण जा। "आत्मानमात्मना साक्षात् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्। देहजात्यादिसम्बन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान्॥ वेद-शास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्"। ब्रह्मविद्योपनिषद् मं० २९-३०। आत्मा के द्वारा आत्मा को साक्षात् निश्चल ब्रह्मरूप जानकर वर्णाश्रम के समस्त चिह्नों के सहित देह और जाति के सम्बन्धों, वेदशास्त्रों तथा और भी जो कुछ है सबको पैर की धूलि के समान त्याग देना चाहिये। धन्य हिन्दूधर्म और हिन्दूशास्त्र। अपने अनुयायी को वह चिरकाल किसी बन्धन मे जकड़ कर नहीं रखता। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि विश्व के अन्य धर्मो मे सनातनधर्म के समान कठोर नियम भी नहीं हैं। मानवजीवन की ऐसी कोई भी हलचल या

चेष्टा नहीं जिसमे सनातनधर्म कुछ न कुछ प्रतिबन्धन लगाता हो। परन्तु जितने भी प्रारम्भिक कठोर नियम हैं वे सब हैं चिकित्सा के रूप मे प्रकृति को स्वस्थ और रोगमुक्त करने के लिये, बद्धजीव को और भी अधिक बन्धन मे जकड़ने के लिये नहीं; नियमों का इतना ही प्रयोजन है कि जैसे डाक्टर हाथ-पैर की टूटी हड्डी को बैठाने के लिये प्लास्टर अर्थात् वज्रलेप चढ़ाकर अंगसंचालन मे नियन्त्रण लगा देता हैं। वस्त्र स्वच्छ होगया तो मल के साथ ही साबुन भी धुल गया। जीवन को क्रम से गढ़ते-गढ़ते अन्तमे उसे सर्वबन्धनमुक्त आदर्शमानव परमहंस-सन्यासी बनाकर सनातनधर्म उसके उपर से अपना सम्पूर्ण प्रतिबन्ध हटा लेता है। विश्व को आत्मस्वरूप माननेवाला सन्यासी शिखां उत्पाट्य यज्ञोपवीतं स्वाहा इति, ऐसा कहता है। वह संसार मे आत्मा बनकर रहता है; आत्मा की न कोई जाति है, न वर्ण है, न आश्रम है और न है उसका कोई अपना-पराया क्योंकि एक अभिन्न आत्मा ही सबमे समानरूप से व्याप्त है। इस प्रकार भीतर से मनुष्य की प्रकृति को बदलकर संसार मे समानता की प्रतिष्ठा कीगई है। भारत की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार समानता के उद्देश्य से जो वर्णविहीन समाज स्थापित करने की प्रतिज्ञा करती है वह उसका बहिरंगम प्रयास है और जबतक मनुष्य की आकृति एवं प्रकृति मे प्रत्यक्ष भेद विद्यमान है, उसमे सफलता नहीं मिल सकती। लौह और ताम्रमय पात्रों मे व्याप्त धातु को बदलकर जबतक सोना नहीं बना दिया जाता तबतक बाहर सोने का पानी चढ़ा कर उनमे दिखाऊ एकरंगता लाने से कोई लाभ नहीं, कलई छूट जाने पर आखिर लोह की काली और तामे की लाली छिपाई नहीं जा सकती। एक भेद मिटेगा, दूसरे अनेक भेद

पैदा होजायेंगे। हिन्दूधर्म के जो भी भग्नावशेष चिह्न समाज मे पाये जाते हैं वे भी लुप्तप्राय हो जायेंगे और धार्मिक मर्यादा भङ्ग होगी। वर्णाश्रम, सन्ध्या-गायत्री और शिखा-सूत्र आदि के चिह्न इस जाति की काया से जब मिट जायेंगे तब कालान्तर मे आगामी सन्तति को यह विश्वास दिलाना भी कठिन हो जायेगा कि संस्कृत की अपार ग्रन्थराशि इसी जाति का साहित्य है, क्योंकि ग्रन्थों मे सर्वत्र इनकी चर्चा है। भारतीय मुसलमान भूल ही तो गया? आज वह कब स्वीकार करता है कि गीता-रामायण उसके पूर्वजोंका साहित्य है। चातुर्वर्ण व्यवस्था मिटाकर ऐक्यस्थापन का यह प्रयास ऐसा ही है जैसे रोगोपशम के पूर्व औषधि-सेवन का त्याग। तथापि राजसरकार का चाहे जो भी सिद्धान्त हो रहा आये, परन्तु जो लोग धर्मध्वजी न बनकर बड़ी सरकार के भरोसे सच्चे हृदय से व्यक्तिगतरूप से वर्णाश्रमधर्म का पालन करना चाहते हैं उनकी बिलकुल कोई क्षति नहीं। कौन इसके लिये मना करता है कि ब्राह्मण शिक्षाविभाग मे, क्षत्रिय सेनामे एवं वैश्य खेत मे काम न करे। तत्तत् कार्यों के लिये अपने मे योग्यता का विकास करना चाहिये। कोई भी सरकार व्यक्ति के योग्यता की उपेक्षा नहीं कर सकती। कर्तव्य पर जोर न देकर आजकल समाज मे लोग बाह्याचार पर अधिक जोर देने लगे हैं। किसी भी दल की सरकार बने, समाज मे आज जैसी पक्षपात-पूर्ण संकीर्ण मनोवृत्ति, चरित्र का दारिद्र्य और कर्म की संकरता आगई है उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि देश की शिक्षा ब्राह्मणों के, सैन्य और शासन क्षत्रियों के तथा व्यापार वैश्यों के हाथ मे सोलहों आना सौंपदेना सर्वथा निरापद न होगा। स्मरण रहे वर्णविभाग गुण-कर्म

दोनों का विचार करके हुआ था। समाज मे वर्णविद्रोह की भावना इसलिये प्रबल होरही है कि अधिकांश लोगों मे तदनुकूल कर्म का अभाव देखा जाता है। जो लोग सच्चे अर्थ मे स्वधर्मरत हैं उनका इस आलोचना से कुछ नहीं बिगड़ता, उल्टे सावधान होकर वे इससे लाभान्वित होंगे। वर्णाश्रम की स्थापना निर्विघ्न लोकव्यवहार संचालन के साथ ही परमेश्वर की उपासना के उद्देश्य से हुई थी। सामाजिक दृष्टि से इस युग मे भी जो लोग वर्णानुसार आचरण करके आजीविका चलाना चाहते हैं उनके लिये कोई बाधा नहीं। समाजरचना सवर्ण हो या अवर्ण सभ्यदेश मे योग्य व्यक्तियों का सदा ही समादर होगा। वर्तमान समाजरचना का आधार केवल आर्थिक है। आजकल सब लोग सब काम पैसे के लिये करते हैं। मन्दिर के भगवान् की पूजा पैसे के लिये, भागवतपाठ पैसे के लिये, सब काम केवल पैसे के लिये। वर्णाश्रमविभाग मे आर्थिक और आध्यात्मिक उभय दृष्टियों का ही सन्निवेश है। वर्णधर्म का बाह्यरूप लोकसंग्रह की भावना से विशिष्ट पुरुषों के द्वारा रचा गया है, उसमे कभी-कभी ग्लानि आजाती है। वर्णाश्रम स्वाभाविक धर्म है, इसे सामाजिक धर्म बनाने का प्रयास वैदिक ऋषियों का है। परमेश्वर के द्वारा गुणकर्मविभागशः सृष्ट चातुर्वर्ण्य से उसका पार्थक्य स्पष्ट समझ लेना चाहिये, अन्यथा विद्वानों को भी इस सम्बन्ध मे भ्रम हो सकता है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" गीता ४-१३। भगवान् कहते हैं, प्राणियों के पूर्वजन्मार्जित गुणकर्म के भेद से चार वर्ण मुझ परमात्मा के द्वारा रचे गये हैं। परमेश्वर ने विश्वभर की प्रकृति मे यह विभाग किया है, सृष्टि के इस

अलौकिक व्यापार को तात्त्विक दृष्टि से समझना चाहिये। "न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः" ॥ गी० १८-४०। पृथ्वीमे, स्वर्ग मे अथवा देवताओं मे ऐसी कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनगुणों से मुक्त हो। जहाँ गुण है वहाँ स्वभाव का होना अवश्यम्भावी है और स्वभाव मे ही वर्ण होता है। अतएव शास्त्रदृष्टि से वर्ण का बहुत व्यापक अर्थ है और वह चराचर तक मे माना गया है। महाभारत एवं ब्राह्मणग्रन्थों मे इसका विशद विवेचन मिलता है। जैसे छन्दों मे गायत्री; वेदों मे साम; देवताओं मे अग्नि; मनुष्यों मे ब्राह्मण; पशुओं मे अज; पक्षियों मे चक्रवाक् और कपोतादि; सर्पों मे मुक्ता, रूपा, सुवर्ण और कपिलरंग वाले साँप; वृक्षों मे पिप्पल, पलाशादि; राशियों मे कर्क, वृश्चिक और मीन; मासों मे मार्गशीर्ष और ऋतुओं मे कुसुमाकर[1] का वर्ण ब्राह्मण माना गया है········इत्यादि।

शास्त्रका मर्म हृदयङ्गम करने के लिये ब्राह्मण-क्षत्रिय शब्दोंका समाजमे प्रचलित रूढ़ि अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से तत्त्वबोध मे भ्रम होजाना स्वाभाविक है। परमात्मा कोई पक्षपाती नहीं है। उस कुलाल[2] के हाथ मे श्वेत, लाल, पीली, काली जिस वर्ण की मिट्टी लोगों ने ले जाकर दिया उसने उसी वर्ण का देहघट गढ़ दिया और आकाशवत् स्वयं सबमें समानरूप से व्याप्त होगया। ईश्वरकृत वर्ण मे जिन चार रंगों का संकेत है उसका तात्पर्य प्राणियों के कारण या लिङ्गदेह के वर्ण से है, स्थूलदेह के रूप-रंग से उसका कोई

१—कुसुमाकर=वसन्तऋतु, चैत-वैसाख।
२—कुलाल=कुम्हार।

सम्बन्ध नहीं। प्राणियों की वह प्रकृति या लिङ्गदेह पूर्वजन्म मे उपार्जित गुण और कर्म के उपादान से बना होता है। संसार मे यात्रा करनेवाला जीव विधि के कार्यालय मे जिस श्रेणी का मूल्य चुकाया उसी श्रेणी का टिकट उसे मिल गया। उस लिंगदेह को लेकर ही जीव एक देह को छोड़कर जाता और उसी के साथ दूसरे देह मे प्रवेश करता है। सावित्री ने जब सत्यवान् की आत्मा का अनुगमन किया तो महाभारत वनपर्व मे उसका वर्णन आता है। "अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्। अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥" पाश के द्वारा बाँधकर अपने वश मे आये हुए अंगुष्ठमात्र पुरुष को सत्यवान् की काया से यम ने बलपूर्वक आकर्षण किया। प्राणी का यह जो अण्डाकार, शिवलिंग के सदृश, अंगुष्ठमात्र, कारण शरीर है वह वर्णभेद से चार प्रकार का होता है। जिस व्यक्ति की प्रकृति मे सतोगुण की प्रधानता है उसके लिङ्ग-देह का वर्ण श्वेत, जिसका सत् रजसे अनुविद्ध है उसका वर्ण लाल, जिसका सत्, रज-तम दोनों से अनुविद्ध है उसका वर्ण पीत और जिस प्रकृति का सत् अंश सर्वथा समावृत एवं तम ही जिसमे प्रधान है उसके कारण शरीर का श्याम या कृष्ण-वर्ण होता है। यह निश्चय ऐसा ही है, इसमे कोई सन्देह नहीं, तत्त्वदर्शीगण इसका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। शास्त्र की भाषा मे प्रकृति की इस शुक्लिमा को ब्राह्मण, रक्तिमा को क्षत्रिय, पीतिमा को वैश्य और नीलिमा या कालिमा को शूद्र कहते हैं। "ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणाम् असितस्तथा॥" म० शा० मो० अ० १८८-५। लोक मे भी मुख्यतः उक्त चार ही वर्ण की मृत्तिका पाई जाती है। निःसन्देह प्रकृति का यह वर्ण जन्मगत है। लोकमे आकृति

की प्रत्येक चेष्टा के अन्तराल मे प्रकृति का जन्मगत प्रधान गुण प्रेरक रहता है। आदि के तीन वर्णों मे सत् का अंश कुछ न कुछ रहता है, सत् ही ज्ञान या विद्या है, ज्ञान ही जीव को ऊपर उठाता है, इसलिये वेद त्रिवर्णों को द्विजत्व प्रदानकर वैदिक कर्म का अधिकार देता है। शूद्रप्रकृतिका सदंश इतना अभिभूत रहता है कि उसके क्रिया की सम्भावना बिलकुल नहीं रहती सुतरां उसके द्विजत्व संस्कार का विधान नहीं।

वर्तमान देह रहते प्रकृति का जन्मगत वर्ण और प्रधान गुण प्रायः बना रहता है परन्तु इस विषय मे कोई एक ही कठोर नियम नहीं है। कुछ जीव आरोही[1] होते हैं और कुछ अवरोही[2] होते हैं। गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष के कारण जन्मान्तर मे तो वर्ण बदल ही जाता है, विशेष चेष्टा से वर्तमान जीवन मे भी बदल सकता है। सच पूछा जाय तो प्रकृति की प्रेरणा से कर्म और कर्म के द्वारा प्रकृतिका परिवर्तन ये दोनों कार्य युगपद निरन्तर चलते रहते हैं। वर्तमान देह के गिर जाने के तुरन्त बाद जिस वर्ण का लिङ्गदेह जीव को मिलेगा उसके गढ़ने मे इहजीवन के प्रत्येक कर्म का हाथ है। प्रकृति से कर्म होता है और कर्म से प्रकृति बनती एवं बदलती रहती है।

विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरु और पाद इन चार पृथक्-पृथक् अंगों से गुणभेदानुसार चारों आश्रमों के सहित ब्राह्मणादिक चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई है। "मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्" ॥ भा० ११-५-२। मुख से सत्त्वप्रधान ब्राह्मण,

१—आरोही=निम्न योनियों से ऊपर की ओर जाने वाले।
२—अवरोही=ऊपर की योनियों से गिरकर नीचे जानेवाले।

भुजाओं से सत्-रज प्रधान क्षत्रिय, जंघों से रज-तमप्रधान वैश्य और चरणों से तमःप्रधान शूद्र उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार विराट् पुरुष के जघन से गृहाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षस्थल से वनवास और शीर्ष से सन्यास आश्रम की उत्पत्ति हुई है "गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम। वक्षस्थानात् वने वासो न्यासः शीर्षणिः संस्थितः॥" भा० ११-१७-१४। वर्णाश्रमों मे जो जिस अंग से उत्पन्न हुआ है जन्मभूम्यनुसारिणी उसकी वैसी ही प्रकृति होती है। प्राणियों के स्वाभाविक आचरण से वर्णाश्रम पहिचाना जाता है 'आत्माचार लक्षणाः'। प्रकृति का जन्मगत जो वर्ण और जिस-जिस के स्वभाव मे जो गुण प्रधान है तदनुसार ही प्राणी कर्म करता है। कर्म से प्रकृति या चित्त की अवस्था बदलती है और इधर काल स्थूलाकृति को भी बदल देता है। सुतरां वर्णाश्रम हिन्दू का ही नहीं प्राणिमात्र का स्वाभाविक सनातनधर्म है, प्राकृतधर्म की उपेक्षा कोई नहीं कर सकता। कोई माने या न माने स्वभाव तो अपना काम करता ही है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के निगूढ तत्त्व को देखकर उसीके अनुसार सामाजिक व्यवस्था का भी स्वप्न देखा था। यही आर्यावर्त और आर्यों की विशेषता है। लोक मे वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा मानवीय क्रियाकलाप को संयत और दिव्य करके आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त किया गया है। आश्रम के द्वारा मनुष्यकी आयुको चार हिस्सों मे बाँटकर जीवनका तीन अंश त्याग-तपस्या के लिये और केवल एक अंश गृहस्थाश्रम भोग के लिये निर्दिष्ट है।

पशु-पक्षी प्रभृति जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं उनकी आकृति और प्रकृति के मध्य मे अहंकार और मन का अभाव होने के कारण वे सब जन्म से स्वभावस्थ हैं। उनकी समस्त

प्रवृत्तियाँ सीधे स्वभाव से आती हैं। मन न होने के कारण वे नवीन कर्मों का आरम्भ नहीं कर सकते। उनकी चेष्टायें बँधी-बँधाई हैं। वहाँ स्वभाव विकृत होने की सम्भावना ही नहीं। स्वाभाविक कर्म के लिये परमात्मा किसी को कोई दण्ड नहीं दे सकता, क्योंकि प्राणियों का स्वाभाविक कर्म परमेश्वर के द्वारा ही नियत किया गया है। स्वभावनियतकर्म न पाप है, न पुण्य है। व्याघ्र गो-ब्राह्मण को मारकर हत्या का भागी नहीं होता और वृषभ जिस योनि से पैदा होता है उस योनि मे गर्भाधान कराकर नरक नहीं जाता। जो जिसका स्वभाव है वही उसका सनातनधर्म है। जो स्वभाव मे स्थित होकर सब काम करता है उसके लिये विहित और अविहित कर्म का नियामक शास्त्र निष्प्रयोजन है। इसी दृष्टि से गीता कहती है—"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥" गी० १८-१७। जिसको अहंकारभाव नहीं, जिसकी बुद्धि कर्म और फल मे लिप्त नहीं होती वह इन लोकों को मारकर भी न तो किसी को मारता और न बन्धन मे पड़ता। पशु-पक्षी नियत चेष्टाओं से सूच्यग्र भी इधर-उधर विचलित नहीं होते इसलिये उन्हें कर्म मे अधिकार नहीं। कर्ममे अधिकार के लिये मन चाहिये, वह मनुष्य मे है और इसी मन के कारण वह मानव है। परमेश्वर ने मनुष्य को मन देकर उत्थान और पतन की कुंजी उसके हाथ मे दे दिया है। एक पशु के स्वभाव मे दूसरे पशु के स्वभाव से बहुत कम अन्तर है। परन्तु कर्माधिकार के कारण एक मनुष्य के स्वभाव मे दूसरे मनुष्य के स्वभाव से आकाश-पाताल का अन्तर होगया है। इसके अलावा मनुष्य पशु के सदृश स्वभावस्थ जीव नहीं है और यही है मानवजीवन की सबसे बड़ी गुत्थी।

मानवीय आकृति और प्रकृति के मध्य मे मन, तत्सम्भूत कामनायें, विकार, संस्कार और अहंकार की स्थिति है। ये जीवसृष्टि हैं, अतः जीव ही इनको मिटा सकता है, परमेश्वर सर्व समर्थ होते हुए भी जीव के राज्य की इस सीमा मे कोई हस्तक्षेप नहीं करता। मनुष्य को ईश्वर की प्रेरणा स्वभाव मे मिलेगी और स्वभाव मे जाने के लिये उसे मन, वासना, संस्कार, विकार और अहंकार के स्तर को भेद करना होगा। यही मानव जीवन की कठिन समस्या है। स्वभाव की प्रेरणा मनुष्य मे मन और अहंकार से छनकर आती है। प्रत्येक मानव यदि अपने-अपने स्वभाव के अनुसार काम करने लग जाय तो उसका काम बन जाय। परन्तु साधारणतः मनुष्य को अपने स्वभाव का पता ही नहीं चलता, उसके प्रायः सब काम मन और अहंकार की प्रेरणा से होते हैं, यही उसका बन्धन है एवं इसीलिये उसके जीवन मे गुरु और शास्त्र के अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है। स्वभाव के अनुसन्धान की कुंजी व्यक्ति के हाथ मे देना ही मानवजीवन मे वर्णाश्रम के सिद्धान्त की यथार्थ उपयोगिता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब मन और अहंकार मानव के आत्मोत्कर्ष मे इतने अधिक बाधक हैं तो ईश्वर ने मानवदेह मे इनको दिया ही क्यों? मनविहीन पशुओं के अनन्त प्रकारों मे मनुष्य भी क्यों न एक प्रकार बनाया गया? इसका उत्तर इतना ही है कि पशुस्तर के बाद सुषुप्ति और अज्ञान के भीतर से जीव का उत्कर्ष और विकास सम्भव न हुआ। परमेश्वर जीवको अपने ब्रह्मपद मे बैठाना चाहता है, बताना चाहता है उसको अपना गुह्य रहस्य और इसलिये वह मन देकर मानवीय चेतना के स्तरमे उसकी आँखें खोल देता है। सिपाही को सोचने-विचारने का समय

नहीं, उसको काम है आदेशानुसार चुपचाप केवल गोली चलाना, परन्तु सेनापति को समराङ्गण के कार्यक्रम का पूरा बोध रहता है। बालचेतना मे प्रकृति बोध नहीं देती और तबतक प्रकृतिमाता को उस चेतना का सम्पूर्ण भार अपने उपर लेना पड़ता है, बड़े होने पर क्रमविकास मे बोध का उदय होना अनिवार्य है और तब बच्चा अपने पैरों चलना सीखता है। राजा की नीति के सम्बन्ध मे निम्न कर्मचारियों के समान राजा के उच्च कर्मचारी अन्धकार मे नहीं रक्खे जाते। राजा अपने विश्वासपात्र अधिकारियों को हृदयकी सब गुह्य बातें बताकर उनको कर्म का विशेषाधिकार प्रदान करता है। मनुष्य परमेश्वर का विश्वासपात्र अधिकारी पुत्र है। किन्तु अधिकार का दुरुपयोग करने पर राजा उच्चाधिकारियों को भी दण्ड देता है। मन के भीतर से ही मानव का देवत्व की ओर अग्रसर होना सम्भव है। देह रहते मन और अहं को सर्वथा मिटाया भी नहीं जा सकता। ये मिट जाँय तो कर्म न हो। साथ ही यह भी सत्य है कि मानव जबतक अहं और मनके चलाने पर चलता है, उसे परमसत्य के दर्शन नहीं हो सकते। इन उभय यन्त्रों को परमात्मा के हाथ मे समर्पण कर इनसे काम लेना पड़ेगा। कामनाशून्य मन और अहंभावशून्य हृदय मे स्वभावज कर्म की प्रेरणा ठीक-ठीक प्राप्त होती है। मानुषी प्रकृति की ये जो उलझनें हैं इन्हीं से बचने के लिये परमेश्वर ने अपने श्वासों से सनातन वेदज्ञान का प्रकाश किया है और उस वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा के लिये परमेश्वर को स्वयं भी कभी-कभी मनुष्य के बीच मे प्रकट होना पड़ता है। पशुमे जैसे मन नहीं वैसे ही यह करो और यह न करो का शास्त्रभी उसके लिये नहीं। प्रकृति मे परमात्मा की विशुद्ध प्रचोदना ही वेद है और उसका

सार है वर्णाश्रमधर्म।

प्रकृति त्रिगुणमयी होने के कारण यद्यपि दैवी और आसुरी भाव सभी मनुष्यों मे हैं किन्तु अविद्याग्रस्त जीव अज्ञान को ही ज्ञान मानने के कारण आसुरीभावों को स्वजीवन का लक्ष्य बना लेता है, उनको दूर करने का प्रयत्न नहीं करता। इसलिये भगवान् इस लोक मे दैव और आसुर भेद से मनुष्यप्राणियों के दो भेद बताते हैं "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च" गी० १६–६। आसुरीसम्पत्ति के लोग देह को ही आत्मा मानते हैं। इन्द्रियों का राग-भोग उनका चरम उद्देश्य है और इसी के लिये उनके समस्त अध्यवसाय[1] होते हैं। देह मे अहं-भावको मूलबद्धकर वे कहते हैं "ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी" गी० १६–१४। सुतरां इन देहात्मवादी लोगों मे वर्णाश्रम-विभाग के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार समाज का वर्गीकरण न कोई आवश्यक है और न सम्भव। आत्म-दृष्टि से कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का प्रश्न उनके सामने नहीं उठता।

वैदिक ऋषियों ने क्षर देह से परे अविनाशी आत्मतत्त्व का पता लगाया और मनुष्यजातिको बताया कि इस देह मे वही हम हैं एवं देहपात के पूर्व उसका अपरोक्षानुभव[2] करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। इसी उद्देश्य को सामने रख-कर उन्होंने अपने समाज की रचना किया। मनुष्यजीवन एवं दृश्य जगत् और कुछ नहीं, केवल आत्मानुभव की अनिवार्य सामग्री है। अस्मिन् लोके यावत् पदार्थ परमात्मा के लिये हैं। एक वस्तु भी निरर्थक नहीं। आत्मानुभव की इस साधना मे

१—अध्यवसाय=उत्साह, निश्चयपूर्वक दृढ़प्रयत्न।

२—अपरोक्षानुभव=प्रत्यक्षज्ञान।

जिस व्यक्ति के लिये जितने समय की आवश्यकता है. ईश्वर ने आयु के रूप मे उस व्यक्ति के लिये गिन-गिन कर उतने ही दिन दिया है। इस साधना मे जन्म से जो जहाँ पर है वही उसके लिये सर्वोत्तम क्षेत्र है। दूसरे का स्थान लेकर उसके आसन मे बैठने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ भी है सबको परमात्मदर्शन मे सहायक बनाना है, इसीके लिये सब कुछ मिला है और यही उसकी उपयोगिता है। आत्मदर्शन चिदाकाश मे होता है। परन्तु चित्त का यह दर्पण मलिन है। जिस व्यक्ति के चित्त का मल धोने के लिये जिस युक्ति और जिस मसाले की आवश्यकता है वही उसके लिये साधन है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने व्यक्ति के चित्त को देखकर पात्रभेद से साधन की उसी युक्ति का वर्णधर्म के द्वारा निर्देश किया है। प्रकृति के द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ वही उस व्यक्ति का स्वभावज कर्म है। अस्तु, वर्णाश्रमधर्म व्यक्ति मे आत्मदर्शन की योग्यता उत्पन्न करने का साधनमात्र है।

घड़ी, लेखनी, मसिधानी प्रभृति जो चीजें जिस आकार की होती है उसकी रक्षा का बहिःकोश या ढक्कन भी उसी प्रकार का बनाया जाता है। ऋषियों ने जिस मनुष्य की अन्तःप्रकृति मे जो वर्ण देखा सामाजिक सुविधा की दृष्टि से बाहर भी उसको उसी वर्ण का मान लिया। मानवीय प्रकृति के अन्तःस्वरूप और उसकी स्वाभाविक अभिलाषाओं को वाह्यरूप देना ही वर्णाश्रमविभाग है, ईश्वरकृत प्रकृति के वर्णविभाग मे वैदिक ऋषियों की केवल इतनी ही कृति है। परिस्थिति से विवश होकर शरीर के द्वारा रुचिभिन्न कोई काम करना पड़े यह दूसरी बात है परन्तु इतना तो प्रायः सभी जानते हैं कि सब काम मे न तो सबको रस आता

और न सब काम सब आदमी कर ही सकते। इसमे पक्षपात का प्रश्न नहीं है। कोई आदमी छोटा-बड़ा भी नहीं; यदि यही देखना है तो आदमी से बड़े तो पेंड़ और पहाड़ होते हैं, हाथी आदमी से कई गुना बड़ा होता है। मै बड़ा तू छोटा, मै अच्छा तू बुरा, मै उत्कृष्ट तू निकृष्ट इन अज्ञानजन्य भावों को मिटाने ही के लिये वर्णाश्रमविभाग किया गया था, हृदयमे भेदबुद्धि की इस जड़ को मजबूत करने के लिये कदापि नहीं। जिसके बिना काम नहीं चल सकता समाज का ऐसा कोई भी आवश्यक काम उच्च या तुच्छ नहीं कहा जा सकता। पैर का एक लोम बिलकुल व्यर्थ मालुम पड़ता है, परन्तु जब कभी वह जड़ से टूट जाता है तब इतना बड़ा विस्फोटक[1] होता है कि उसकी व्यथा से सारे अंग अपना काम करना छोड़ देते हैं। पैर की एक अगुली सबसे क्षुद्र और निम्न अंग है, उसके कट जाने पर सारा शरीर टेढ़ा चलने लगता है। यह समाज भी एक शरीर है। विराट् पुरुष के चार प्रधान अंगों से ही वर्णाश्रम की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक प्राणी समाजरूपी सचर भगवद्विग्रह का एक आवश्यक अंग है। प्रत्येक अंग अपने-अपने स्थान मे सेवक और स्वामी दोनों है। जिसकी प्रकृति विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न है वह वाग्देवता अग्नि की उपासना कर वाणी के द्वारा शिक्षणकार्य करके समाज या परमेश्वर के विराट् शरीर की सेवा करता है। जो ईश्वर की भुजाओं का बल लेकर उत्पन्न हुआ है वह हाथके देवता इन्द्र की उपासना कर सामाजिक शासन और रक्षण का काम करता है। देह का मध्यभाग सर्वांगों का पोषण करता है, उरुप्रदेश वीर्यधारण का स्थान

१—विस्फोटक=फोड़ा या विषफोड़ा।

है। इसलिये जो विराट् के इस अंग से उत्पन्न है वह सामाजिक जरूरत की चीजों का उत्पादन बढ़ाने की सामर्थ्य रखता है। चरण से उत्पन्न व्यक्ति सारे समाज का बोझ लेकर चलता है। विशेषज्ञ पुरुषों के काम मे ऊपरी सहायता करना ही इस वर्ग का काम है "परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्"। चाहे जो काम जिस किसी का स्वभावज कर्म नहीं हो सकता और जो जिसका स्वभावज कर्म नहीं वह ईश्वर प्रीत्यर्थ कदापि नहीं। न उस कर्म से उस व्यक्ति को नैष्कर्म्य सिद्धि मिल सकती। कर्मकरना कर्म करने का उद्देश्य नहीं है। कोल्हू के बैल की तरह रातदिन चक्कर काटने मे भला किसे शान्ति मिल सकती है ? नैष्कर्म्य कर्म का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति सहजकर्म से ही सम्भव है। एकमात्र सहज कर्म ही अहंभाव-शून्य कर्म हो सकता है। अस्वभावज कर्म एक तो शुद्ध सम्पादन नहीं होसकता, हो भी तो उसमे अपने को भीतर से रस नहीं आयेगा, इसके अलावा जो जिसका स्वभावज कर्म नहीं वह उस काम को करके कर्तृत्वाभिमान से किसी प्रकार नहीं बच सकता। जिस काम को करके जिसे अहंकार होजाय समझ लेना चाहिये कि वह उस व्यक्ति का स्वभावज कर्म नहीं है। शूद्रप्रकृति को अध्यापन का काम दे दिया जाय तो वह इतना फूलेगा कि जमीन मे उसके पैर ही न पड़ेंगे। आँख देखकर, कान सुनकर, फूल सुगन्ध बिखेरकर कभी अहंकार नहीं करते। स्वभाव से नियत जिसका जो काम नहीं है समाज मे उस व्यक्ति के जिम्मे वह काम देने पर उसे वह ऐसे ही करता है जैसे अन्धा हाथ-पैर से किसी प्रकार आँख का काम निकालकर चलता है। देह के प्रत्येक अवयव अपना काम ठीक-ठीक करने से ही देही का मन प्रफुल्ल रहता है। इसी प्रकार विराट् पुरुष

ने अपने जिस अंग से जिस प्रकृति को उत्पन्न किया है तदनु-कूल कर्म के द्वारा ही वह प्रकृति परम पुरुष का प्रसाद प्राप्त कर सकती है। सुविधा प्रदान करने पर सब आदमी सब प्रकार की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं यह मूर्ख गधों का सिद्धान्त है। कोटि यत्न किया जाय आँख कैसे कान का काम कर सकती है ? दर्शन उसका स्वभाव होते हुए भी यदि आँख कभी नहीं देखती तो समझना चाहिये कि आँख के यन्त्र मे कुछ खराबी आगई है और उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। आम मे किसी कारण फल नहीं लगते और उसकी चिकित्सा करनी पड़े तो वह जब भी फलेगा आम ही फलेगा, रसाल मे कदली के फल कभी न लगेंगे। इसी प्रकार मनुष्यके स्वभाव मे भी कभी-कभी गड़बड़ी आजाती है। जैसे भगवान् कृष्ण ने समरभूमि मे स्वभावजकर्म से विरत अर्जुन के प्रकृति की चिकित्सा किया था। जिस प्रकृति मे बीजरूप से गानविद्या नहीं है कोटि सुविधा देने पर भी वह व्यक्ति गायनाचार्य नहीं हो सकता। सब मे सब प्रकार की योग्यता का अनुमान कर सबको सब काम सिखाना या सब प्रकार की शिक्षा देना ही तो वर्तमान शिक्षाप्रणाली की सबसे बड़ी त्रुटि है और इसका एक ही सुनिश्चित फल है सामूहिक बेकारी, सोई होरहा है। सबके शिर पर समानता का भूत सवार है और इसीलिये सब धान बाइस पसेरी कूती जाती हैं। जो सब करने जायेगा निश्चय वह कुछ नहीं कर सकेगा। कागच, कलम, मसी, घड़ी, पुस्तक, अन्न, वस्त्र, दूध, औषधि, जूता, टेबुल, कुर्सी, कपाट, ईंटा प्रभृति आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये। यदि इस सिद्धान्त को अपनाया जाय कि जिसको जो चाहिये वह उसका उत्पादन करले तो चाहे कोई कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो कोई

एक व्यक्ति कैसे इन कार्यों को कर सकता है ? सुतरां सामाजिक दृष्टि से व्यवहार मे कर्म का विभाग करना ही पड़ेगा। निश्चय उस विभाग का आधार योग्यता होगी और विरंचि सम गुरु मिल जाँय तो भी सबमे सब प्रकार की विशेष योग्यता नहीं पैदा करा सकते, अतएव विशेष-विशेष व्यक्ति के लिये एक-एक प्रकार के शिक्षा और काम-काज की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। यदि विज्ञान के इस युग मे कोई ऐसा यन्त्र निकल आये कि जिसके द्वारा इस बात का यथार्थ पता लगाया जासके कि किस बालक की मूलप्रकृति मे किस गुण के बीज विद्यमान हैं तो उससे वर्णविभाग का प्रयोजन भी सिद्ध होगा और वर्णाश्रमीय वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन भी संसार मे कोई भी प्राणी बेकार नहीं पैदा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति मे जन्म से कुछ न कुछ गुण देकर भगवान् ने उसको इस संसार मे भेजा है। स्वभावजधर्मशून्य कोई चीज नहीं और वस्तु का स्वभाव जन्म से ही आता है। जन्म से स्वभाव, स्वभाव से गुण, गुण से कर्म और गुण-कर्म दोनों से वर्ण यही शास्त्र का सिद्धान्त है। ऋषि पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने तो जन्मना सबको शूद्र कहा है "जन्मना जायते शूद्रः"। उपनयन संस्कार के समय व्यक्ति के मूलप्रकृति मे बीजरूप से विद्यमान गुण-कर्म को देखकर तब वे उसे द्विजत्व लाभ कराते थे और तभी उस व्यक्ति के वर्ण का निर्णय होजाता था। कहा है "संस्कारात द्विज उच्यते"। बीज को जान लेने से वृक्ष की जाति, उसके शाखा, पल्लव, फल, फूल सबका परिज्ञान अनायास हो सकता है। महर्षियों ने देखा कि मानव जाति, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्कर्ष के लिये विद्या, वित्त और बल इन तीन वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता है। कोई भी राष्ट्र इन तीनों

मे किसी भी एक की उपेक्षाकर आगे नहीं बढ़ सकता। विद्वान् के पालन और संरक्षण के लिये वित्त और वल की, वलवान् के लिये विद्या और वित्त की, वित्तवान् के लिये विद्या और वलकी, सबके लिये सबकी समान आवश्यकता है परन्तु सबमे सबकी समान योग्यता न देकर परमात्मा ने सबको परस्पर सबके आश्रित कर दिया है. अतः कोई भी व्यक्ति अपने को समाज का अधिकतम उपयोगी अंग मानकर अहंकार नहीं कर सकता। यदि सन्यासी सबको ज्ञान देता है तो गृहस्थ सन्यासीको खान, पान और सम्मान देता है। सच है संसार मे किसो के विना किसी का कोई काम नहीं चल सकता। विद्या, वित्त और वल ये तीन शक्तियाँ हिन्दू की तीन दिव्य मातायें हैं; सरस्वती, लक्ष्मी और काली के रूप मे ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय क्रम से इन तीनों की उपासना करते हैं। विशेष योग्यता की इन तीन श्रेणियों मे जो न आया उसका स्वभावतः एक चतुर्थ वर्ग बन गया, यही परिचारक, सहायक या मजदूर वर्ग है। सहायक के विना उक्त तीनों मे से किसी का भी काम निर्विघ्न नहीं चल सकता, अतएव मजदूरवर्ग समाज मे सदा रहा और आगे भी सदा रहेगा। समाज मे जब कोई कार्य आवश्यक होजाता है तो उसका कर्त्ता भी अवश्य होता है, चाहे उस काम को कोई भी करे यह एक अलग बात है।

समाज के किसी अपरिहार्य काम को अथवा उस कार्य के कर्ता को कोई हीन-दृष्टि से न देखे इसके लिये जनता मे आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। वाह्य किसी उपचार से अथवा कानून के वलपर मनुष्य की अज्ञानजन्य मनोवृत्तियाँ नहीं जा सकतीं। मान लीजिये एक विद्वान् आचार्य को अध्यापन कार्य से हटाकर सड़कपर गिट्टी कूटने का काम दे

दिया और मजदूर को विश्वविद्यालयों की विद्या पढ़ाकर पाठन कार्य सौंप दिया तो इससे क्या फायदा हुआ ? यदि लोगों का मन गिट्टी कूटने को हीन मनोवृत्ति से देखने का आदी होगया है तो कल वही मजदूरअध्यापक पण्डितमजदूरको उसी भाव से देखने लग जायेगा। यदि लोग अर्थाभाव के कारण गिट्टी कूटते हैं तो जो भी उस काम को करेगा उसीको अर्थाभाव हो जायेगा। इससे समाज सुधार कहाँ हुआ ? जब कि नगर की सफाई, मिट्टी की खोदाई, गिट्टी की कुटाई, बोझ की ढोवाई, वस्त्र की धुलाई प्रभृति कार्य समाज के लिये आवश्यक हैं, तब कोई भी करे किसी न किसी को तो समाज मे ये काम करने ही पड़ेंगे। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष सत्य है कि जिनको ये कर्म कुलपरम्परा से प्राप्त हैं वे जितनी अच्छाई और कुशलता से इन्हें कर सकते हैं दूसरा उतनी सुन्दरता से उन कामों को नहीं कर सकता। इसलिये क्यों न जिस कार्य को जो करता आरहा है उसीमे उसकी निष्ठा दृढ़ की जाय ? हाँ, उसके प्रति आत्मवत् सद्व्यवहार और उसकी अवस्था मे सुधार अवश्य करना चाहिये। गीता कहती है, सहजं कर्म कौन्तय सदोषमपि न त्यजेत्। जो अपना सहजात, परम्परा से प्राप्त, स्वभाविक कर्म है उसमे ऊपर से कुछ दोष भी दिखाई पड़े तो भी उसे सुआचरित परधर्म के लोभ से नहीं छोड़ना चाहिये। स्वकर्म के प्रति जनसाधारण की अश्रद्धा उत्पन्न कराकर शान्ति के बजाय समाज मे क्रान्ति फैलाना कहाँ की बुद्धिमानी है ? कोई नेता देखाने के लिये भले ही दो मिनट कुदाल चलादे, परन्तु वह सड़क पर ८ घंटे लगातार श्रम नहीं कर सकता।

प्रकृति ने जन्म से जिसके भीतर जो गुण दिया है और अवस्थाभेद से समय-समय पर और भी जो कुछ दिया करती

है प्रकृति की उसी देनको वैदिक समाजशास्त्रवेत्ताओं ने वर्णाश्रम के रूप मे सुव्यवस्थितमात्र कर दिया है। सबको सब प्रकार की शिक्षा के पीछे पड़कर अपनी शक्ति और आयु का अपव्यय नहीं करना चाहिये। क्या करें और क्या न करें इस प्रकार की कर्मविषयक जिज्ञासा जब जीवन मे पैदा हो तब सर्व प्रथम अपने हृदय के अन्तस्तल मे पैठकर हम अपने से यह प्रश्न करें कि हमारी प्रकृति संसार मे हमसे कौन सा काम कराना चाहती है। इससे परमात्मा की इच्छा और प्रकृति के गुण एवं स्वभावका कुछ आभास मिल सकता है। हृदय की यह ध्वनि वही सुनते हैं जिनकी प्रकृति शुद्ध है किन्तु, कठिनाई यह है कि जिनकी प्रकृति शुद्ध है उनकी प्रकृति भी सब समय शुद्ध नहीं रहती। इसके अतिरिक्त यह लोकालय योगियों की बस्ती नहीं है, हृदयनादश्रवण की कला से प्रायः सभी लोग अनभिज्ञ हैं। ऐसी स्थिति मे बाल्यावस्था से किसी व्यक्ति की मूलप्रकृति, स्वभाव, गुण और स्वकर्तव्य का यथार्थ बोध प्राप्तकर उसको उस कार्य मे नियुक्त कर देना मानव समाज की सबसे जटिल समस्या है। बड़े होने पर ही अपनी प्रकृति अपने को धोखा देजाती है, छोटे बच्चों की कौन कहे। अर्जुन ऐसा भगवान् का प्रियसखा अयन मौके पर अपने स्वभाव को खो दिया। योगेश्वर कृष्ण के १८ अध्याय गीता प्रवचन के बाद आत्म-स्मृति लाभकर उसकी प्रकृति पुनः स्वस्थ हुई। जैसे व्याधिसे अचेत वैद्य स्वयं अपने रोग का पता लगाकर अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता उसी प्रकार मोह से जिसका स्वभाव उपहत होगया है वह कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो अपनी प्रकृति मे परमात्मा की प्रेरणा सुनकर स्वकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता। अतएव जीवन मे गुरु और शास्त्र की अनिवार्य

आवश्यकता है। यद्यपि अध्यात्मपथ मे वाह्य गुरु और शास्त्र के भरोसे अधिक दूर अग्रसर होना संभव नहीं है किन्तु आरम्भ मे इसके सिवाय अन्य कोई चारा नहीं। जबतक आज्ञाचक्र मे परमात्मा की आज्ञा, अनुशासन या शास्त्रवचन स्पष्ट सुनाई न पड़े, वाह्यावलम्बन लेना ही पड़ेगा। परमेश्वर प्रत्येक की प्रकृति मे उसके कर्तव्य का निर्देश निःसन्दिग्धभाषा मे निरन्तर करता रहता है किन्तु जैसे रेडियो-यन्त्र अथवा वायुमण्डल मे कोई खराबी आजाने से वक्ता की आवाज साफ सुनाई नहीं पड़ती उसी प्रकार मन, अहंकार, संस्कार और गुणविकार के कारण मनुष्य के स्वभाव मे दोष पैदा होजाने से प्रकृति मे परमात्मा की प्रेरणा का सठीक पता नहीं चलता। इसीलिये अध्यात्मशास्त्र मे काम्यकर्म और सर्वकर्मफल के त्याग पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। वैदिक आचार्यों ने कर्त्तव्यविषयक इस गुत्थीको सुगमतासे सुलझाने के लिये सवर्ण माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न सन्तान का भी वही वर्ण स्वीकार कर उसके शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था दे दिया। योगदृष्टि के द्वारा वालक की मूलप्रकृति मे सूक्ष्मरूप से विद्यमान गुण-कर्म के वीज को देखने की सामर्थ्य जबकि जनसाधारण मे नहीं होती तो जन्मना वर्ण मानकर तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करने के अतिरिक्त अन्य उपाय ही क्या है? किसी भी जनसाधारण को और मुख्यतः वालक को अपने स्वभाव का पता तो रहता नहीं, जीव उसके अनुसार केवल कर्म करता है। अभिभावक हो या गुरु उसका पता तो किसी अन्य पुरुष को ही लगाना पड़ेगा। किसी के स्वभाव को जाने विना उसके स्वधर्म या कर्त्तव्यकर्म का यथार्थ वोध कदापि नहीं होसकता। संसार मे लगभग अढ़ाई अरब मनुष्य बसते हैं किन्तु किसी

भी एक व्यक्ति का चित्र एवं रक्त दूसरे के साथ पूरा मिलान नहीं खाता। व्यक्ति के रक्त और चित्र मे यदि कुछ समता है तो उसके माता-पिता के रक्त और चित्र से ही है। आधुनिक विज्ञान इस सत्य मे प्रमाण है। अस्तु, आकृति के साथ यदि माता-पिता की गुणमयी प्रकृति भी सूक्ष्मरूप से पुत्रको मिले तो इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है? होना ऐसा ही चाहिये और सम्भावना भी इसीकी अधिक है परन्तु कभी-कभी माता-पिता की प्रकृति से पुत्र की प्रकृति मे समता की अपेक्षा विषमता ही अधिक देखी जाती है, इसका कारण यह है कि पिता के वीर्य का आश्रय लेकर जो जीव जन्म ग्रहण करता है उसमे भौतिक तत्त्वों का अभाव होने के कारण माता-पिता की आकृति तो वह पूरी पाजाता है किन्तु प्रकृति तो पूर्व कर्मानुसार उसकी अपनी खुद की होने के कारण उसमे अन्तर पड़ जाता है। कर्म के कारण आरोहण[1] और अवरोहण[2] भेद से जीवों की उभयथा गति चल रही है। निम्न आत्मायें कभी-कभी राजस या तामस प्रकृति को लेकर ब्राह्मणाकृति मे और उच्च आत्मायें सात्त्विक प्रकृति को लेकर वैश्य या क्षत्रिय आकृति मे आजाती हैं। ऐसी अवस्था मे आकृति से प्रकृति का सामंजस्य बैठाने के लिये कर्म का आश्रय लेना पड़ता है। दिव्यज्ञानप्राप्त आचार्यगण उपनयन संस्कार के समय उपनीत के इस प्रकृति-वैषम्य का संकेतकर उसके मार्जन का उपाय बता देते थे अथवा वयोवृद्धि के साथ साधक स्वयं ही इस गड़बड़ी को समझकर प्रवल कर्म के द्वारा आत्मसंशोधन कर लेता था। जैसे मतंग मुनि चांडाल शरीर पाकर भी तपस्या के द्वारा ब्रह्मर्षि होगये। विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्रह्मत्वलाभ प्रसिद्ध

१—आरोहण=चढ़ना। २—अवरोहण=नीचे उतरना।

ही है। श्रीमद्भागवत मे महाराज ऋषभदेव के ८१ पुत्र तप और योग्यता के द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण होगये। जो जहाँ है वहीं स्वस्थान मे बना रहे अथवा ऊपर उठजाय इसके लिये शास्त्रों मे किसी के विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं है। कोई नीचे न गिरजाय इसलिये वर्णाश्रम धर्म से मनुष्य को जकड़ दिया गया है। निम्नवर्ण की आकृति मे आई हुई उच्चवर्ण की प्रकृति को आत्मोत्कर्ष के लिये उच्चवर्ण की आकृति मे आई हुई निम्न वर्ण की प्रकृति की अपेक्षा अधिकश्रम करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि भूलोक मे मिट्टी के देह का प्रभाव और प्रावल्य अधिक होता है। स्थूलदेह की चेतना मे जड़ता अधिक होने के कारण उसका परिवर्तन एवं दिव्यान्तर करना अधिक कठिन है, इसे साधकमात्र जानते हैं। उच्चवर्ण की आकृति पाने के कारण दैहिक चेतना मे यदि सतोगुण का अंश अधिक हो तो मन-प्राण की राजस और तामस प्रवृत्तियों को बलपूर्वक रोककर ऊपर उठने मे कष्ट कम होता है। परन्तु जो प्रयत्नशील संयमी नहीं है उसकी आकृति या प्रकृति उच्च हो या नीच वह संकरवर्ण यतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः की स्थिति मे पड़ा हुआ केवल पेट पालता है; उत्थान प्रयत्नसाध्य है, गिरने मे किसी को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो ब्राह्मण माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न है, जिसकी आकृति और प्रकृति उभय ही ब्राह्मण है वह भाग्यशाली है। कोई किसी भी वर्ण में उत्पन्न हो, इस जन्म मे या पर जन्म मे ब्राह्मण बनना ही सबका लक्ष्य होना चाहिये। सच्चे अर्थ मे ब्राह्मण बनना ही मानव-जाति का महत्तम आदर्श है, लिंगदेह से लेकर स्थूलदेह के परमाणु पर्यन्त सर्वाङ्ग जीवन ब्राह्मण हो जाना चाहिये। ऐसा ब्रह्मज्ञ पुरुष राम-कृष्णादि अवतारी पुरुषपुंगवों का भी पूज्य

और उनसे श्रेष्ठ है क्योंकि भगवान् भी धरा मे क्षत्रिय अर्थात् रजोगुणी प्रकृति को स्वीकार करके ही आता है। ऐसा इसलिये कि वह संसार मे काम करने आता है, आत्माराम या ब्रह्मज्ञान लाभ करने नहीं। कर्म रजोगुण से ही संभव है। सत्वं ज्ञानं से रजः कर्म का स्थान कभी ऊचा नहीं हो सकता। गीता मे कहा है "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" बुद्धियोग की तुलना मे कर्म अत्यन्त अवर है।

गीता कहती है "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि" पुरुष प्रकृति मे स्थित है। "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः" प्रकृति से सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण उत्पन्न होते हैं। इसीको भागवत मे कहा है 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः बुद्धेः' सत्त्व, रज और तम ये गुण बुद्धि के हैं। अथवा "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः जीवस्य चित्तजाः" सत्त्व, रज और तम गुण जीव के चित्त से उत्पन्न हैं। अस्तु, बुद्धि, प्रकृति या चित्त से उत्पन्न ये तीनों गुणमयी रस्सियाँ शरीरधारी, अव्यय पुरुष को देह मे बाँधती हैं "निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्" सत्त्व प्रकाश या ज्ञान है, रजः कर्म या प्रवृत्ति है, तमः अज्ञान या मोह है "सत्त्वं ज्ञानं, रजः कर्म, तमोऽज्ञानमिहोच्यते" किम्बा "प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव"। गुणवृत्तियों का अधिक विस्तार समझने के लिये गीता चतुर्दश अध्याय एवं श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध का पचीसवाँ अध्याय अवलोकन करना चाहिये। पुरुष का पुरुषार्थ है त्रिगुणमयी प्रकृति के बन्धन को छेदनकर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त करने मे। इस कार्य की सिद्धि कैसे हो, वर्णाश्रमविभाग मे इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है। हम प्रकृति की किस अवस्था मे पड़े हैं इसे वर्ण बताता है और हमे क्या होना है इसका विधान आश्रम

करता है। वर्ण शब्द से शास्त्र का तात्पर्य समझने मे भ्रान्ति न होजाय इसलिये इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिये कि ब्राह्मण का अर्थ है सात्त्विक प्रकृति, क्षत्रिय का सत् और रज मिश्रित प्रकृति, वैश्य का रज और तम मिश्रित प्रकृति एवं शूद्र का तत्वार्थ है तामसिक प्रकृति। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति मे तीनों गुण होते हुए भी जीवन का नेतृत्व कोई एक ही गुण करता है और प्रधान गुण जितनी मात्रा मे बढ़ जाता है उसी अनुपात मे अन्य दो गुणों की मात्रा कम होजाती है। जिसकी प्रकृति मे जो गुण प्रवल होता है उसकी वैसी ही बुद्धि होती है। स्वभाव से बुद्धि, बुद्धि से भाव, भाव से वृत्ति, वृत्ति से कर्म और कर्म से फलासक्ति एवं कर्तृत्वाभिमान का वन्धन—यही क्रम है। त्रिगुणमयी प्रकृति के इस त्रिकोण मे जितनी ही मात्रा मे एक कोण वड़ा होजाता है, दूसरे कोण उसी अनुपात मे कम होजाते हैं। यदि इस त्रिभुज की तीनों रेखायें और तीनों कोण सम होजाँय अर्थात् अपनी प्रकृति मे तीनों गुणों की मात्रा समान होजाय तो प्रकृति सम होकर समाधि लग जाती है और तब उसमे किसी प्रकार की वृत्ति नहीं उठती। प्रकृति की साम्यावस्था ही गुणातीतावस्था है। इस प्रकृति को पाकर पुरुष मुक्त होजाता है। परन्तु प्रकृति मे यह निष्क्रिय अवस्था आये कैसे ? स्वभाव से गुण और गुण से कर्म का प्रवाह इतने वेग से वह रहा है कि इस तेज धार को बाँधना बड़ा ही कठिन है। कर्म किये विना कभी कोई एक क्षण नहीं रह सकता "नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"। इस सम्बन्ध मे कौशल की बात एक यह है कि जिसकी प्रकृति मे जन्म से जो गुण प्रवल होता है तदनुकूल कर्म करते रहने से कालान्तर मे प्रकृति का वह बढ़ा हुआ गुण क्षय होकर प्रकृति स्वतः सम होजाती

है। अपना स्वभावज गुण और कर्म ही प्रकृति की साम्यावस्था को प्राप्त करने का सुलभ साधन है। इसीलिये गीता मे स्वभाव-नियतकर्म पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। स्वभावनियत कर्म का यह अर्थ कदापि नहीं कि मनुष्य स्वभावज कार्य के अतिरिक्त शरीर से दूसरा कोई काम कर ही नहीं सकता। यदि कोई यह कहे कि हम हाथ से केवल वाण ही चला सकते हैं, कुदाल और हल इच्छा करने पर भी नहीं चला सकते तो यह एक बिलकुल झूठी बात होगी। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे प्रकाश के विना सूर्य, ताप के विना अग्नि और गन्ध के विना फूल एक क्षण भी नहीं टिक सकता उसी प्रकार शमः, दमः, तपः, शौचं, क्षान्तिः, आर्जवम्, ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यं प्रभृति ब्रह्मकर्म जिस व्यक्ति का स्वभावज कर्म है उसके विना वह नहीं रह सकता। प्रकृति मे विकार आजाय तबकी बात अलग है अन्यथा कान सुने बिना, नाक सूँघे विना, आँख देखे विना कैसे रह सकती है। जिस प्रकृति का जो स्वभावज कर्म है वह विना किसी चेष्टा के श्वास के समान अपने आप चलता रहता है, उसके लिये कर्ता को कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। सहज कर्म मे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति का स्वतः अभाव होता है। कोई पूछे सूर्य! तुम प्रकाश क्यों देते हो; पुष्प! तुम सुगन्ध क्यों विखेर रहे हो तो वे कहेंगे कि हम इच्छा करने पर भी इनको नहीं रोंक सकते, ये कर्म स्वभाव से ही होरहे हैं, हम नहीं जानते कौन कर्ता है और क्यों करता है। सारांश यह निकला कि जिसका जो स्वभावज कर्म नहीं है वह भले ही शरीर से उस कर्म की विडम्बना[1] करे, उस कर्म के मत्थे कर्ता को नैष्कर्म्य सिद्धि

[1] — विडम्बना = नकल, अनुकरण।

नहीं मिल सकती। नैष्कर्म्यसिद्धि विशेषतः दैहिक कर्म पर नहीं अपितु कर्म की भावना पर निर्भर करती है। गीता का भगवान् यज्ञ, दान, तप कर्म को बहुत पुनीत बतलाया है किन्तु ऐसा सोचना कि भगवान् की लक्ष्मी को भगवान् की सेवा मे लगा दिया, न मैने कुछ किया और न मैने कुछ दिया—यह एक बात है और अज्ञानसे मोहित होकर यह कहना कि मै ऐसा यज्ञ करूँगा, वैसा दान दूंगा, मौज उड़ाऊँगा "यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः" यह बिलकुल दूसरी बात है। ऊपर से देखने से यज्ञ-दान की क्रिया समान ही होती है परन्तु वृत्ति दोनों की भिन्न है। इस भेद-वृत्तिकी प्रेरणा स्वभाव से आती है। अतएव अहंभावशून्य जिसकी जो स्वाभाविक वृत्ति नहीं है वह कर्म उस व्यक्ति का स्वधर्म कदापि नहीं और न उस कर्म के द्वारा वह मनुष्य उस परमात्मा की अभ्यर्चना कर सिद्धि ही प्राप्त कर सकता जिससे कि भूतप्राणियों की सब प्रवृत्तियाँ आरही हैं। परमेश्वर जिसकी प्रकृति मे जिस प्रवृत्ति की प्रचोदना करता है केवल उसी प्रवृत्ति को भगवदर्पण करनेसे वह सन्तुष्ट होता है। स्वामी कहे कुछ और सेवक करे कुछ तो इससे स्वामीको प्रसन्नता नहीं होसकती। परमेश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूजा का संभार[1] दे रक्खा है। उसने जिसको जो दिया है वही उससे वापस मागता है। ईश्वर को ईश्वरदत्तभिन्न सामग्री समर्पण करनेवाला चोर है। उत्तम कर्म से पुण्य का बन्धन होता है और अधम कर्म से पाप का। स्वभावज कर्म से न पाप लगता और न पुण्य होता, अतएव उसके द्वारा पुरुष माया के गुणों से मुक्त होजाता है। कर्तव्यकर्म, वैदिककर्म और स्वभावनियतकर्म ये तीनों पर्याय

१—संभार=पूजोपकरण, सामग्री।

हैं। प्रकृतिके स्वभावनियतकर्ममे पुरुषको साक्षी और अकर्ता जानना विद्वानों का अकर्म है और मूर्खोंका अकर्म है अहंकार-वश स्वकर्मसे विरत होजाना, जैसा कि गीताका अर्जुन करने जारहा था। जिस व्यक्तिका जो स्वाभाविक कर्म नहीं है वही उसके लिये निषिद्धकर्म, अधर्म या विकर्म है। स्वाभाविककर्मके त्यागमे और काम्यकर्म, विकर्म या अस्वाभाविक कर्मके आचरण मे मनुष्यका सुनिश्चित अहंकार रहता है। स्वभावजकर्म ही एकमात्र ऐसा कर्म है जिसमे मनुष्यका अहंकर्तृत्वभाव नहीं रहता या कमसेकम रहता है।

नैष्कर्म्यसिद्धिका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। मनमानी कर्म करके कोई यह कहे कि मुझे फलकी आशा नहीं है और मैंने इस कामको निष्कामभाव से किया है तो उसका यह कथन मिथ्याचार है। यदि प्रत्येक कर्म प्रत्येक व्यक्तिके नैष्कर्म्य-सिद्धिका साधन बन सकता तो गीतामे स्वभावनियतकर्म या स्वधर्मके त्यागमे जो दोष बताया गया है वह न लगता। ऐसा मानलेनेसे न तो किसीका कोई नियतकर्म कहा जा सकता और न उसमे उसकी अनन्यनिष्ठा हो सकती। पेट पूजा के निमित्त जितने दिनके लिये जो जिस कामको उठाले वही उसका स्वभाव-नियतकर्म मानलेने से एक अनिश्चितसी स्थिति होजायेगी। अर्जुन कहता है कि मारकाट करके पेटपालना निन्द्यकर्म है, अब तो मै ब्राह्मणवृत्ति से भिक्षाटन करके अपनी आजीविका चलाऊँगा। भगवान्ने कहा, यह तो प्रत्यक्ष पाप है, स्वभावनियत कर्म एक तो भरसक तुम छोड़ नहीं सकते और छोड़भी दो तो उससे तुमको नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं मिलेगी एवम् विना नैष्कर्म्यसिद्धिके कर्मबन्धनसे मुक्त होकर तुम आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर सकते। आत्मानुभवके विना जीवको शान्ति नहीं मिल

सकती। अशान्तको भला सुख कहाँ ? और सदा प्रसन्नचित्त न रहकर दुःख एवम् दुश्चिन्तामे डूबे रहना सच्चिदानन्द परमात्माका बहुत बड़ा अपराध करना है। जीवन का उद्देश्य कर्म करना नहीं है, जीवनका उद्देश्य है कर्मके द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि लाभ करना। गीता अष्टादश अध्यायके ४२, ४३, ४४ श्लोकोंमे जो ब्रह्मकर्म स्वभावजम्, क्षात्रं कर्म स्वभावजम्, वैश्यकर्म स्वभावजम्, शूद्रस्यापि स्वभावजम् कर्म बतलाये गये हैं उनमे जिसका जो स्वभावजकर्म नहीं है उसका आचरण करने से कर्ताको नैष्कर्म्यसिद्धि तो त्रिकालमे कभी मिल ही नहीं सकती, यहाँतक कि स्वकर्ममे भगवत्पूजा की भावना न रखकर केवल शरीरके द्वारा स्वभावजकर्मका अनुष्ठान करनेसे भी किसीको नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं प्राप्त होती। अपने और पुत्र-कलत्रके पेट भरनेके निमित्त सैन्यमे लेफ्ट-राइट करना और इस स्वकर्मको परमेश्वरकी आज्ञा मानकर उससे भगवत्पूजाका नैवेद्य प्रस्तुत करना इन दोनोंका एक फल कैसे हो सकता है। शारीरिक कर्म के साथ जबतक हृदयकी भावना नहीं जुड़ती तबतक कोई कर्म यज्ञार्थकर्म न होकर वह होता है केवल शारीरिक व्यायाम। उदरपोषणार्थ किसी कर्मका आचरण करनेसे उदर कभी भरता नहीं, दिनदिन बड़ा होता जाता है और अन्तरात्मा तो सदा भूखा ही रहता है। जो भगवत्प्रीत्यर्थ स्वभावनियतकर्मका आचरण करते हैं उनकी रोटी-दाल भी चलती जाती है और अन्तरात्मा भी सर्वदा सन्तुष्ट रहता है। मनुष्यका जैसे आधिभौतिक देह होता है वैसा ही उसका आध्यात्मिक और आधिदैविक देह भी होता है। जिस कर्म मे तीनों देहोंका सहयोग नहीं उस कर्मके द्वारा मनुष्यका आध्यात्मिक जीवन विकसित नहीं हो सकता। अर्जुन यदि

भिक्षावृत्तिसे प्राप्त आटेकी रोटी बनाकर आँख मूदकर मन्त्र पढ़ता 'त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यम् समर्पयामि' तो गोविन्द कहता कि मै तुम्हारे इस भोगको स्वीकार नहीं करूँगा, मैंने कब कहा था कि तुम धर्मयुद्धसे विरत होकर भिक्षाटन करते फिरो। यदि केवल स्थूलदेहसे स्वकर्मके व्यायाम अथवा दूसरे किसी कर्मसे नैष्कर्म्यसिद्धि सुलभ होती तो गीता अष्टादश अध्यायके ४५ वें श्लोकमे 'यथा' शब्द जोड़कर भगवान्को यह कहनेकी आवश्यकता न पड़ती कि स्वकर्मनिरतनर जिस प्रकारसे सिद्धि पाता है उस प्रकारको हमसे सुनो। आगे ४६ वें श्लोकमे भगवान् स्पष्ट करते हैं कि जिस सर्वव्यापी परमात्मा से जिस-जिस प्राणीके स्वभाव या अध्यात्ममे जो-जो प्रवृत्तियाँ आती हैं शरीरकी केवल उन्हीं प्रवृत्तियोंके द्वारा परमेश्वरकी अभ्यर्चना कर मनुष्य सिद्धिलाभ कर सकता है, अन्यथा नहीं। रामायण मे तपश्चर्या करते हुए शूद्रप्रकृति शम्बूक को रामने इसीलिये बाधा दिया कि जप-तप उसका सहज कर्म न होनेके कारण उससे उसको सिद्धि प्राप्त न होती, अतः उस बकध्यानीके लिए तपस्या केवल मिथ्याचारिता और विडम्बना थी। यह नैष्कर्म्यसिद्धि केवल कर्मफलके सन्याससे प्राप्त नहीं होती। नियतकर्म, कर्मफल और कर्तृत्वाभिमान तीनोंको नैवेद्य बनाकर भगवच्चरणारविन्दोंमे समर्पण करदेनेसे यह सिद्धि मिलती है। नियतकर्म को केवल पेटभरनेका साधन मानना हीरे से काच खरीदना है। पेट तो पशु-पक्षी भी श्रम करके भर लेते हैं, उसके लिये शास्त्र के आदेशकी क्या आवश्यकता है। स्वकर्मके द्वारा समाज की सेवा करके उस कर्म को ब्रह्मप्राप्तिका साधन बनाने मे ही मुख्यतः शास्त्रका प्रयोजन है। स्वभावज-कर्मका मुख्य फल ज्ञान है और रोटी है ज्ञानकी दासी। गीता

मे इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया गया है कि कर्म करते हुए भी अपनेको कर्ता न मानो और न कर्मफलकी ही आशा करो। परन्तु देहमे जबतक अहंबुद्धि है, कर्तृत्वाभिमान नहीं जासकता, ऐसे ही जबतक मनका संकल्प-विकल्प शान्त नहीं हुआ है तबतक कर्मफलकी आशा भी निवृत्त नहीं होती। कर्तृत्वाभिमान दूर होता है आत्मज्ञान से और फलाशा जाती है योग और भक्तिसे। योगी और भक्तही मनको निःसंकल्पकर निजकृत कर्मका फल भगवान्को समर्पण कर सकता है। कर्मके कर्तृत्वका रहस्य भी बड़ा विचित्र है। इन्द्रिय, मन और प्राणसे कर्म तो होता है परन्तु देहमे यदि कर्मके कर्ताको खोजा जाय तो प्याजके छिलके की तरह एकके बाद दूसरा इस झूठे कर्तृत्वाभिमानको अपने शिरसे निकाल फेंकता है, कौन कर्ता है पता ही नहीं चलता। आत्म-ज्ञानके उदयसे एकबार देहाभिमानके ऊपर वज्रप्रहार हुआ कि फिर इस कर्तृत्वाभिमानको पैर रखनेके लिये कहीं ठौर नहीं मिलती और तब वह लज्जासे फिर अपना मुख नहीं देखाता, आत्महत्या करके मर जाता है। बोधमे स्थित पुरुष कहता है कि मै कुछ नहीं करता, मै तो केवल देखता हूँ। तब कर्तृत्वा-भिमान प्रकृतिके पास जाकर उसका शिर चापता है। प्रकृति कहती है कि वाह, मेरा तो स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं है, पुरुष मेरी काया और मै हूँ उसकी छाया, छायाका स्पन्दन तो सब कायाका ही होता है। कर्तृत्वभाव तब फिर पुरुषके पास जाता है। पुरुष प्रकृतिसे कहता है कि तो यदि ऐसी बात है तो मै तुम्हारी ओर से दृष्टि ही फिराये लेता हूँ, अब तुम्हारे कर्मोंका साक्षित्व भी नहीं करूँगा और इतना कहकर वह पुरुषोत्तमकी ओर देखने लग जाता है। बस एकबार इसने

पुरुषोत्तमभावका दर्शन किया कि फिर सब ओर उसे पुरुषोत्तम ही पुरुषोत्तम दिखाई पड़ता है, अपने जीवत्वका या पृथक् अस्तित्वका कहीं पता ही नहीं चलता। कर्ममे पुरुषका इङ्गित[1] न पाकर उधर प्रकृति भी साम्यावस्थाको प्राप्त होकर निस्तब्ध होजाती है। आत्माराम पुरुषोत्तम को कर्मसे प्रयोजन ही क्या है 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' प्रभु लोकके कर्तृत्व और कर्मोंको नहीं रचता, अतः सब ओर ब्रह्मनिर्वाण और अखण्ड शान्तिका साम्राज्य छाजाता है। इस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृतिके गुण और स्वभावके अनुसार निष्काम कर्मयोगका आचरण करते हुए कर्मके द्वारा कर्मबन्धनको काटकर अन्तमे ब्रह्मलाभ करना ही चातुर्वर्णविभाजनका आध्यात्मिक रहस्य है। मनुष्यकी प्रकृति को चारभागोंमे विभाजितकर कर्मके सहज पथके द्वारा मनुष्यमात्रके लिये ब्रह्मप्राप्तिका द्वार उद्घाटित कर दियागया है। वर्णानुसार कर्म करके नैष्कर्म्यसिद्धि लाभकर मनुष्य कैसे ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनता है इसका दिग्दर्शन गीता अ० १८ श्लोक ५० से ५५ तक कराया गया है। उस विधिको वहीं देखना चाहिये। ब्रह्मप्राप्तिके बाद कर्म करना, न करना उभय ही बराबर है। जबतक ब्राह्मीस्थिति लाभ नहीं होती तबतक प्रकृतिसे, स्वभावसे, परमेश्वरसे तीनोंसे नियतकर्म करनेके लिये साधक बाध्य कर दिया जाता है। यह बात गीता अध्याय १८ श्लोक ५९, ६० और ६१ मे क्रमसे दर्शाई गई है। अपनी समग्र प्रकृतिको बाहरसे समेटकर हृदय के अन्तस्तलमे पैठजानेसे उस आदि-श्रोतका पता चल जाता है जहाँ से प्रत्येक प्रकृतिमे कर्मकी अलग-अलग प्रेरणा या प्रवृत्ति निरन्तर आरही है। कामना,

१—इङ्गित=संकेत।

वासना, अहंकार और फलासक्ति जीवकी प्रकृतिमे परमात्माके द्वारा नियत किये हुए कर्मकी प्रेरणाको ठीक-ठीक सुनने नहीं देतीं, सुतरां विकर्म और अकर्मका आचरणकर मनुष्यका पैर बेतालमे पड़ जाया करता है, इसीलिये जीवको भगवान् वारम्बार कहते हैं कि तुम इनको छोड़ दो। परमात्मा, प्रकृति और स्वभाव केवल नियतकर्मके लिये जीवको बाध्य करते हैं; काम, क्रोध और अहंकारके लिये कोई जीव विवश नहीं है, यदि होता तो ईश्वर इनके त्यागका आदेश किसी जीवको न देता अतः वह इन विकारोंका त्याग कर सकता है, परन्तु स्वकर्म की अग्निशिखा तो ज्ञानज्योतिमे ही जाकर परिसमाप्त होती है। परमात्माके हाथका यन्त्र होकर उन्हींके ताल-छन्दमे नाचने और उन्हींके निर्देशके अनुसार जीवन की छोटी से छोटी प्रत्येक चेष्टाको करनेसे बढ़कर सौभाग्य देहधारीके लिये धरामे और क्या होसकता है। धन्य है परमात्माका ऐसा अनन्य भक्त।

विश्व कर्मक्षेत्र है। कर्मके ही लिये देह मिला है। अतः कर्म तो करना ही है। परन्तु संसार मे ऐसे कितने मनुष्य हैं जो कर्म मे प्रवृत्त होने के पूर्व यह सोचते हैं कि आखिर परमात्मा ने उन्हें धरा मे क्यों भेजा है, उनसे वह कौन सा काम लेना चाहता है और वे जो कुछ भी करते हैं उसके द्वारा ईश्वर की इच्छा पूरी हो रही है या नहीं? अपने लिये परमेश्वर के द्वारा नियत किये हुए कर्म को बाहर संसार मे नहीं खोजना है, संसार दिव्यज्ञान का क्षेत्र नहीं है, संसार है दिव्यज्ञान को चरितार्थ करने का क्षेत्र। परमेश्वरका आदेश, भगवद्वाणी या वेदवाणी प्रत्येक जीवकी मूलप्रकृतिमे नित्य आरही है। जिसका जीवन उस ज्ञान, इच्छा और क्रिया का

करण या निमित्त है वह कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा करता है, उसका जीवन सार्थक है और वह ईश्वर का प्रिय है। इस पथ मे खतरा यह है कि जीव कभी-कभी काम, क्रोध, लोभ और अहंकार की वाणी को ही सत्यनारायण की वाणी मानकर धोखा खाजाता है। भगवान् के प्रियसखा अर्जुन को भी प्रकृति ने कुरुक्षेत्र के मैदान में ठगा था। दुर्योधन स्पष्ट शब्दों मे कहता है 'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इन्द्रियों के नियामक नारायण! तुम हृदय मे स्थित होकर जैसी प्रेरणा करते हो मै वैसा ही करता हूँ। अभिमानवश ऐसा कुतर्क देकर वह सामने खड़े हुए श्रीभगवान् के सदुपदेश की उपेक्षा कर देता है। अतः देहधारी वहिर्मुख मानव को मोहमयी प्रकृति की इस प्रवंचना से वचकर कर्तव्य कर्मका निर्णय करने के लिये लोकमे शास्त्र, गुरु और वर्णाश्रम-विभाग की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि शास्त्र, गुरु और वर्णाश्रमधर्म में अर्जुन की श्रद्धा न होती तो गीताज्ञान के द्वारा उसका अज्ञान निवृत्त न होता। सुतरां वर्णाश्रमधर्म व्यर्थ नहीं, सार्थक है। उससे अन्तर्नाद श्रवणकी योग्यता आती है। अन्तर्नाद श्रवण के लिये कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहंकर्तृत्व-भावका त्याग अनिवार्य है। नीरोग्य नेत्र से जैसे दर्शन क्रिया होती है उसी प्रकार निर्मल स्वभाव से नियतकर्म का श्रोत भी स्वतः प्रवाहित होता रहता है। कर्म करते हुए भी परमेश्वर को कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहंकर्तृत्वभाव स्पर्श नहीं करते। भगवान् कहते हैं "तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारं अपि मां अकर्तारं अव्ययं विद्धि, न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा" गी० ४, १३-१४। स्वभावनियत कर्म के द्वारा जीव जब ईश्वर की पूजा करता है तो भगवत्कृपा से अन्त मे वह भी कर्मासक्ति,

फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमान को अपनी प्रकृति से झाड़ फेंकता है। आत्मज्ञान के विना जैसे अहंकर्तृत्वभाव दूर नहीं होता उसी प्रकार काम्यकर्मोंको छोड़े विना फलासक्ति नहीं जाती। सम्मुख उपस्थित अनारम्भ कर्म न करके मनसे सदा कर्मविषयक संकल्प करते रहना कर्मासक्ति है और वह मुख्यतः होती है देहाभिमान के कारण। परमेश्वरके समान आप्तकाम न होने के कारण जीव के लिये फलासक्तिका त्याग भी बहुत कठिन है। फलाशाके विना जीव किसी कर्म का आरम्भ ही नहीं करना चाहता। परन्तु बात यह है कि फलासक्ति से एक तो कर्म मे प्रमाद और शिथिलता आजाने के कारण कर्मफल सन्दिग्ध होजाता है, दूसरे कर्मफलत्यागका जो फल है वह कर्मफलकी अपेक्षा बहुत महान् है। इसलिए कर्मफल उनके करकमलों मे समर्पित कर देने के लिये भगवान् प्रत्येक जीव से अनुरोध करते हैं एवम् वदलेमे उसकी प्रकृति को द्वन्द्वातीतकर समत्वमे स्थित कर देते हैं जो कि आत्मज्ञान के उदय की पूर्व भूमिका है। आत्मज्ञानके उदय से कर्मासक्ति और फलासक्ति ऐसे ही छूट जाती हैं जैसे सर्प से केंचुल छूट जाती और पेंड़ से सूखे पत्ते गिर पड़ते हैं। पुरुष ने जिस क्षण में यह जाना कि सत्त्व, रज और तमोभाव बुद्धि के हैं आत्मा के नहीं उसी समय गुण निर्जीव हो जाते हैं और बढ़ा हुआ सतोगुण रज-तमको शान्तकर अन्त में स्वतः भी ऐसे ही निवृत्त हो जाता है जैसे काष्ठ को दहनकर अग्नि। पुरुषकी अनुमति न पाकर परमेश्वर फिर जीव की प्रकृति को क्षुब्ध नहीं करता। यही कर्मं के द्वारा मुक्ति का पथ है। वर्णाश्रमधर्म कर्म, अकर्म और विकर्मका बोध कराकर कर्मकी गहन गतिको समझाने के लिये हैं। विकर्म या निषिद्धकर्मको जानकर उसका त्याग कर देना है

और कर्म मे अकर्म तथा अकर्ममें कर्म को देखना है। युगपद प्रकृतिको कर्त्री और आत्माको अकर्ता देखना कर्ममे अकर्मको देखना है तथा विहित कर्म का जो न करना है वही अकर्ममे कर्म को देखना है। भगवान् कृष्ण कर्म में अकर्म को देखकर स्वयं कर्म करते हैं और विषादयोगी अर्जुन के अकर्ममे कर्मको देखकर उसे धर्मयुद्ध के लिये प्रोत्साहित करते हैं। जीव को रजसे उठाकर भगवान् उसकी विकर्मसे रक्षा करते हैं और तमसे ऊपर उठाकर उसे अकर्म से बचाते हैं। स्वभावनियत कर्ममे उसको वे इसलिए लगाते हैं कि कर्म ही अकर्म की प्राप्तिका साधन है। जो सच्चा अकर्म है वही वास्तवमे कर्मका लक्ष्य है, इसका रहस्य समझमे तब आता है जब प्रकृतिमे सत्त्वकी प्रतिष्ठा होती है। सतोगुण या श्वेतवर्ण स्वयं कोई वर्ण नहीं, श्वेतरंगमे सब रंग चढ़ जाते हैं, इसलिये यह वर्णातीत हंसावस्था है। स्वकर्मके द्वारा क्रमशः प्रकृतिकी हंसावस्था को प्राप्त कर साधक एक के बाद दूसरे आश्रमको लाँघ जाता है। आयुबृद्धि के साथ जैसे मनुष्यकी प्रकृति बदलती है वैसे ही उसकी रुचिमे भी परिवर्तन होजाया करता है, सदा एक चीज किसीको अच्छी नहीं लगती। इसीलिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं। जिस आयुमे मनुष्यके चित्तकी जैसी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसी के वाह्य क्रियात्मकरूप चार आश्रम हैं। जीवन के प्रथम भाग मे मनुष्य नई चीजोंको जल्दी सीख लेता है। अतएव जीवन और जगत्के यथार्थ-तत्त्वका परिज्ञान कराने के लिये ब्रह्मचर्याश्रममे वीर्यरक्षा पूर्वक गुरुचरणोंके समीप निवासकी व्यवस्था कीगई है। ब्रह्मचर्य भविष्य जीवन की भित्ति है। कर्म के द्वारा अनुभवकर प्राप्तज्ञानको पुष्ट करलेना गृहस्थाश्रम है। देह-गेहसे, इन्द्रिय

और उनके विषयोंसे लक्ष्यको अशेषत: उठाकर अध्यात्मचेतना मे चित्तका सतत निवास वृन्दावनवास या वाणप्रस्थ हैं। सर्वसन्यासपूर्वक अन्तमे सन्यासका भी न्यास करके उत्तम-पुरुष, अहम् या पुरुषोत्तमभावमे नित्य स्थित होकर आत्मरति करना चतुर्थाश्रम किम्वा परमहंसाश्रम है। देह और चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्था और अभिरुचिके अनुसार जीवनकी प्रत्येक चेष्टा के द्वारा परमात्माकी उपासना करना वर्णाश्रमका लक्ष्य है।

चारों वर्ण और चारों आश्रमों के जो लोग अपने उत्पत्ति-स्थान साक्षात् परमपुरुष परमेश्वर की भजना न कर उसकी अवज्ञा करते हैं वे स्वस्थानसे भ्रष्ट होकर वर्ण और आश्रमके धर्मसे च्युत हो जाते हैं :—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥

भा० ११-५-३।

———

हिन्दू, मुसलमान और इसाई धर्म



भारतमाताका धर्म है अपना सनातनधर्म । कुरुक्षेत्रकी रण-चण्डीको वीरवंश की बलि चढ़ गई । बुद्धदेव की अहिंसाको समयने बदल दिया नपुंसकतामे । बर्बर टूट पड़े । ८०० वर्ष के विदेशी शासनकालमे माता के कतिपय पुत्र प्राणोंके भयसे मुसलमान और धन एवं पदके लोभ से इसाई बने । शासनसमाप्ति के साथ भयका भूत और कनकमारीच तो कभी का मर गया परन्तु बच्चे जो बने सो बने और बनते-बनते इतना बन गये कि जननी को भूलकर सब बातमे सर्वथा विदेशी ही बन गये । वाणी मे आवाज़ और ज़बान बस गई । मातृभाषामे मदरस्टंगका रंग चढ़ा । शिशु बेबी हुए तो रामू रहमान होगये और अब पहिचान मे भी नहीं आते । माता के कुछ साहसी सुपुत्रों ने इन आत्मविस्मृत भाइयों को स्वरूपबोध कराने का प्रयत्न किया किन्तु वे विफल ही नहीं रहे, इनके हाथों मारे भी गये । आर्यसमाज गया, ब्रह्मसमाज मरगया, जब लोगों ने देखा कि गाड और अल्लाह का मिजाज बहुत गरम है, विनती वह सुनता नहीं तब सोचा गया उर्दू अपनाकर, शिखासूत्र फेंककर रामही रहीम बनजाय, एकता मिले चाहे जैसे मिले । इस उद्देश्य के प्रचार के लिये तीसरा समाज बना सर्वोदयसमाज । हिन्दुस्थान का यह नया सम्प्रदाय मित्रता का दक्षिण हाथ अभी बढ़ाया ही था कि भारत विभाजित होकर पाकिस्तान से आवाज़ आई, हाँ ठीक है, रूप की एकता होगई, अब नाम बदलकर, गैया खाकर,

बेटी लेकर मसजिद मे आजाओ—बस फिर एकता ही है। किन्तु हिन्दुओं सावधान! एकताके इन पुजारियों की नैतिक और ऐतिहासिक भूल के कारण एकता बहुत दूर चली गई और अब वह बहुत महँगी पड़ेगी। पाकिस्तान की प्रतिष्ठा सत्य की पराजय है। हिन्दुओं के विरुद्ध भारतीय मुसलमानों के मनको वह सदा ही विषाक्त करता रहेगा। सर्वोदयसम्प्रदाय के चक्र मे आकर हिन्दू का हिन्दुत्व जायेगा, एकता न मिलेगी। एकता का यह कोई तरीका नहीं। एकता के लिये यदि नामरूप आदि का बाह्य परिवर्तन ही पर्याप्त होता तो बेचारे सहधर्मी अहमदिया मुसलमानों पर आफत न आती। सत्य अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर सकता। देश की इस समस्या का समाधान अभी होना है। हिन्दूकी आत्मा अखण्ड भारतका स्वप्न नहीं भूल सकती। इसमे किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये। ५० वर्ष पूर्व कौन जानता था कि अँगरेज इस प्रकार भारत छोड़कर चले जायेंगे। मनुष्यको निमित्त बनाकर भगवान् कब कौनसा कार्य कैसे करते हैं इसे वे ही जानते हैं। परमेश्वर के लिए असम्भव कुछ नहीं। होसकता है कि कालान्तरमे हिन्दुस्थान और पाकिस्तान दोनोंको पुनः एक होजानेके लिए परिस्थिति बाध्य करदे।

अँगरेज भारत छोड़कर चले गये क्योंकि उन्होंने केवल धन लूटा। मुसलमान नहीं जा सकते क्योंकि उन्होंने स्त्रियाँ भी लूटा। तब मिलकर ही रहना पड़ेगा। परन्तु मुसलमानको मेलमिलाप की बाते करते कभी देखा नहीं जाता। जब देखो एकता की बात सदा हिन्दू ही करता है। एकता भी इतनी निर्लज्ज है कि बीस हाथ आगे ही भागती है। आधे मुसलमान

हिन्दुस्थान मे रहे, पाकिस्तान भी बना और स्त्री-धन छीनकर हिन्दू वहां से निकाल भी दिये गये फिर भी एकता का कहीं पता नहीं। होसकता है कि पाकिस्तानसे हिन्दुओंका निकाला-जाना और हिन्दुस्थानमे बहुसंख्यक मुसलमानोंका बने रहना दोनों देशोंके एकीकरणमे भविष्यमे सहायक सिद्ध हो। जातीय और राष्ट्रीय एकता के इस विचित्र पहेली की मीमांसा भविष्य के गर्भ मे है। विश्वास किया जाता है कि एकता का यह श्रेय देश की अगली सन्तति को मिलेगा। सधैर्य प्रतीक्षा करके देखना है कि भगवान् देश की इस चिरवांछित एकता का स्वप्न कैसे सिद्ध करते हैं। यहाँ तक तो हिन्दुओं और भारतमाताके धर्मान्तरित पुत्र मुसलमान भाइयोंकी बात हुई। अब भारतके धर्मान्तरित इसाइयोंकी समस्या देखिये। यह प्रश्न भी बड़ा टेढ़ा है।

भारतमाताके जो लाल मातृधर्म सनातनधर्मसे विमुख होकर इसाई बने, बाइबिल-पत्रव्यवहार-विद्यालय दक्षिण एशिया-केन्द्र पूना से उनकी और उनके पादरियों की भविष्यवाणी का तृतीयपाठ सुनिये “इस कर्णमधुर पुष्पित वचनावली मे भूलकर पथभ्रष्ट मत होजाओ कि जैसे सब सरितायें समुद्राभिमुख धावमान होती हैं वैसे ही सभी धर्मों का एक ही गन्तव्यस्थल है अथवा सभी धर्मों का भगवान् एक है। एक जीता-जागता चैतन्य भगवान् है एवं वही सबमे बड़ा भगवान् है और केवल वही भगवान् कहलाने योग्य है। ऐसा भगवान् तो सिर्फ बाइबिल का ही भगवान् हो सकता है और वही हमारे इस भविष्यवाणी का

परमेश्वर है " ❀। स्पष्टीकरण के लिये उस विराट संस्था के मंत्री महोदय को लिखकर पूछा गया कि भगवन्! आपतो भगवान् भी कई बताते हैं और बाइबिल के भगवान् के सिवाय दूसरे भगवानों को छोटा और निर्जीव भी कहते हैं, आपका तात्पर्य क्या है एवं उस स्थान का ही क्या स्वरूप है जहाँ कि इसाईधर्म जीव को लेजाता है। मंत्री वी० एच० हेनरी ने अपने उत्तरमे उक्त बातों को ही विस्तार से पिष्टपेषण करते हुए एक और नया वज्रपात कर दिया। वे लिखते हैं "सिद्धान्ततः विरुद्ध धर्मोंका प्रवर्तक एक ईश्वर कदापि नहीं और न एक है उन धर्मों का गन्तव्य। एकमात्र बाइबिल ही भगवद्वाणी है, विश्वके दूसरे धर्मग्रन्थ जो बाइबिल से मतभेद रखते हैं भगवद्वाणी कदापि नहीं हो सकते। अन्य धर्मग्रन्थों मे जो कुछ सच्ची बातें हैं वे भी यद्यपि परमात्मा से ही आई हैं परन्तु उनमे जो कुछ

❀ "Be not misled by the sweet- Sounding assertion that just as all rivers run to the Sea, so do all religions lead to the same place or, that the god of all religions is the same. There is a living god who is Supreme above all who claim to be god. He is the God of the Bible, the God of prophecy"-Voice of Prophery,

Southern Asia Division

Bible correspondence School.

Lesson Three. Poona—1, India

बाइबिल से विरुद्ध लिखा है वह तो भगवान् से आया हुआ किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता" ❀

स्वामी विवेकानन्दजीने महिम्नस्तवके जिस विख्यात श्लोकके आधार पर अमेरिकाके विश्व-धर्म परिषद्में हिन्दू-धर्मका विजयपताका फहराया था भारतीय क्रिश्चियन मिशनरियों का प्रचार ठीक उसके विपरीत है, यह बात यहाँ पर विशेष रूपसे स्मरण रखने की है।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

❀Religions which are diametrically opposed to each other in doctrinal teachings can never have the Same God as their author. Neither do they lead to the Same place. Bible presents its own evidences as to its divine origin. If the Bible is divinely inspired as we are confident it is, then all other religious books that differ with the teaching of the Bible are certainly not to the same extent inspired. Any light or truth that they have, of course, comes from God but any contradictions cannot be said to come from Him".

W. H. Mc Henry.
Corres. Secy.
15 th. Nov. 1951.

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वेदत्रयी, सांख्य, योग, शैवमत और वैष्णवादिक केवल विभिन्न मार्ग हैं। कोई कहता है यह श्रेष्ठ तो कोई कहता है वह श्रेष्ठ। परन्तु जिस प्रकार ऋजु और वक्र गतिसे अनेकों नदियाँ एक ही समुद्रकी ओर धावमान होती हैं उसी प्रकार हे परमात्मन्! रुचिभेदके कारण टेढ़ेसीधे नानापथोंसे एक तुम्हीं सभी मनुष्योंके गन्तव्य हो।

कहाँ तो हिन्दुत्वका उदात्तभाव और कहाँ क्रिश्चियनिटी की संकीर्ण मनोवृत्ति। एक ओर आकाशका चाँद है तो दूसरी ओर पृथ्वी।

केवल मेरा ही ईश्वर परमेश्वर और सबका ईश्वर अनीश्वर, केवल मेरा ही धर्म परमोधर्म और दूसरों का धर्म अधर्म, केवल मेरा ही स्वर्ग स्वर्ग दूसरों का स्वर्ग नरक, केवल मेरा ही धर्मग्रन्थ सत्यनारायण की वाणी अन्य सब असत्य की वाणी; मेरे ईश्वर, धर्म, आचार्य और धर्मग्रन्थ को मानने वाला ही धर्मात्मा और दूसरे सब अधार्मिक—भारत के इसाई-मुसलमान दोनों खुलेआम ऐसा ही कहते हैं। परमेश्वर अनेकें, धर्म अनेक, धर्मी अनेक, गन्तव्य अनेक, धर्मग्रन्थ अनेक, धर्माचार्य अनेक, लोक-परलोक मे जो कुछ है सभी अनेक तो फिर परस्पर शिरफोड़ के अतिरिक्त अनेकता के इस जगत् मे एकता कैसे हो सकती है? इस बौद्धिक पृष्ठभूमि पर मुसलमान-ईसाइयों की दृष्टि मे एकता का बस केवल एक ही मार्ग अवशिष्ट रह जाता है और वह है धर्मान्तर। यही कारण है कि मुसलमान तलवारके बल समग्र भारत को इस्लामिस्तान बना

कर एकता का स्वप्न देखना चाहता है जबकि इसाई सबको फुसलाकर समूचे भारत को क्रिश्चियन बनाकर ऐक्य प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता है। मुसलिम मनोवृत्ति के ही समान इसाईलोग भी दक्षिणभारतमे जहाँ कि उनका बहुमत है मूर्ति तोड़कर हिन्दुओं का देवालय भ्रष्ट करने मे अपना गौरव मानते हैं। यद्यपि भारत के मूर्धन्य राष्ट्रीय नेताओं की विचित्र मनोवृत्ति के कारण शिक्षित हिन्दू भाइयों की सनातनधर्म के प्रति अश्रद्धा अवश्य होगई है किन्तु यह ज्वर जल्दी ही उतरनेवाला है और उक्त भ्रातृद्वय का स्वप्नमनोरथ कभी सिद्ध होने को नहीं। हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों मे यदि कोई भी यह चाहे कि बाहुवल या छल के द्वारा दूसरे को समाप्त करके एक हमीं रहें तो रक्तपात के बाद भी कुछ न कुछ संख्या तीनों की बच रहेगी और अन्त मे तीनों को मिलकर ही रहना पड़ेगा। इसलिये अपने-अपने धर्म का आचरण करते हुए सबको प्रथम से ही मिलकर रहना उत्तम है। परधर्मी प्रतिवेशी के साथ शान्तिपूर्वक रहने मे स्वधर्म का जितना अंश बाधक है उसे अधर्म समझकर सबको छोड़ देना चाहिए। किसी हिन्दूपल्लीमे भोर चार बजे किसी मुसलमान के अल्लाहू अकबर चिल्लाने से हिन्दूका ध्यानभङ्ग नहीं होता किन्तु मसजिद के पास घड़ी-घण्टा-शंख की ध्वनि सुनकर मुसलमान का नमाज जरूर भङ्ग होजाता है। सहस्रवर्षपूर्व भारतमे पदार्पणसे लेकर अभी भारतविभाजन तक देशको मुस्लिम क्रूरता, कट्टरता और साम्प्रदायिकताका प्रचुर परिचय मिल चुका है। सर्वविदित होनेके कारण उन कटु स्मृतियोंकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। हिन्दू के साथ यदि कोई पहिले से छेड़छाड़ न करे तो दूसरा कोई कैसा भी हो

रहा आये, आगे से किसी के साथ कोई उपद्रव करना तो हिन्दूने सीखा ही नहीं। मुसलमान-इसाई दूसरे को अपने धर्म का शिकार बनाने के सदा फिराक मे रहते हैं। किन्तु किसी विधर्मी को हिन्दू बनाने के लिये कोई सनातनधर्मी किसी की खुशामद करने नहीं जाता और न इस बात को वह अच्छा ही समझता। अतएव साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, असहिष्णुता और धार्मिक कट्टरता का कलंक हिन्दुओं के शिरपर मढ़ना सत्य का घोर अपलाप करना है। भारतके राष्ट्रीय नेताओंका हृद्गतभाव चाहे जो भी हो परन्तु सनातन-धर्मके प्रति उदासीन भाव दिखाकर इन्होंने हिन्दूसमाजकी महती सांस्कृतिक क्षति किया है। बहुसंख्यक शिक्षित जनता यह समझने लगगई कि सचमुच हिन्दूधर्म एक घृणा की वस्तु है। भारतकी इसाई मिशनरियोंने जनताकी इस मनोवृत्ति का पूरा लाभ उठाया। जैसे वल्मी[1] पुस्तक चाट जाय वैसे ही इन्होंने दक्षिण भारतसे प्रारम्भकर हिन्दूसमाज को निगलना प्रारम्भ कर दिया है। निःशुल्क शिक्षा और चिकित्साका प्रलोभन देकर अशिक्षित निर्धन जनताको इसाई बनाना उनके प्रचारका तरीका है। इंगलैण्ड-अमेरिकासे उन्हें करोड़ों रुपयों की मदद मिलती है। इस विराट् सुसंगठित प्रचारके समक्ष हिन्दू आचार्योंकी शुष्क शाब्दिक शिक्षा कोई असर नहीं कर सकती। राष्ट्रके पुजारियोंको इसके भयंकर कुपरिणाम पर ध्यान देना चाहिये।

भारतीय इसाई-मुसलमानों मे जो लोग स्वेच्छा से पुनः हिन्दू बनना चाहते हैं वे खुशी से बन सकते हैं। वे जो पहिले

१—वल्मी=दीमक।

थे वही हो गये, बीच की गड़बड़ी का प्रायश्चित्त होगया, इसमे लज्जाकी कौनसी बात है ? अथवा वे जो बने वही बने रहना चाहते हैं तो इसमे भी कोई हरज नहीं; खुशीसे बने रहें। अपने स्वीकृत धर्म के द्वारा चरित्रगठन और सत्यानुसन्धान के पथ मे वे जितना ही अधिक अग्रसर होंगे उतना ही कलह का कारण भेद मिटेगा और मनुष्य का मनुष्य से अभेद प्रत्यक्ष होगा। धार्मिक मान्यतायें तो व्यक्ति के हृदय की चीजें हैं उन्हें तूलदेकर संसार मे झगड़ने की क्या जरूरत है ? परमेश्वर के विधान मे जीव को मान्यताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो है वह अमान्य करने पर भी रहेगा और जो नहीं है वह मान्यता देने पर भी नहीं होगा। मुसलमान यदि पुनर्जन्म नहीं मानता तो हिन्दू पुनर्जन्म मानते हुए भी पुनर्जन्म को अपना लक्ष्य नहीं मानता। अपुनर्भव दोनों को प्रिय है इसमे सन्देह नहीं। एक की मान्यता का वह साध्य है दूसरे की मान्यता मे वह स्वभावसिद्ध है—अतः परलोक मे जाकर दोनों मे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मरने के बाद वास्तव मे क्या होता है और क्या नहीं होता यह तो मरने के बाद ही पता चलेगा परन्तु जिन मान्यताओं का लोक मे प्रत्यक्ष सुफल देखा जाता है उन्हें अमान्य करने की अपेक्षा मान्यता देना ही अधिक हितकर है। पुनर्जन्म को न माननेवाला संसार के भोगों को अपना लक्ष्य बनायेगा; वह सोचेगा संसार भोग के ही लिये मिला है, जितना भोग सको भोग लो अबतो मिलने को नहीं, उसकी कामनायें अनियन्त्रित होंगी, जीवन असंयत होगा और जैसे भूखा कुत्ता जूठे पत्तलपर टूटता है वैसे ही भोगों के पीछे पड़कर वह संसार मे गन्दिगी फैलाते हुए जगत्को प्रत्यक्ष नरक बना देगा। जो अपुनर्भव को

जीवन का लक्ष्य मानता है और साथ ही यह भी जानता है कि उपभोगके द्वारा प्रशमित न होकर वासनायें अनुदिन बढ़ते रहने से जन्ममरण का चक्कर काटना होगा, उसे इस मान्यता से स्वभावतः इन्द्रियनिग्रह की प्रेरणा मिलेगी एवं उसका पवित्र जीवन संसार को स्वर्ग बनायेगा। इस दृष्टि से पुनर्जन्म को मानकर अपुनर्भव को प्रयत्नसाध्य मानना ही ठीक जान पड़ता है।

परमात्मा सबमे है। विचार और मतमतान्तर से परे है। उसकी उपासना मुख्य है, पूजा का प्रकार जो भी हो। सनातनधर्म मनुष्य को लौकिक अनेकताओं के भीतर एकता का सूत्र पिरोना सिखाता है इसलिये उसकी दृष्टि मे किसी दशा मे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अपना प्रचार वह करता नहीं, अपनी रक्षा वह हर हालत में करता है सन्देह नहीं किन्तु छलबल से कभी काम नहीं लेता। स्वरक्षा और प्रचार मे छलबल की आवश्यकता उसी धर्म को पड़ती है जिसमे दार्शनिकता की अपेक्षा भावुकता ही अधिक है। सनातनधर्म के सिद्धान्तों के पीछे इतनी ठोस दार्शनिकता है कि वह डंके की चोट कहता है, विश्व का कोई धर्म वाग्युद्ध मे हमसे पार नहीं पा सकता। आधुनिक अर्थ मे सनातनधर्म वास्तव मे कोई फिरके बाजी नहीं है। सृष्टि मे जो कुछ तत्त्व है उसका यथार्थ दर्शन ही सनातनधर्म है और प्रकृति के अकाट्य नियम ही हैं उसके नियम। सनातनधर्म जिस सत्य का संकेत करता है मरकर किसी सातवें आसमान मे उसका साक्षात्कार नहीं होता, वह पुस्तक मे लिखी कोई अन्धविश्वास की चीज भी नहीं अपितु अस्मिन् देहे प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। सनातनधर्म लौकिक अर्थ में कोई धर्म नहीं, कोई ग्रन्थ नहीं, कोई विश्वास

नहीं प्रत्युत एक अनुभवी का जीवन है। अनुभव होता है और जो होता है उसका ग्रहण क्या और उसका त्याग क्या। इसलिये अपनी रुचि से कोई भले ही हिन्दूजीवन स्वीकार करले, सनातनधर्म कभी किसी परधर्मी के पास यह कहकर हाथ जोड़ने नहीं जाता कि मेरे गले मे वरमाला पहिनां दो। पर-धर्मको तो वह भयावह कहता है। जो चीज अन्दर नहीं बाहर से ग्रहण की गई है वह तो मिथ्याचार है, वहाँ धर्म कहाँ ? सनातनधर्मकी घोषणा है "स्वधर्मे निधनं श्रेयः।" प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण मे उसका स्वभाव या स्वधर्म छिपा हुआ है, स्वधर्ममे निधन ही सबके लिये श्रेयष्कर है। परमेश्वर ने सभीको दश इन्द्रिय और मन-बुद्धि देकर भेजा है। उसके लिये कोई अपना-पराया नहीं। इस विश्व का रचयिता या तो कोई नहीं—स्वभावेन प्रवर्तते इदं सर्वम्, अथवा यदि कोई है तो दश, बीस, पचीस परमेश्वर हरगिज्ज नहीं, निश्चय एक ही परमात्मा अखिल विश्वका जन्मस्थितिभंगकर्ता है। देशकाल-पात्र भेद से उसकी प्राप्ति के बहुविध साधन हैं, न तो परम सत्य अनेक है और न उसको धारण करने वाला मौलिकधर्म ही अनेक हो सकता। माता जैसे अपने चार पुत्रों को उनकी रुचि और पाचन शक्ति के अनुसार एक ही गेहूँ की दलिया, हलुआ, रोटी और पूड़ी बनाकर उनको अलग-अलग परोसती है वैसे ही आधार भेद से तत्वके जिज्ञासुओंको अलग-अलग साधन बताये गये हैं। जो मूर्ख बच्चे हैं वे हलुआ-पूड़ी की वाह्य भिन्नता के पीछे झगड़ते हैं, तत्त्वज्ञ दोनों को एक ही गेहूँ का विकार मानकर सदा सम रहता है। हिन्दूधर्म, इस्लामधर्म, इसाईधर्म तीनों मे धर्म शब्द एक ही है और वह एक ही तीन जाति के तीन भाव और भाषा का रूप धारण करता है। चाहे जितने रंग का

शरवद् बनाया जाय चीनी और पानी तो सब मे समान ही रहता है। बाजार मे कपास के बने बहुरंगे कपड़े मिलते हैं किन्तु तूल की दृष्टि मे उनमे कोई भेद नहीं। धर्म के उस तत्त्व का सनातनधर्म बहुत सुन्दर नाम है, परन्तु भिन्न संस्कारों मे लालन-पालन के कारण यदि किसी को उस नाम से आपत्ति हो तो वह क, ख, ए० बी० सी० कोई भी नाम रख सकता है। मनुष्यजीवनका चारित्रिक निर्माण और परमसत्यका दर्शन ये दो ही धर्म के मुख्य अंग हैं, चाहे संसार का कोई भी धर्म हो। मनुष्य सबसे पहिले मनुष्य हैं, और हिन्दू-मुसलमान-इसाई आदि सब बाद मे। अतएव मानवधर्म सबके लिये समानरूप से प्रथमधर्म है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दशक धर्मलक्षणों से तो पृथ्वी के किसी मनुष्य को कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि संक्षेपतः सभीके लिये सामान्य धर्म हैं। आत्मश्लाघा और परनिन्दा तो हिन्दू-धर्म से कोसों दूर है। "श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि" भा० ११-३-२६। भगवत्प्राप्ति का मार्ग बतानेवाले जितने भी शास्त्र हैं, चाहे वे किसी भी जाति या भाषा के हों सभी के लिये उनमे श्रद्धा करना विधेय और इतर ग्रन्थों की निन्दा करना वर्जित है। भारत के इसाई और मुसलमानभाई यदि धर्म को भगवत्प्राप्ति की एक विधि के अतिरिक्त कोई अधिक महत्त्व न दें एवं आर्यावर्त को स्वदेश और आर्यजाति को हृदय से अपनी आदि जाति स्वीकार करलें तो इस देशमे धर्म के नाम पर विवाद और कलह उसी दिन सदा के लिये समाप्त होजाय। हिन्दूधर्ममे भगवत्पूजाके सैकड़ों प्रकार प्रचलित हैं, वह यह मानने को तैयार है कि अच्छा चर्च और मसजिदवाली दो

विधियाँ और सही, इससे उसका क्या बिगड़ता है? संसार की सभा मे सनातनधर्मकी ओर से एकता का यही सनातन प्रस्ताव है। चर्च और मसजिद मे जाना छोड़कर सबलोग मन्दिर मे ही परमात्मा को पूजने लगजाँय ऐसा स्वप्न कोई हिन्दू नहीं देखता। ऐसी एकता तो संसार मे कभी संभव नहीं। संसार के उद्यानमें भाँति-भाँति के पत्र-पुष्प इसकी शोभा ही बढ़ाते हैं। विचित्रता मे आनन्द न लेना तो पशुता है। गधे चाहें कि दुनिया मे केवल गधे ही बसें तो ऐसा नहीं हो सकता। "देहमुद्दिश्य पशुवत वैरं कुर्यान्नकेनचित्" भा० ११-१८-३१। देहको उद्देश्य करके पशुवत् किसी से वैर करना उचित नहीं है। इस नानात्व मे आत्मा ही एक है और सब अनेक है इसलिये एकता आत्मा मे ही खोजना चाहिये। अव्यय आत्मा को न मानकर लोक मे अस्थिर देह-गेह को समता और एकता का आधार बनाना एक असंभव कल्पना है। "सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः"॥ समाधिस्थ होकर सत्-असत् सबको जो अपने आत्मा मे देखता है उसका मन कभी अधर्म मे नहीं जाता। "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"॥ ईश उ० ७—जिस विज्ञानी की चेतना मे सब भूतप्राणी अपनी आत्मा ही होगये उस एकत्वदर्शी को शोक क्या और मोह क्या? सर्वे एकत्वमनुपश्यन्तु, समत्वमनुपश्यन्तु, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु इति।



सांस्कृतिक ज्वारभाटा

यतीनाम् चक्रवर्ती भगवान् बुद्धने समाजकी तत्कालीन आवश्यकता को ध्यानमे रखते हुए जगत् को अहिंसा और उत्कट वैराग्य का सन्देश दिया। परन्तु बुद्ध के बाद जो बौद्ध-वाद बना उसमे अहिंसा और वैराग्य की सीमा का विस्तार यहाँ तक हुआ कि संसार से ही नहीं अपितु जिसकी प्राप्तिके लिये संसारसे वैराग्यकी अपेक्षा है उस आत्मा एवं आत्म-प्रतिपादक वैदिक संस्कृतवाङ्मय से भी लोगों ने सन्यास ले लिया और आज वे विश्व को आत्मरूप माननेवाले बुद्ध के नामपर अनात्मवादी अवैदिक होगये; नपुंसकता ने अहिंसा की ओढ़निया मे अपना मुख छिपा लिया और रण से पराङ्मुख अर्जुन की मोहमयी अहिंसा के द्वारा आततायियों के दिल को बदलने का दम्भ भरनेवाले बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजे राजकाज से सन्यास लेकर भारत मे मुसलमानों के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त करदिया। बुद्धदेव के वैराग्य के बाद ज्ञानज्योति लेकर भगवान् शंकर अवतीर्ण हुए और उनके प्रज्ञानं ब्रह्म के प्रदीप से समूचा भारत जगमगा उठा। वैराग्य के बाद सृष्टिकर्त्ता अजके नाभिस्थानीय वर्ष अजनाभवर्ष भारतमे ज्ञान का उदय होना ही चाहिये। आचार्य शंकर के प्रयास से अध्यात्म और शास्त्र की प्रतिष्ठा तो हुई किन्तु परिस्थिति ने शीघ्र ही पलटा खाया एवं स्वयं शंकर ने अल्पायु मे कितना काम किया इस ओर तो अनुयायियों का ध्यान आकृष्ट न हुआ और उनके कर्म निन्दा के वचनों को पकड़कर "ज्ञान का कर्म से तीव्र विरोध है"

ऐसा कहकर अनाधिकारी लोग बकध्यानी बनगये; इतना ही नहीं, शंकर ने भक्तिविषयक देवदेवियों के कितने सुन्दर-सुन्दर स्तोत्र लिखे उस ओर से आँखकान बन्दकर लोगों ने ज्ञानका भक्ति से भी विरोध माना और वैदान्तिक शुष्कवाद के दलदल मे फँसते-फँसते ऐसा फँसे कि "अहं ब्रह्मास्मि" का ब्रह्म तो दुम दबाकर न जाने कब खिसक गया और इनके पास अहमस्मि अहमस्मि का केवल अहम् ही शेष बचा। संहारकारी त्रिशूलधारी शंकर के भक्तों की नपुंसकता तो सीमा ही लाँघ गई, मुट्ठीभर मुसलमानों ने मन्दिरों को लूट लिया, सहस्रों जन हाथ मे हाथ रक्खे मूर्तियों को घेरे बैठे रहे, एक-एक शिवलिंग को लेकर उसे "नमः शिवाय" मन्त्र से अभिमन्त्रित करके आततायियों को मार भगाने की इच्छा लोगोंके मनमे न जाने क्यों नहीं हुई? हिन्दूजाति को इस पाप का इतना घोर प्रायश्चित्त करना पड़ा, ऐसी ताण्डवी लीलायें हुईं जो कि रावण को भी रुलानेवाली थीं। भारतके इस दुर्दिनमे शाश्वतधर्मगोप्ता सनातन पुरुष परमात्माने अत्यन्त करुणा करके प्रत्येक प्रान्त और ग्राम मे उच्चकोटि के वैष्णव भक्तों को भेजकर भक्ति की पावन गंगधारा से देश को प्लावित न किया होता तो भारतीय सभ्यता, संस्कृति और सनातनधर्म का आज कहीं पता न चलता। भारत के हृदय मे वैराग्य और ज्ञान के बाद भक्ति का अभ्युदय होना ही चाहिये 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्'—गी० १८-५४। वैष्णवोंकी सहिष्णुताने हिन्दुत्वकी रक्षाकी, आसुरी शक्तियाँ अपने ही पापसे जल मरीं, इतनेमे दूसरे मेहमान आधमके। इधर दुर्दान्त कालके प्रभावसे वैष्णव भक्तोंमे विलासिताका घुन लग गया। वेदान्तियोंने अखण्ड समाधिमे निवासके लिये घोषणा करदिया कि जगत् न कभी था, न है और न होगा।

शुष्क ज्ञानियोंने एक ओर हृदयशून्यताका परिचय दिया तो नामधारी भक्तोंने दूसरी ओर मस्तिष्कशून्यताका। भाव, भक्ति और प्रेमकी बातोंको सोऽहं स्वामीने ऐसा उड़ाया कि जान पड़े इन्होंनेतो हृदयको एकदम काटकर ही फेंक दिया और बेदिल होगये। ऐसे ही उधर रामधुनमे विभोर भक्तोंको ब्रह्मविवेकसे क्या मतलब? जटाके जुओंने बाबाजीका शिर चाट लिया। विचार वे कैसे करें? मंजीर-करतारकी अनवरत ध्वनिसे परेशान होकर हृदय-विहारीने तो जाकर किसी सातवें आसमानमे धुइनी रमाया परन्तु भक्तोंका पापी पेट कहाँ जाय, रसनाके साथ शिश्ना तो लगी ही थी इसलिये कण्ठी-तिलक-चोटैयाके साथ भाव-भक्तिकी बन्दर विडम्बना अवशेष रह गई। भारतकी इस मनोवैज्ञानिक अधः-पतनकी भूमिकामे द्वितीय अतिथि महोदयको अपना पंजा मजबूत करनेका अच्छा मौका मिला और इनकी भाषा, वेशभूषा और विचारधाराने देशकी आकृति एकदम बदल दिया। मुसलमानों की तलवारने जिन हिन्दुओंकी चोटैया काटकर उसे टारबुशके[1] ऊपर लगाया सो लगाया बाकी अपनी इच्छासे किसीने मुर्ग-मुकुटको शिर नहीं चढ़ाया किन्तु अंगरेजी सभ्यताका तो ऐसा जादू चला कि लोगोंने अपने खुशीसे शिखासूत्र फेंक दिया, हैट-पैंट पहिनकर गलग्रह बाँध लिया, 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' साम्प्रदायिकता कही जाने लगी और अँगरेजीमे बातचीत एक गौरवकी वस्तु होगई। ऋषिप्रणीत संस्कृत साहित्यसे सभी शिक्षितोंको बदबू आने लगी। अँगरेजोंने भारतके बच्चोंको यह इतिहास पढ़ा दिया कि भाई यह देश किसीकी बपौती नहीं, जिसकी लाठी उसकी भैंस है। तीन-चार हजार वर्ष पूर्व आर्य

१—टारबुश=मुसलिम लाल टोपी जिस पर काली झालर लगी रहती है।

लुटेरोंने मध्य एशियासे आकर यहाँकी जंगली जातियोंको मारकर स्वराज्य बसाया, मुसलमानोंसे वे पिटे और हमने मुसलमानोंसे छीनकर अपना साम्राज्य कायम किया, अतएव कोई जाति इस देशको स्वदेश कहनेका दावा नहीं कर सकती। स्वदेश, स्वधर्म, स्वजाति आदि जो भी एक देहधारीके लिये स्वाभिमानकी वस्तुयें होसकती हैं सभीसे स्व निकल गया और भारतकी बुद्धि पाश्चात्य विचारोंकी पदकन्दुक[1] बन गई। यह सब तो हुआ किन्तु अँगरेजी शिक्षासे एक बड़ा लाभ भी हुआ। अँगरेजी पढ़ीलिखी भारतकी मेधावी जनता विश्वके स्वतन्त्र राष्ट्रोंको अपने आँखों जाकर देखा और तब उसकी समझमे आया कि अरे मेरा तो दुनियामे कोई स्थान नहीं और उसकी आँखें खुल गईं। प्राणशून्य धर्मपुरुषके कंकालसे चिपकी हुई धर्मध्वजी भारतकी जो आत्मा धर्म-कर्मके बहाने घोर तमस्‌मे सोई थी उसकी नींद टूटी और जागकर उसने देखा कि कोरे ज्ञान-वैराग्य और भक्तिभङ्गिमासे तो अपना अस्तित्व ही खतरेमे पड़ गया इसलिये इसबार उसने कर्मयोगका महत्त्व समझकर हाथपैर हिलाना सीखा और मैदानमे कूदकर सारे देशमे ऐसी क्रान्ति मचाया कि द्वितीय अतिथि महोदयके पलस्तर ढीले पड़ गये एवं संसारके कोने-कोनेमे इन्होंने जो अपने साम्राज्यका मायाजाल फैला रक्खा था वह छिन्न-भिन्न होगया। दयानन्द, विवेकानन्द, बंकिम, तिलक, गोखले, गान्धी, मालवीय, अरविन्दादि जितनी भी भारतीयताको ः हुए अँगरेजी भावापन्न बड़ी-बड़ी आत्मायें इधर सौ वर्षके भीतर देशमे हुईं सबोंने

१—पदकन्दुक=फुटबाल।

एक स्वरसे कर्मयोगके ऊपर जोर दिया। काँटे पर चलने वालेको हाथमे माला लिये पद्मासन लगाकर निर्विकल्प समाधि साधनेको अवकाश कहाँ? निहत्थे भारतीयोंकी विश्वमे यह एक अभूतपूर्व सफल क्रान्ति हुई और यह मानलेना पड़ेगा कि देशकी अँगरेजी पढ़ीलिखी जनताको ही स्वराज्यका श्रेय है। तभी तो संस्कृतके अर्थस्यदासाः विद्वानोंको स्वराज्यके बाद भी कोई ज्यादा प्रतिष्ठा नहीं मिली। वे शान्तिकालके लिये ठीक हैं, क्रान्तिका काम उनसे नहीं हो सकता। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गान्धीजीका अहिंसान्दोलन और सत्याग्रह मुसलिम क्रूरताके सामने कदापि नहीं टिक सकता था; सुतरां इसाई धर्म, जाति और सभ्यताको भारतीय स्वतन्त्रताका कोई कम श्रेय नहीं है। अथवा यों समझिये कि हरिइच्छासे यह काम होना था होगया क्योंकि स्वराज्यके बाद कांग्रेसके उन्हीं नेताओंको भारतकी फ्रेंच और पुर्तगीज बस्तियों एवं पाकिस्तानके अत्याचारके खिलाफ अहिंसात्मक सत्याग्रहका नाम लेते कभी किसीने नहीं सुना; हाँ इतना जरूर है कि प्रगति और राष्ट्रीय जागृतिके नाम पर आजकल घर-घर स्त्री पतिके, पुत्र पितरोंके, शिष्य गुरुओंके, नौकर मालिकोंके और भाषी विभाषियोंके विरुद्ध सत्याग्रहका दुरुपयोग करते अवश्य देखे जाते हैं।

यहाँतक भारतमाताके जीवनमे वैराग्यपूर्वक ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों काण्डोंकी पृथक्-पृथक् साधना समाप्त हो गई। वैराग्यने अनित्य और असुखकर संसारमे निर्लिप्त होकर रहना सिखाया। ज्ञानने आत्माको चिन्हाकर जीवको मृत्युसे अभय कर दिया और यह भी बताया कि जैसा प्रतीत होता है वास्तवमे संसारका वैसा रूप नहीं है। भक्तिसे सत्य, नित्य, अफुरन्त आनन्दके उत्सका पता चला और यह भी ज्ञात हुआ

कि जगत्का ब्रह्मसे एवम् ब्रह्मका जगत्से क्या सम्बन्ध है। भक्त जगत्को भ्रम नहीं प्रत्युत भगवान्की लीला मानता है। कर्मसे यह सिद्ध हुआ कि मूलमे संसारका चाहे कोई अस्तित्व हो या न हो किन्तु जबतक शरीर है तबतक संसार अपने स्तरमे इतना ही सत्य है जितना स्वयं परमेश्वर; सुतरां इसकी उपेक्षा खतरेसे खाली नहीं। आत्मा और हृदयको सुन्दर बनानेके लिये यदि ज्ञान और भक्तिकी जरूरत है तो देह और जगत्को सुन्दर बनानेके लिये कर्मकी कोई कम जरूरत नहीं है। कर्म न हो तो देह और जगत्की सत्ता समाप्त होजाय। स्वयं ज्ञान और भक्तिके प्राकट्यके लिये भी तो देह और जगत्के यन्त्रकी आवश्यकता है? कर्म ही ज्ञान और भक्तिके पूर्णत्वका प्रमाण-पत्र देता है। पैरके विना जैसे शरीर खड़ा नहीं रह सकता वैसे ही कर्मके विना ज्ञान और भक्ति की परिपूर्णता नहीं होती। मस्तिष्क ज्ञानके लिये, हृदय प्रेमके लिये और शरीर कर्मके लिये जीवको विवश करते हैं। यह देह किम्वा जगत् साक्षात् वेद ही है, देह और जगत्के तत्त्वको समझने वाला ही सच्चा वेदज्ञ है। प्रकृतिग्रन्थमालाके पन्ने जो नहीं उलटता उसे मसि-पत्रका जूँठन चाटनेसे ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। ज्ञान, कर्म, उपासना किसी पुस्तकके तीन काण्ड नहीं अपितु प्रत्यक्षतः जीवनके तीन अत्यावश्यक अध्याय हैं। जनसाधारण को वोधगम्य बनानेके लिये वेदमे जीवनके इसी प्रयोजनका विवेचन किया गया है। ज्ञानकर्मभक्तिमे कोई कम-वेशी या बड़ा-छोटा नहीं है। जबकि देहके किसी भी अङ्गके विना कोई काम नहीं चल सकता, तो यही कहना पड़ेगा कि सबकी समान आवश्यकता है। कोई कर्मी कहदे कि वह केवल रक्तमांसका बना है एकमात्र तभी वह भगवद्भक्ति और आत्मज्ञानकी उपेक्षा

कर सकता है। कोई भक्त कहे कि वह केवल हृदय या भावोंका बना है तबभी वह ज्ञान और कर्मकी उपेक्षा कर सकता है। कोई ज्ञानी कहदे कि वह केवल मुण्डका ही बना है तब वह कर्म और भक्तिकी उपेक्षा कर सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है इसलिये तीनोंकी एक साथ आवश्यकता है। कर्मसे अपनी पूजा करानेके लिये भगवान्‌ने जीवको तन दिया, भावका नैवेद्य अर्पित करनेके लिये हृदय दिया और ज्ञानयज्ञसे यज्ञपुरुषकी पूजाके लिये परमात्माने जीवको बुद्धि दिया है। चूँकि समझाने के लिये शास्त्रोंमे ज्ञान, कर्म और भक्तिकी पृथक् व्याख्या की गई है इसलिये पाँच अन्धोंके हाथोके समान कुछ लोगोंने इनको तीन स्वतन्त्र मार्ग सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। ब्रह्मको सर्वशक्तिसम्पन्न मानते हुए भी यदि कोई ज्ञानी यह कहे कि उसका ब्रह्म भक्तके लिये सगुण साकार नहीं हो सकता अथवा भगवान्‌को कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुम्‌समर्थ मानते हुए भी यदि कोई भक्त यह कहे कि उसके भगवान्‌का निर्गुण-निराकार साकारसे कोई सरोकार नहीं तो समझना चाहिये कि वे दोनों ही नासमझ हैं और परमेश्वरकी सर्वशक्तिमत्ताको सीमित करना चाहते हैं। ऐसे ही कुछ लोग कुदाल और चर्खी चलाने को ही कर्म कहते हैं। "शमः दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवम् एव च। ज्ञानविज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्"।। यहाँ पर ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकताको भी कर्म कहा है परन्तु हैं ये ब्रह्मज्ञके कर्म, जनसामान्यके नहीं। अब यदि कोई प्रश्न करे कि अच्छा यदि ये ब्राह्मणके कर्म हैं, तो ब्राह्मण का ज्ञान और ब्राह्मणकी निष्ठा या भक्ति क्या है? तो भी वही उत्तर आयेगा। सारांश यह निकला कि ज्ञान, कर्म और भक्ति उपाधि या अवस्थाभेदसे एक ही वस्तुके तीन नाम हैं।

जिसके शरीरका जो स्वभावज कर्म है वही उसके हृदयका सहज भाव या निष्ठा है एवं वही उसकी बुद्धिका स्वभावज ज्ञान है। इसलिये जो ज्ञान है, वही भक्ति है एवं वही कर्म है, इन तीनोंमे लेश भी कोई भेद नहीं। आँखने सूर्यको देखा, कानने 'सूर्य' इस शब्दको सुना, त्वचाने सूर्यका ताप सहा तो तीन इन्द्रियोंके त्रिधा अनुभवके कारण सूर्य थोड़े ही तीन होजायेगा ?

ज्ञानी, भक्त, विरक्त और कर्मयोगियोंकी पृथक्-पृथक् तपस्यासे भारतमाता स्वतन्त्र होगई। गृहव्यवस्था और समाज सुधारका तो कोई अन्त नहीं, अनन्तकालके सामने अनन्त-सुधार पड़ा है, धीरे-धीरे सब होता रहेगा। यदि समाजके किसी एक वर्गको दूसरे शासकवर्गका सुधार पसन्द नहीं तो राष्ट्रके जीवनमे यह कोई असाधारण बात नहीं है, कोई प्रभावशाली नेता अमर तो है नहीं, एक जायेगा और दूसरा आयेगा, एक अपने मनका गढ़ेगा तो दूसरेका मन उसे भङ्ग कर देगा और ऐसा होता ही रहेगा। एक व्यक्तिके जीवनमे सौ-पचास वर्ष एक बहुत बड़ी चीज है किन्तु एक राष्ट्रके जीवनमे दश-बीस वर्ष एक दिनके बराबर है। हाँ, यह आशा अवश्य कीगई थी कि स्वतन्त्र भारतका सांस्कृतिक जीवन ज्ञान, भक्ति और कर्मरूप गंगा, यमुना और सरस्वतीका सुन्दर संगम बनेगा परन्तु दुर्भाग्यवश सम्प्रति ऐसा होता नजर नहीं आता। राष्ट्रके जीवनमे जैसे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी साधनायें कालान्तरमे विकृत होकर अन्तमे उनका दुरुपयोग होने लगा उसी प्रकार जनताकी कर्म प्रवृत्ति भी विकृत होकर विकर्ममे बदल गई। दैहिक कर्मका ज्ञान और भक्तिके साथ सूत्र छिन्न होजानेसे कर्मका विकर्ममे बदल जाना स्वाभाविक है फिर भी न करनेकी अपेक्षा

कुछ करते रहना कहीं अधिक अच्छा है क्योंकि कुछ करनेकी आदत पड़ी रहनेसे निपिद्धकर्म या विकर्मके साथ ही विहित कर्म भी कुछ न कुछ अवश्य होता रहेगा और अनुभववृद्धिके साथ समय आने पर उसमे सुधार भी हो सकता है। जो चीज वास्तवमे जैसी है उसे विरूप करके दिखाना ही कदाचित् संसारका स्वभाव है। मेघ निर्मल जल की वृष्टि करता है किन्तु काली-पीली भूमिमे पड़कर जल भी तद्रूप होजाता है। उसे पानयोग्य बनानेके लिये शुद्ध कर-लेना पड़ता है। उसी प्रकार महाजनोंने यद्यपि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कर्मयोगका यथावत् रूप ही समाजके सामने रक्खा था किन्तु कालान्तरमे मानवीय प्रकृतिके दोपोंसे उनमे दोष आगया, जिसे परिहारकर सत्यका परिग्रह करनेमे ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि और मनीषियोंकी मनीषा है।

योद्धाओं की तलवारने भारतको आजाद नहीं किया है। भारतीय स्वतन्त्रता योगी-महात्माओंके तपसे प्राप्त होनेकी बात सर्वविदित है। चरित्र, धर्म, सदाचार और भगवान्के तत्त्वको स्वीकार किये विना हिन्दुस्थानमे कोई महात्मा ही नहीं माना जाता। महात्माओंकी प्राप्तकी हुई स्वतन्त्रतामे उनके जीवनधन भगवान् और धर्माचरणको कोई स्थान न होना भारत ऐसे देश और इस धर्मप्राण जातिके लिये सचमुच लज्जाकी बात है। यह ठीक है कि कोई राष्ट्रीय नेता अनैतिकताकी शिक्षा नहीं देता किन्तु आस्तिक जनताके धार्मिक विश्वासोंका वह आधार जिससे कि लोगोंको अबतक सदाचार की प्रेरणा मिलती आरही थी उस पर पाश्चात्य भावापन्न आधुनिक भारतका नेता गहरा आघात करता है और उसके स्थानमे जनताके सामने रखता है पाश्चात्य जगत्के भौतिक-

वादका आदर्श जिसका सुनिश्चित परिणाम उच्छृंखलता, नास्तिकता और दुश्चरित्रताके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। ऐसे स्वराज्य और ऐसी आर्थिक व्यवस्थासे, जिसमे धर्म और अध्यात्मको कोई स्थान नहीं, भारतका कल्याण नहीं होसकता। शिक्षा, पैसा और सामाजिक व्यवस्था ऐसी शक्तियोंके हाथमे जारही हैं जिन्हें आर्यसाहित्य, धर्म, ईश्वर, संस्कृति, सभ्यता और भारतीय रीति-नीतिसे कोई वास्ता नहीं। ऋषियोंकी अमर ग्रन्थावली और भारतीय राजनीतिका यहाँके राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिमे इतना भी समादर नहीं जितना कि इन्हें विदेशोंमे सम्मान प्राप्त है। अपना विधान बनाते समय नेताओंका इस ओर ध्यान ही नहीं गया, हाँ विदेशी जूँठन बटोरनेमे इन्होंने कोई कोर-कसर नहीं रक्खा और ऐसा करना इनके लिये स्यात् इस कारण स्वाभाविक था कि ये हैं ही विदेशी सभ्यताकी उपज। इनके दिमाकमे बस केवल हिन्दू, मुसलमान, मेहतर, अछूत, सम्प्रदाय यही भरा है और दैव-चक्र ऐसा है कि इन खाइयों को पाटनेकी ये बेचारे जितनी ही कोशिश करते हैं उतनी ही खाइयाँ चौड़ी होती जाती हैं। लोग कहते हैं कि अमेरिकाके उच्चन्यायालयके प्राङ्गणमे मनु महाराजकी एक मूर्ति विराजी है, जबकि हिन्दुस्थानी नेता अपने पूर्वजोंको अल्पज्ञ और भारतकी पुरानी बातोंको अन्ध-विश्वास कहता है। एक-एक प्रभावशाली नेताने वैदेशिक सिद्धान्तोंको लेकर अपना एक-एक दल बना रक्खा है। साधारण जनता भेंड़ियाधसान चलती है, कुछ समझती नहीं। इन दलोंके आधार पर देशका चुनाव लड़ना छल, कपट और मिथ्याचारिताका कारखाना खोलना है। गड़बड़ी कहाँ है और उसका मार्जन कैसे हो इसे तो मेधावी अनुभवी राजनीतिज्ञ

जानें किन्तु प्रत्यक्ष बात यह है कि धनी दरिद्र और सुखी दुःखी होगया जबकि जो दुःखी और दरिद्र थे उनका दुख-दारिद्र्य दूर नहीं हुआ। दूसरी ओर विभाजित भारत चतुर्दिक विरोधी शक्तियोंसे घिरकर सर्वथा अरक्षित होगया है; तिब्बत पर कम्यूनिष्ट चीनका अधिकार होजानेसे हिमालय अब उत्तरी भारतकी रक्षाका अभेद्य दुर्ग न रहा। अँगरेज कूटनीतिज्ञ भारतके विरुद्ध ब्रह्मदेश, लंका और पाकिस्तानके कानमे सदा जप करते रहते हैं। सुरक्षा और गृहव्यवस्था दोनों डाँवाडोल हैं। देशमे स्वराज्यके सुखका स्वप्न अबतक किसीने नहीं देखा। व्यक्तिके नागरिक जीवन पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ता जारहा है और सच पूछा जाय तो किसीके मुखमण्डल पर सुख-शान्तिका कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। द्रव्योपार्जनके जितने साधन हैं सबको सरकारने हथिया लिया है और कहती है कि बात-बात मे सरकारका मुख न देखकर सब लोग स्वावलम्बी बनो। बड़ी-बड़ी सम्पत्तियोंको व्यक्तिगत अधिकारसे छीनकर इस उद्देश्यसे उनका राष्ट्रीयकरण किया जाता है कि सबमे धनका समान विभाजन होगा किन्तु जो प्रबन्धक नियुक्त होते हैं वे राम और युधिष्ठिर तो होते नहीं, सब बीचमे ही खाजाते हैं, न जनताका कोई उपकार होता और न सरकार का। बड़े नगर व्यापारमे और ग्रामकृषि पर निर्भर रहते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको कृषिके लिये भूमि तो दी नहीं जा सकती, भले ही जनसंख्या बढ़जाय जमीन तो बढ़ेगी नहीं, तब व्यापार भी अवश्य रहेगा। अतः आज यदि एक दल किसान-मजदूरकी सरकार बनाना चाहता है तो इसमे अपने हितकी हानि देख कल कोई दूसरा दल व्यापारी सरकार भी जरूर बनाना चाहेगा। देशकी सहस्रों उपजातियोंने उधर अपना सहस्रों दल अलग बना रक्खा है।

किसी भी विभाग या संस्थामे जब कोई एक जाति, वर्ग या दलका आदमी पहुँच जाता है तो दूसरोंको निकालकर स्वजनोंको ही भरना प्रारम्भ कर देता है। जो इतनी संकीर्ण मनोवृत्तिके लोग हैं वे ही समानताकी वड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, यह कितने आश्चर्यका विषय है। अभीतक सब भाषाके लोग सभी अंचलोंमे शान्तिपूर्वक निवास करते हुए परस्पर सम्पर्कके कारण एक दूसरेकी भाषा अनायास सीख लेते थे। अव भाषावार प्रान्त बनाकर एक भाषावाले लोग अपने यहाँसे अन्यभाषियों को निकालनेका कुचक्र रच रहे हैं। जैसे पाकिस्तानसे हिन्दू निकाल दिये गये वैसे ही भाषावार प्रान्त बननेसे इतरभाषी या तो वहाँ से निकाल दिये जायेंगे अथवा नौकरी और व्यापारकी सुविधा न देकर उन्हें स्वयं छोड़कर चले जानेके लिये बाध्य कर दिया जायेगा। विशेषकर भारतके वड़े नगरोंमे सभी भाषावाले लोग वसनेके कारण इस व्यवस्थासे उनका जीवन और धन खतरेमे पड़ जायेगा। 'मै देह नहीं आत्मा हूँ, मै भारतवासी आर्य जाति हूँ, इस अभिमानको भुलाकर 'मै बंगाली, मै गुजराती, मै महाराष्ट्री या मद्रासी हूँ' ऐसी अज्ञानजन्य भेदबुद्धि लोगोंके दिलमे घरकर रही है। मूर्खकी परिभाषा बताते हुए भगवान्‌ने भागवतमे कहा है "मूर्खो देहाद्यहं बुद्धिः" देह, गेह, प्रान्त, भाषा, बिरादरी आदि मे अहंबुद्धि रखनेवाला बेवकूफ है। यदि प्रान्तोंकी वर्तमान सीमा मिटानी ही पड़ती है तो क्यों न सारे भारतको जिलों और पंचायतोंमे विभाजितकर एक देश, एक जाति और एक विधानकी प्रतिष्ठा कीजाय ? जिस देशका शिक्षित समाज नौकरीको श्ववृत्ति अर्थात् कुत्तेकी रोजी कहकर तिरष्कार करता था उस देशमे पाँच साधारण रिक्त पदोंके लिये अब पाँच हजार अर्जियाँ पड़ती हैं। एक सरकारी

कर्मचारी दिनदूने रातचौगुनेकी चालसे स्वयं जिस अपराध को करता है उसी अपराधके लिये शासित जनताको दण्ड देता है। मनुष्यको महान् बनानेवाले जो सद्गुण हैं उनके उत्कर्षका कोई भी प्रोत्साहन व्यक्तिको इस समय नहीं मिल रहा है। दश-पाँच प्रसिद्ध सन्तोंके जो बड़े-बड़े आश्रम हैं केवल वहीं ईश्वर, धर्म और शास्त्रकी कुछ थोड़ी चर्चा सुनाई पड़ती है। भारतीय जीवनकी झलक केवल वहीं अवशेष है। इन आश्रमों मे ही प्राचीन प्रणालीके अनुसार संस्कृत शिक्षाकी व्यवस्था है। परन्तु अब इन आश्रमों और धार्मिक संस्थाओंकी आयु भी समाप्तप्राय समझनी चाहिये। धर्मके ये क्षेत्र राजा-महाराजा और बड़े-बड़े शेठ-साहूकारोंके अनुदानसे चलते थे जो कि सब साफ कर दिये गये। राष्ट्रीय सरकार जो कि मन्दिरोंमे समर्पित सम्पत्ति ही छीन रही है इनको सहायता कैसे दे सकती है? गरीब जनताके पास खाने-पहिननेसे ज्यादा कुछ बँचता नहीं। सरकार आश्रमों को सम्प्रदाय विशेषकी संस्था मानकर तिरष्कार करती है। गृहस्थोंके यहाँ ब्रह्मचारी-सन्यासियोंके भिक्षाकी प्रथा टूटे सदियों गुजर गये। ऐसी अवस्थामे साधकों को जब पेटकी चिन्ता करनी पड़ेगी तब योग, याग, शास्त्र और भगवान् सब हवा हो जायेंगे। हिन्दू समाजकी व्यवस्थामे इस वर्गको अन्नवस्त्रकी चिन्तासे उन्मुक्तकर अपने और लोकके आध्यात्मिक जीवनके विकासके लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था।.समाजसे आश्रम और वर्णकी व्यवस्था मिट जानेसे इन्हें कोई नहीं पूछेगा और तब दो-चार आश्रमोंमे जो भी धर्मचर्चा सुनाई पड़ती है वह भी बन्द हो जायेगी। बैंकोंमे सञ्चित सम्पत्तिसे अभी कुछ धार्मिक शिक्षाकेन्द्र, संस्थायें, प्रेस और आश्रम चल रहे हैं। समाजवादी या कम्यूनिष्ट पार्टी शासना-

रूढ़ होते ही बैंकोंको हथिया लेगी। देशके श्रमिक वर्गको कुल और वंशमे परम्परासे प्राप्त स्वकर्मसे विरतकर सरकारी पैसेसे उन्हें जो कालेज और विश्वविद्यालयोंकी उच्चशिक्षा दी जारही है उससे बेकारी फैलेगी और तब वे सबके सब कम्यूनिष्ट होकर भारतीय सभ्यताको तहस-नहस कर डालेंगे। आजकल जिसे देखो वह क्रान्तिकी ही बात करता है, ऐसी दशामे समाजमे शान्ति कैसे होसकती है। देशमे जितनी भी राजनैतिक दलबन्दियाँ हैं उनका नामोनिशान मिटाकर केवल व्यक्तिगत योग्यताके आधार पर जब तक निर्वाचन प्रथाका प्रचलन नहीं होगा तबतक शासकवर्गमे सत्य, धर्म और न्यायकी प्रतिष्ठा कदापि नहीं हो सकती। जैसे मूर्ख विद्यार्थी परीक्षककी खुशामदकर या उसे उत्कोच[1] देकर आजकल वेदान्ताचार्य या फिलासफरका प्रमाणपत्र प्राप्त करना चाहता है वैसे ही स्वार्थी अनधिकारी मूर्खनेता मन्त्रिपद पानेके लिये निर्लज्ज होकर परनिन्दा और आत्मप्रशंसा करता हुआ पैसा बाँटकर सबके सामने वोटकी भीख मागता फिरता है। योग्यको योग्यताका भरोसा होता है, स्वाभिमानी किसीके पैरमे तेल लगाने नहीं जाता। यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है, तब शासितका सुधार भी कैसे हो? सच्चे सात्विक सेवकके हृदयमे अपनी सच्चाई और सात्त्विकताका पुरष्कार पानेकी लालसा कभी नहीं होती। अपनी स्तुति सुनकर उसे संकोच होता है। सारे अधिकार योग्य अधिकारीके दास हैं। अधिकार अधिकारीके पीछे चलता है न कि अधिकारी अधिकारके। आज जो बड़ा साम्यवादी बनता है कल उसे प्रचुर सम्पत्ति मिलजाय तो वही

१—उत्कोच=घूँस।

दूसरोंको नौकर रखकर विषमवादी होजायेगा। आजका समाजवाद या साम्यवाद व्यावहारिक जीवनका कोई ठोस सिद्धान्त नहीं वल्कि व्यक्तिवाद और वर्गविद्वेषका नामान्तर-मात्र है। मानवीय प्रकृति समाजवाद और व्यक्तिवादकी द्वैधी भावनाओंसे मिलकर बनी है अर्थात् मनुष्य एक सीमा तक व्यक्तिगत सुख-सुविधा और स्वातन्त्र्यमे समाजका हस्तक्षेप बरदाश्त नहीं करता और कुछ बातोंमे वह समाजके लिये व्यक्तित्वको उत्सर्ग करदेनेमे आत्मगौरव बोध करता है। अतः शक्ति, अधिकार और अर्थकी सुस्थिर सफल व्यवस्थाका कोई ऐसा ही मध्यका मार्ग खोज निकालना पड़ेगा जिसमे व्यक्तिवाद, समाजवाद और साम्यवादका यथास्थान होते हुए तीनोंका सामंजस्य और समन्वय हो। इतरकी उपेक्षाकर कोई एक व्यवस्था विश्वमे चिरस्थायी न होगी, उसके विरोधमे प्रकृति विद्रोह कर बैठेगी। दलवलशून्य, विना दमड़ी खर्चे देशमे योग्य व्यक्तियोंका निर्वाचन अभीष्ट हो तो जनपदीय पंचायतें सर्वसम्मतिसे अपने जाने-सुने योग्य व्यक्तिको चुनलें और निर्वाचित व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिकारियोंको चुनते जाँय। तभी एकमात्र राजनैतिक शान्ति स्थापित हो सकती है। आजकल देशमे सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची है। इतनी बात अवश्य है कि सामाजिक किसी समस्याका स्थायी, समीचीन समाधान हो या न हो किन्तु नेहरू और राजेन्द्र बाबू प्रभृति दो एक पुराने अनुभवी और प्रभावशाली नेताओंके सतत प्रयत्नसे देशमे आन्तरिक शान्ति अवश्य वनी रही। किसी भी देशकी शासन व्यवस्थामे एक नवीन व्यापक परिवर्तनके बाद शान्ति अत्यन्त महत्त्वकी वस्तु होती है और इसका श्रेय है नेहरूके व्यक्तिगत प्रभाव एवं देश-विदेश

मे उनकी ख्यातिको। किन्तु नेहरूकी जीवनचर्या अँगरेजी और मुसलिम सभ्यताकी देन होनेके कारण उनसे हिन्दूहितोंके रक्षा की आशा बिलकुल बेकार है, तथापि जैसी भी ईश्वरने उनको बुद्धि दिया है उसके अनुसार सच्चाईसे देशहितके कार्यमे वे सदा निरत रहते हैं। विदेशी विचारों और भावों से भारतवर्ष का मस्तिष्क सर्वथा विकृत हो चुका है, बाह्य सिद्धान्तोंसे ही इस समय सब नेता अनुप्राणित हैं। अशोकके धर्मचक्रको महत्त्व और बौद्धबादको कुछ प्रोत्साहन अवश्य मिला है परन्तु इसका कारण आध्यात्मिकता नहीं है। भारतसे बाहर एशिया महाद्वीपके अनेक देशोंके साथ मैत्री एवं सांस्कृतिक सम्बन्धका बौद्धबाद ही एकमात्र सूत्र हो सकता है, इसी कारण गौरव प्रदानकर उस सूत्रको मजबूत किया जारहा है और वैदेशिक नीतिकी दृष्टिसे ऐसा करना कोई अनुचित नहीं है, बशर्ते कि शंकराचार्यके प्रयासमे पानी फेरकर फिरसे स्वदेशमे बौद्धबाद को पल्लवित करनेका कुचक्र न रचा जाय। धर्म, अर्थ और कामके सम्बन्धमे भारतमाता आर्योंके जो सिद्धान्त हैं उन्हें एक स्वरसे साम्प्रदायिक कहकर तिरष्कार करदेना अन्यायके साथ लज्जास्पद भी है। क्रान्तिकालके लिये न सही, शान्तिकालके लिये वे विधान विश्वके श्रेष्ठतम सिद्धान्त हैं और उन्हें अजमा कर देखना चाहिये। देशमे आजकल जितने भी छोटे-बड़े नेता हैं सबलोग व्यापक रूपसे धूमधामके साथ अपना जन्मदिन मनाते देखे जाते हैं किन्तु उन्हींमे बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जो राम और कृष्णको कविकल्पित औपान्यासिक पात्र मानकर रामनवमी और कृष्णजन्माष्टमी ऐसे ऐतिहासिक उत्सवों की, जिन्हें कि सारा देश मनाता है, उपेक्षा करनेमे कुण्ठित नहीं होते। गीता और रामायण ऐसे दो विश्ववन्द्य ग्रन्थ, जो कि

कर्मयोगी गान्धीके दो नयन थे, उन्हें भी यदि सम्प्रदाय विशेष की पुस्तक कहकर राष्ट्रीय जीवनमे गौरवपूर्ण स्थान प्रदान न किया गया तब तो यही कहना पड़ेगा कि भारतका बहुत बड़ा दुर्भाग्य उदय हुआ है। इन ऊलजलूल मनोवृत्तियोंके विरोधमे भारतीय आदर्शोंसे अनुप्राणित बहुतसे विद्वान् साधुसन्त राजनैतिक क्षेत्रमे कूद पड़े हैं किन्तु उनके पास एक तो स्वमत-प्रचारके आधुनिक साधन नहीं, दूसरे जनता अपने संस्कृत साहित्यसे अनभिज्ञ है इस कारण उन बेचारोंकी कोई सुनता नहीं। महाभारतके व्यास भुजा उठाकर बड़े दुःखसे कहते हैं कि धर्माचरणसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, अरे उसका सेवन क्यों नहीं करते, परन्तु उनकी कोई सुनता ही नहीं "ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोतिमे। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥" साधारण पढ़ीलिखी साक्षर जनता गीता, रामायण और भागवतको दैनिक कामकी चीज न मानकर उन्हें चन्दन-तुलसी चढ़ाकर केवल पूजाकी चीज समझने लगी है; व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके जीवन निर्माणमे उनसे प्रेरणा ग्रहण नहीं करती। तभी तो बिच्छूका मन्त्र न जानकर साँपके बिलमे हाथ डालनेवाले लोग संस्कृत साहित्यको मुर्दा जातिका साहित्य कहकर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। कलियुगकी दोहाई देकर आस्तिक जनताको स्वकर्तव्यसे मुख नहीं मोड़ना चाहिये। यह ठीक है कि कालका प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु रज-तमको जीतकर सतयुगके आगमनकी भूमिका भी तो मनुष्यको ही तैयार करनी पड़ेगी? रामायणादिक ग्रन्थोंमे कलियुगके वर्णनके द्वारा जनताको सावधान करनेमे ही कवियों का तात्पर्य है। बदरीनारायणकी यात्रा करनेवालेको यदि किसी अनुभवीने पेटके बीमारीकी अग्रिम सूचना दे दिया तो

वक्ताका उद्देश्य औषधिकी ओर संकेत करना ही होता है। शीतकी भयंकरताका वर्णन सुनकर क्या लोग वस्त्रका संचयन नहीं करते ? ग्रीष्मकालमे तप्त बालूसे खड़े होकर सूर्यताप सहते क्या किसीने किसीको देखा है ? शीतोष्णसे बचनेके लिये वस्त्र और खसकी टट्टी आदिकी जो व्यवस्था कीजाती है क्या मनुष्य का वह प्रयत्न सर्वथा निष्फल ही होता है ? कहीं किसो भी शास्त्रमे किसीको विधिलिङ्ग या लोट लकारमे ऐसा आदेश नहीं दिया गया है कि कलियुगके आगमनके समय स्वेच्छा पूर्वक हृदयमे हिंसा, स्तेय, असत्य और कामका बीज रोपणकर इन्हें पोसना चाहिये|अध्यात्मकी उपेक्षाकर केवल भौतिक ऐश्वर्य की उन्नतिके पीछे मतवाला संसार अभीतक सुख-शान्ति लाभ नहीं कर सका है। सुतरां भारतको भगवच्छरणागतिके साथ ही समाज रचनाके कार्यमे अग्रसर होना चाहिये। यह देश कर्मके जिस तेज प्रवाहमे बहरहा है उस धाराको अब मोड़ देनेकी आवश्यकता है। यही कहनेको जी चाहता है कि भाइयों, बस रुक जाओ, सोचो और लौट पड़ो। भारतका अतीत आध्यात्मिकताके तागेसे बुना हुआ है, उससे अपना सम्बन्ध विच्छेदकर भौतिक समृद्धिके पीछे पड़ना हितकर न होगा। देशको वैदेशिक सिद्धान्तोंका प्रयोगात्मक अखाड़ा बनाना उचित नहीं। शान्तिकालीन समाजरचनाकी अनन्त सामग्रियोंसे संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। 'इनकिलाब जिन्दा-बाद अर्थात् क्रान्तिकी विजय हो' इस मन्त्रकी आवश्यकता अब नहीं है। क्रान्ति विजयी होगई, अब तो शान्तिकी विजय होनी चाहिये और इसके लिये धर्म, चरित्र और परमात्माके पदपंकजों को दृढ़तासे पकड़ना होगा। वर्तमान प्रवाहको रोंककर इस समय देशको एक नये प्रकारके नेतृत्वकी आवश्य-

कता है। भारत भौतिक विज्ञानके साथ आध्यात्मिकताके समन्वयकी कसौटी है। यहाँ यह चीज विफल हुई तो आध्यात्मिक जीवनको इहलोकमे कहीं कोई स्थान नहीं मिलेगा। परम पुरुष परमात्मासे प्रार्थना है कि जिस प्रकार समय-समय पर आध्यात्मिक शक्तियोंको भेजकर उन्होंने भारतको जगाया और गिरनेसे बचाया है उसी प्रकार आत्मविभूतियोंको भूतलमे प्रकटकर देशको नवीन प्रकाश प्रदान करें। अशान्त भारतकी आत्मा भौतिकबाद के भूतसे घबड़ाकर सदाचार, धर्म और भगवान्की अनन्य शरण ग्रहण करती है।



तद्विष्णोः परमं पदम्

नचिकेता मृत्युदेवता यमराजसे ही पूछ बैठा, कहो जी! मरे हुए मनुष्यके बारेमे कुछलोग कहते हैं रहता है, और कुछ कहते हैं नहीं रहता तो असलियत क्या है तुम्हीं बताओ? इस प्रेत-विचिकित्सु[1] बालकको यमराज कहते हैं, बेटा! स्वस्थ होजाओ, डरो नहीं, अपने आत्माको रथी जानो, बुद्धि तुम्हारा सारथी है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन ही उनका लगाम है, संसाररूपीमार्ग है, सावधानीसे शरीररूपी रथमे बैठकर चले जाओ, देखो संसार सरणीसे[2] परे वह विष्णुका परमपद है, जहाँ मृत्यु पहरा दिया करती है, भयकी कोई बात नहीं।

इधर रथके सारथी श्रीकृष्ण भी 'तद्धाम परमं मम' की ओर गाड़ी हाँकते हुए कहते हैं 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' सर्वहर मृत्य मै हूँ, मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भी मै ही हूँ, निश्चिन्त होकर चले चलो, कोई भय नहीं।

अभयवरकी इतनी आसारवृष्टि[3] होने पर भी देवता, असुर, मानव ब्रह्माके ये तीनों पुत्र मृत्युसे भयभीत हैं, इसमे सन्देह नहीं। जो कहता है मै कुछ नहीं मानता उसे भी अगत्या[4] मृत्यु को तो मानना ही पड़ता है। कोई मरना नहीं चाहता, किन्तु मर सभी जाते हैं, यह कैसा आश्चर्य है। भवभयहारी सौम्यमुरारी नरतनधारीको आश्वासन देते हैं, मा भैः मा भैः, सर्वहर मृत्यु

१—प्रेत-विचिकित्सु=मरे हुए आदमीके बारेमे सन्देह करनेवाला या मृतकात्माका जिज्ञासु। २—सरणी=मार्ग। ३—आसार=मूसलाधारवृष्टि। ४—अगत्या=लाचारी अवस्थामे।

हमारा ही स्वरूप है। जगत्मे जो भी मृत्युको भगवान्का स्वरूप मानकर स्वागत करता है वही अमर होजाता है।

देहोऽहम् से ही मृत्युके भयका श्रीगणेश होता है। छान्दोग्य-श्रुतिमे मृत्युग्रस्त देहको आत्मा मानकर सेवन करनेवाले असुर कहे गये हैं। नश्वर देहके अतिरिक्त और भी कोई तत्त्व है, इस बातमे उन्हें कोई तथ्य नहीं जान पड़ता। अस्तिमे उनकी श्रद्धा नहीं, यज्ञदानतपः कर्ममे प्रवृत्ति नहीं। शयनं रमणं पानं भोजनं, बस यही उनका उपनिषद् है। देहं आत्मबुद्ध्या उपासितुम् का यह उपनिषद् असुरराज विरोचनने अपने दैत्या-नुचरोंको सुनाया था।

कोई आस्तिक हो या नास्तक, किसी मृतक शरीरको देखकर मनमे यह प्रश्न उठे विना नहीं रहता कि अन्ततः वह कौन सी वस्तु है कि जिसके रहनेसे आँख देखती थी परन्तु न रहनेसे अब आँख रहते हुए भी नहीं देखती, वाणी नहीं बोलती और सारा शरीर निश्चेष्ट पड़ा हुआ है। जीवद्दशामे अग्निकी एक चिनगारी पड़नेसे जो चौंक उठता था वह चिता की धधकती हुई ज्वालामे क्षार होकर भी कोई आह नहीं भरता तो सुखदुःखका वह अनुभविता कौन है और कहाँ चला गया? जो लोग दैहिक चेतनाको कई वस्तुओंके संघातसे उत्पन्न मान-कर कहते हैं कि वह मोटरकी तरह स्टार्ट होकर काम करती है वे तेल-जल-वायु भरकर मुर्देको फिरसे स्टार्ट क्यों नहीं कर लेते और इस बातका भी जवाब क्यों नहीं देते कि जिन आदमियोंके देहयन्त्रके सब खीलेपुर्जे बिलकुल ठीकनीक, हट्टेकट्टे, ताजे और राजे बने रहते हैं वे मरनेकी इच्छा न होते हुए भी क्यों मर जाते हैं? दाहके पूर्व मृत देहका संघात तो यथावत् बना ही रहता है फिर उसमे चेतना पैदा क्यों नहीं

होजाती ? हृत्पिण्ड बने रहने पर भी हृदयकी गति रुक गई तो क्यों रुक गई और वह गति कहाँसे आती थी ? तस्मात् उस चिन्मय तत्त्वकी मर देहसे एक पृथक् सत्ता मान लेनी पड़ेगी; वह कैसा है और कायासे निकलकर कहाँ जाता है ये प्रश्न अलग हैं। यदि प्राणी सदा जिन्दा ही रहता तब कदाचित् उसे अस्वीकार कर सकता था। देहकी मृत्यु ही देहसे परे जीवनकी कोई सत्ता होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मृत्युको मूर्तिमान् सांख्ययोग कहना चाहिये, वह जड़-चेतन दोनोंको हस्तामलकवत् अलग-अलग करके दिखा देता है।

देहमे नित्य और अनित्य भेदसे दो प्रत्यक्ष भाव देखे जाते हैं। अनित्य नित्यका दृश्य और नित्य अनित्यका द्रष्टा है। बदलनेवाला अनित्य असत् भाव है और न बदलनेवाला नित्य सत् भाव है। असत्य और अनित्य भाव क्षर[1] पुरुष है और जो नित्य सत् भाव है वह कूटस्थ[2] अक्षर[3] पुरुष है। ह्यः[4] मै कोई और था, अद्य[5] मै कोई दूसरा ही हूँ और श्वः[6] परश्वः[7] मै कोई अन्य ही होऊंगा ऐसा अनुभव कोई नर जीवनमे कभी नहीं करता। शैशवमे मैने ही अपनी माताका स्तनपान किया था, कौमारमे मैने ही अमुक पाठशालामे शिक्षा पाया था, यौवनमे मैने ही अमुक भार्याका पाणिग्रहण किया था, मैने ही अमुक विभागमे नौकरी किया था और अब मै ही

१—क्षर=नाशवान्। २—कूटस्थ=गिरिशिखर या लोहार की निहाईके समान अचल और अपरिवर्तितभावसे नित्य स्थिर रहनेवाला। ३—अक्षर=अविनाशी। ४—ह्यः=कल जो बीत गया। ५—अद्य=आज। ६—श्वः=कल जो आयेगा। ७—परश्वः=आनेवाला परसों।

अवकाश लेकर घर बैठे दक्षिणा पाता हूँ—सबलोग ऐसा ही कहते हैं और वास्तवमे अपनेको अनुभव भी ऐसा ही होता है। अतएव शरीरमे यह जो प्रतिक्षण प्रत्यक्ष अनुभवमे आने वाला, सदा एकरस, अपरिवर्तित, नित्य, सत्य त्रिकालाबाधित अहंभाव है, वही अक्षर पुरुष है, वही मै हूँ और वह यथार्थ मे अपनेको जैसा अनुभव करता है स्वयं वैसा ही हैं। अहं की इस अभङ्ग धाराको इस बातका कभी पता नहीं चलता कि शैशवके बाद कौमार और कौमारके बाद यौवन कब आये और कब चले गये। आजका जाग्रत् पुरुष मै कोई और हूँ, परसों किसी दूसरे ने ही स्वप्न देखा था दश वर्ष पूर्व अमुक वृक्षके नीचे सोनेवाला हमसे भिन्न कोई अन्य ही था—ऐसी प्रतीति अपने सम्बन्धमे कभी किसीको नहीं होती। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमे अभिन्न भावसे विराजमान अथच तीनों से नित्य भिन्न सदा एकरस रहनेवाला जो तीनों अवस्थाओं का निर्निमेष[1] द्रष्टा है निश्चय उसी अहं पुरुषको ऐसी अनुभूति होसकती है। दूसरा प्रतिक्षण बदलनेवाला देहका जो विनाशी क्षरभाव है वह भी प्रत्यक्ष देखनेमे आता है। आजके बूढ़े बाबाजी को यदि पड़ोसकी वे मातायें देखें जिन्होंने कि शैशवमे इनकी नन्ही कायाको गोदमे खेलाया था तो वे कदापि पहिचान न सकेंगी और बाबाजी की पकी दाढ़ीको दूरसे देखते ही डरकर भाग जायेंगी। श्वास चलते ही स्व-शैशवकी उस चुहिया कायाको काल कब निगल गया इसका किसी देही को आजतक पता ही नहीं चला। मनुष्य भूलसे ऐसा समझ लेता है कि नदीकी यह वही जलधारा है जिसे वह प्रतिदिन देखा करता है परन्तु तथ्यकी दृष्टिसे तो द्रष्टा

१—निर्निमेष=विना पलक चलाये, एक नजर से।

अनुक्षण नवनीरधारा ही अवलोकन करता है। यह काया आज वही नहीं है जो अष्टमवर्षमे उपनयन कराकर गुरुगृहमे विद्याध्ययन करने गई थी, वह तो साँपके केचुलकी तरह न जाने कब खिसक गई और गुरुजी आज इसे देखकर पहिचान भी न सकेंगे। देह मरता है या मरेगा ऐसा कहनेकी अपेक्षा वह निरन्तर मर रहा है ऐसा कहना अधिक सत्य और संगत है। इस प्रकार मनुष्यकी वर्तमान जीवनधारा मर और अमर दोनों अक्षुण्ण धाराओंका यमुनगांगेय संगम है। देहके साथ जैसे जगत् भी मर रहा है उसी प्रकार हमारी अमर अहन्ता भी विराटके अमृत सरोवरमे सर्वदा समा रही है। मृत्युमे अमृतकी और अमृतमे मृत्युकी इस अनवरत लीलाको जो देखता है वह क्षराक्षर दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तमभाव है। देह और देहीको, क्षर और अक्षरको, दृश्य और द्रष्टाको, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको, मृत्यु और अमृतको, अविद्या और विद्याको, विनाश और सम्भूति[1] के इन युगल भावोंको जो साथ-साथ जानते हैं वही वास्तवमे कुछ जानते हैं और शोकमोहके पल्ले पार पहुँच जाते हैं। वे मृत्युसे नहीं डरते, किसीके मरने पर आँसू नहीं वहाते और अभय होकर कहते हैं 'लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आजावे'। अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा ज्ञानी डंकेकी चोट कहता है कि जैसे तनकी शैशव और कौमार अवस्थायें आकर चली गईं और हमे इसका पता भी नहीं चला, यौवन और वार्धक्य जैसे उदय होकर अस्त होगये और हम ज्योंके त्यों ही बने रहे वैसे ही देहान्तरी वेचारी मौत भी बनठनकर आयेगी और मेरा कुछ बिगाड़ किये विना ही लजाकर चुपके से चली जायेगी, हमे उसके आवागमनका कुछ

१—सम्भूति=अविनाशी, जिसकी सम्यक् सत्ता है।

पता भी नहीं चलेगा और हम ज्योंके त्यों ही बने रहेंगे। पेंड़ के सूखे पत्ते चाहे जब गिरा करें, हरे पत्ते चाहे जब लगा करें उदासी वटवृक्षको इसका लेखाजोखा रखनेकी क्या जरूरत है? पुराने पत्ते गिरनेका शोक वट क्यों करे, उसी स्थान पर नया जो उगता है। नये पत्ते आनेकी खुशी भी वट क्यों मनाये, वह एक दिन जो झड़ेगा। संयोगमे हँसनेवालेको वियोगके आँसू बहाने ही पड़ते हैं। देहकी प्रतिक्षण मृत्युके अमर द्रष्टा होकर भी जो यह कहते हैं कि देहके न रहने पर हम नहीं रहेंगे वे अभी बालक हैं और विद्वानोंके कृपापात्र हैं। हम कभी नहीं थे, नहीं हैं या आगे नहीं रहेंगे ऐसा अस्वाभाविक प्रश्न जीवनमे कभी उठता ही नहीं। ऐसा कोई कभी सोच ही नहीं सकता कि मै नहीं हूँ और यदि सोचले तो घबड़ाकर तुरन्त मरजाय। देह रहे चाहे न रहे परन्तु भाव और अभाव दोनों के ज्ञाताका अभाव कभी नहीं होसकता। जो कहता है कि देह नहीं रहेगा वह देहके न रहने पर अवश्य रहेगा। सच है जो मृत्युको जानता है वह कभी नहीं मरता, जो जन्मको जानता है वह कभी नहीं जन्मता। अब देहपातके पश्चात् अक्षर पुरुष की आत्मसत्ता जब स्वयं सिद्ध होगई तब देहके पूर्वापर उसकी अव्यक्त एवं अदृश्य गति पर विचार करना चाहिये। जीवके देहान्तरकी इस अव्यक्त अवस्थाका विचार और उसकी गवेषणा[1] इतना ही कठिन और सूक्ष्म विषय है जैसा कि निर्वाण[2] प्रदीपकी अदृश्य ज्योतिका आकाशमे अन्वेषण।

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" कठ० द्वि० अध्याये षष्ठ वल्ली। जनताके हृदयमे सदा सन्निविष्ट अन्तरात्मा पुरुष अंगुष्ठमात्र है। अंगुष्ठ-

१—गवेषणा=खोज। २—निर्वाण=जो बुझ गया है।

प्रमाण उस ज्योतिर्मय शिवलिङ्ग ने ही इस सड़ियल शवपुरी को कल्याणमयी शिवपुरी बना रक्खा है। यह पुरुष षोडश-कलावाला है। प्राण ही उसकी आदि कला है। इस जीवात्माका लोकमे संसरण और परलोकमे उत्क्रमण प्राणके संयोगके विना नहीं बन सकता। प्रसिद्ध है "जीवो ब्रह्मैव केवलम्"। परन्तु सृष्टिके लिये स्वयं परमात्मा ही प्राणको स्वीकारकर जीवभावसे परिच्छिन्न होगया है। यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है, छायावत् इस पुरुषमे आश्रित रहता है और मनके किये हुए काम संकल्पसे इस शरीरमे आता है "आत्मन एव प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेना-यात्यस्मिन् शरीरे" प्रश्न उ० ३–३। शकटचक्र[1] की नाभि मे समर्पित अरोंके समान सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्राणोंका ही आश्रय लेकर रहती हैं "अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्" छा० अ० ७, ख० १५, मं० १। जिनको वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन कहते हैं ये और कुछ नहीं सब प्राण ही हैं; प्राण ही यह सब होगया है 'न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति' छा० ५–अ०, १ ख०, १५ मं०। सब इन्द्रियों मे प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, इस प्राणमे ही मनके सहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। चक्षु, श्रोत, मुख और नासिका के सप्तछिद्रोंमे स्वयं प्राण ही सप्ताग्निशिखाके रूपमे प्रकाशित है। पायु[2] और उपस्थ[3] मे अपान एवं कायाके मध्य नाभिमे समान वायु रहता है 'पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासि-काभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः'। जीवात्माके

१—शकटचक्र=बैलगाड़ी का पहिया। २—पायु=गुदा। ३—उपस्थ=मूत्रेन्द्रिय।

निवासस्थान हृदयमे जो एक सौ नाड़ियाँ हैं उनमे व्यानवायु विचरता है। इनके अतिरिक्त हृदयसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर जो एक नाड़ी गई है उस सुषुम्नामे उदान वायु रहता है। मरनेके समय मनुष्यका जो ऊर्ध्वश्वास चलता है वह उदान की ही क्रिया है। 'तेजो ह वा उदानः' उदान ही तेज है। उदान के कारण ही शरीर उष्ण रहता है, इसके निकल जानेसे शरीर ठंडा होकर मृत्यु होजाती है। उदान ही पुण्यकर्मसे जीवको पुण्य-लोकमे, पापसे शूकर-कूकर आदि पापयोनियोंमे और पापपुण्य दोनोंके मिश्रणसे उसे मनुष्यलोकमे लेजाता है 'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य-लोकम्' प्रश्न उ० ३–७। एवं प्रकारेण देहमे पञ्चधा प्राणकी प्रतिष्ठा है। उन्हींसे शरीर टिका है। यह प्राण जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जीवन और मरण सभी अवस्थाओंमे छायावत जीवका अभिन्न संगी है। इन्द्रियाँ केवल जाग्रत्की संगिनी हैं। मन स्वप्नावस्था तक साथ देता है। बुद्धि और अहंवृत्ति भी सुषुप्ति मे लय होजाती हैं। परन्तु प्राण तो श्वास-प्रश्वासके रूपमे सदा चलता ही रहता है, वह नहीं सोता, सोये भी कैसे जबकि पुंरुष सदा जागता है, काया रहते छाया थोड़े ही लय होती है। अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज योनियोंमे प्राण ही वहाँ-वहाँ जीवके पीछे दौड़ता है 'अण्डेषु पेशिषु तरुष्ववि-निश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र' भा० ११–३–३६। जीवात्मा किम्वा पुरुषके शरीरसे बाहर निकल जानेसे प्राण भी उसके पीछे उत्क्रमण करजाता है और मुख्य प्राणके उत्क्रमण करते ही प्राणरूपमे जो सूक्ष्मेन्द्रियाँ हैं वे भी सब उसके पीछे प्रस्थान कर देती हैं 'तमुत्क्रामन्तं प्राणः अनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' बृह० उ० अ० ४

ब्रा० ३, मं० ७। पुनर्जन्ममे मनुष्यका शरीर ही बदलता है, उसका प्राण नहीं बदला करता। प्राणरूपी कामचारी चेतन रथमे आरूढ़ होकर जीव ब्रह्माण्डकी यात्रा किया करता है। सामान्यतः जीवोंका देहान्त होता है, प्राणान्त किसीका नहीं होता और जिसका प्राणान्त होता है वह मुक्त होजाता है। शरीर छूट जाने पर प्राणको अमृत, ब्रह्म और तेजरूपसे वर्णन किया गया है 'अथ अयम् अशरीरः अमृतः प्राणः ब्रह्म एव तेजः एव' बृह० उ० अ० ४, ब्रा० ४, मं० ७। आत्मामे प्राणका विलय होजानेसे जीवका परमपद होजाता है। जो कुछ विश्व का बल है वह प्राण ही है। प्राण चंचल एवं गतिमान् बने रहनेसे जीवको जीवन या मरणमे कहीं लेश भी विश्रान्ति नहीं मिलती। प्राणमे बिन्दु और बिन्दुमे हृत्पुरुष अवस्थित है। बिन्दुक्षोभसे प्राण जितना अस्थिर, अशान्त और अस्तव्यस्त होजाता है उतना और किसीसे भी नहीं होता। इसीलिये तो बिन्दुपातको आत्महत्या कहा है। प्राण शुद्ध होकर स्वस्थानमे सुस्थिर होजाने से बिन्दु भी शुद्ध और सुस्थिर होजाता है एवं बिन्दुके शुद्ध और सुस्थिर होजानेसे उसमे स्थित पुरुषका साक्षात्कार होजाता है। चाहे कोई कितना भी महान् साधक और योगी हो, बिन्दुस्थिरताके विना भी यद्यपि उसे ब्रह्मज्ञान हो सकता है और देहपातके पश्चात् ज्ञानीकी परागतिमे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा परन्तु जबतक बिन्दु शोधित होकर पूर्ण स्थिर नहीं होजाता वह कोटियत्न करे देह रहते साधकको अखण्ड ब्राह्मीस्थिति लाभ नहीं होसकती। दूसरे शब्दोंमे उसे विदेहमुक्ति मिलेगी, वह जीवनमुक्त नहीं हो सकता। प्राणकी इस महानताके कारण ही उपनिषदोंमे उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना कीगई है। प्राण ही प्रेम है, स्थिर प्राण ही ज्ञान है,

प्राणोंकी चेष्टाका नाम ही कर्म है। प्रगाढ़ प्रेममे लोग प्राणप्रिय शब्दका ही प्रयोग किया करते हैं। "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" ॥२॥ "प्राणगतेश्च" ॥३॥ ब्रह्मसूत्र तृ० अ०। मरणकालमे प्राणकी गतिके साथ अप, तेज और भूतत्त्व भी सूक्ष्मरूपसे जीवके साथ जाते हैं, इनके विना भिन्न-भिन्न जीवोंके सूक्ष्मशरीरकी पृथक् संज्ञा नहीं रह सकती। जिसकी कोई संज्ञा नहीं, व्यक्तित्व नहीं वह स्वकर्मफलभोग कैसे करेगा। "अन्नमयं हि सोम्य मन: आपोमय: प्राण: तेजोमयीवाक्" छा० अ० ६, ख० ६, मं० ५। मन अन्नमय है, अन्नका सूक्ष्मतमभाग मन बनता है। जल प्राणमय है, जलका सूक्ष्मतमभाग प्राण बनता है। वाक् तेजोमयी है, तेजका सूक्ष्मतमभाग वाक् बनता है। और अप् मे मन, प्राण, वाक् तीनों समाविष्ट हैं। अप् ही जीवन है, अप् ही शुक्र है, अप् ही पाँचवीं आहुतिमे विश्वप्राणी या पुरुषवाची होजाता है। यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि जीव एकाकी शरीर छोड़कर नहीं जाता वल्कि जैसे एक गृही जब अपना वासा वदलता है तो साथमे अपना पूरा कुनबा और कमाई भी लेता जाता है उसी प्रकार जीव भी मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और कर्मसंस्कारोंके साथ ही आताजाता है। देहान्तरमे संग जानेवाली ये वही सूक्ष्मेन्द्रियाँ हैं जिनसे जीव स्वप्नावस्थामे देखने-सुनने आदिका काम करता है। गीता अ० १५, श्लोक ७-८-९-१० से भी यही बात पुष्ट होती है। 'जीवलोकमे मेरा ही सनातन अंश जीवभावको प्राप्त होकर प्रकृतिमे रहनेवाली आंख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वाके सहित छठे मनको आकर्षित करता है। वायु जैसे गन्धाशयसे गन्ध लेकर उड़ता है, वैसे ही यह ईश्वर जब शरीरमे आता और शरीरसे जाता है तो मन और इन्द्रियों को लेकर ही आवागमन करता है। देहमे श्रोत्र, चक्षु,

त्वचा, रसना, घ्राण और मनके सहारे ही यह विषयोंका सेवन करता है। यह जीव राजोगुणमे आसक्त होकर विषयोंको भोगता है, सतोगुणसे देहमे स्थित रहता है, तमोगुणसे देहको त्यागकर उत्क्रमण[1] करजाता है। जिनके ज्ञाननेत्र खुल गये हैं वे तीनों गुणोंसे भिन्न इस तत्त्वको सभी अवस्थाओंमे देख लेते हैं परन्तु जो मूढ़ हैं वे मायाके गुणोंमे ही भूले रहते हैं, इसे नहीं देख पाते'। अब देखना है कि शरीरमे इस जीवके आनेका क्रम क्या है।

गीता अध्याय ३, श्लोक १० से १६ तक भगवान् ने सृष्टि को एक यज्ञचक्रके रूपमे वर्णन किया है। यज्ञके साथ ही देवता और मानव दोनोंको उत्पन्नकर प्रजापतिने कहा कि तुम दोनों इसके द्वारा परस्पर उन्नति करो। परस्पर आदान-प्रदान की जो क्रिया है वही यज्ञ है। मानवदेहकी उत्पत्ति यज्ञसे हुई है। यज्ञसे ही जीव या पुरुषतत्व इस शरीरमे आया है। आदित्यरूपी[2] समिधासे देदीप्यमान द्युलोकाग्निमे देवताओंने श्रद्धाको होमा उससे सोमका सम्भव हुआ। पर्जन्य[3] रूपी द्वितीयाग्निमे देवताओंने सोमको होमा उससे वर्षा हुई। पृथिवीरूपी तृतीय अग्निमे देवताओंने वृष्टिकी आहुति दिया उससे अन्न हुआ। पुरुषकी वैश्वानराग्नि[4] मे देवताओंने अन्न को होमा उससे रेत[5] की उत्पत्ति हुई। योपित्[6] रूप पञ्चमाग्नि मे देवताओंने वीर्यकी आहुति डाला तब गर्भ रहा। रेतके रूप

१—उत्क्रमण=शरीरका त्याग कर जीवका स्वर्गादि लोकों मे जाना। २—आदित्य=सूर्य। ३—पर्जन्य=मेघ। ४—वैश्वानराग्नि=पेटमे रहनेवाली अग्नि। ५—रेत=वीर्य। ६—योपित=स्त्री।

मे यह अप्[1] ही प्राणी या पुरुषवाची होगया है। मातृगर्भमे जरायुसे ढका हुआ यह जीव नौ-दश महीने सोता और फिर उत्पन्न होजाता है। यही मानव समाज किम्वा सम्पूर्ण जीव समुदाय है। छान्दोग्य अ० ५, खण्ड ४ से ६ तक इसे विस्तार से देखना चाहिये। पूर्वक्रमको देखनेसे विज्ञात होता है कि जो उत्पन्न होता है वही देवताओंका होमद्रव्य बनता है। अतः शरीरधारी जीव संसारमे होमद्रव्यके रूपमे उत्पन्न हुआ है। अक्षर पुरुषको ही आदिपुरुष, ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदिके रूपमे वही अधिदेव होगया। चक्षु, श्रोत्र आदिके रूपमे वही अध्यात्म होगया। संसारमे जितने नाम-रूप या नाशवान् मूर्तियाँ हैं वही अधिभूत किम्वा क्षरपुरुष है। चूँकि देवताओंके आत्मदानसे मानवशरीरकी उत्पत्ति हुई है इसलिये अब वे सब इससे अपना भोजन मागते हैं। माता-पिता बच्चेको पैदा ही इसलिये करते हैं कि वह उनका भरण-पोषण करे। जितने देवता हैं सब अपना यज्ञभाग लेनेके लिये मनुष्यशरीरमे आकर प्रतिष्ठित होगये हैं। पितर चन्द्रके द्वारा मनमे आगये। बुद्धिमे चतुर्मुख ब्रह्मा जी, अहंकारमे शंकर, चित्तमे अच्युत, चक्षुमे सूर्य, श्रोत्रमे दिक्, त्वक्मे वात, रसनामे वरुण, घ्राणमे अश्विनौ, वाक्मे वह्नि, हस्तमे इन्द्र, पादमे विष्णु, पायुमे मित्र और उपस्थमे प्रजापतिका वास रहता है। इस प्रकार देवताओंका अधिष्ठानरूप यह मानव-शरीर उत्पन्न होकर आयुपर्यन्त जीता है और जब मरता है तब ये देवता ही यज्ञार्थ कर्म करनेवाले इस पुरुषको अग्निसे मिला देते हैं और तब अग्न्यादिदेव इसको जहाँसे आया है वहाँ पहुँचा देते हैं। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि

१—अप्=जलतत्त्व।

इन्द्रियोंमे केवल देव ही नहीं, असुर भी बसते हैं क्योंकि देवासुर दोनों प्रजापतिकी सन्तानें हैं तथा देवता छोटे भाई हैं और असुर हैं ज्येष्ठ एवं वलीयान्। तभी तो मनोवागादि इन्द्रियाँ सत्य और असत्य दोनोंका संकल्प और संभाषण करती हैं। मूल समझनेके लिये बृहदारण्यक प्रथम अध्याय तृतीय ब्राह्मण देखना चाहिये। वयस् और बलमे ज्यादा होने के कारण आसुरी भावोंने इन्द्रियोंके उपर अपना अधिक प्रभावविस्तार कर रक्खा है। असुरोंने वाक्, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनादि सभी इन्द्रियोंको पापविद्ध कर दिया है। देहमे जो चित्तत्व, प्राण अथवा जीवात्मा है केवल उसीको असुर लोग पापविद्ध नहीं कर सके, अतः जीव यदि सचेत होकर यज्ञ-दान-तपके द्वारा इन्द्रियोंको असुरोंके हाथसे विजय-कर देवताओं की अर्चना नहीं करता तो मरनेके बाद असुर ही प्राणको हर लेजाते हैं और तब पुरुष स्वधामको न जाकर अधोयोनियोंमे असकृत्[1] जन्मता-मरता हुआ भटकता रहता है। यज्ञार्थ कर्मसे विमुख मनुष्योंको गीता कहती है कि वे उदरंभरी अपने पेटके ही लिये पकाते और पाप खाते हैं। इन्द्रियोंके आराममे फँसे हुए ऐसे अघायु[2] जन लोहारकी धौंकनीके समान श्वास लेते व्यर्थ ही जीते हैं। अतएव देहमे देवताओंको ही कर्त्ता-भोक्ता जानकर उन्हींमे अपने प्राणोंको होमना चाहिये, अन्यथा संसारसे उद्धार नहीं हो सकता।

सृष्टिके यज्ञचक्रमे मनुष्यप्राणी या पुरुषको उत्पन्न करने के लिये देवताओंने सर्व प्रथम द्युलोकाग्निमे श्रद्धाकी आहुति डाला था। अतएव यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जिस श्रद्धावाला

१—असकृत=बारम्बार। २—अघायु=जिनकी सारी उम्र पाप कर्म करते बीतती है।

है वह स्वयं वही है "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" गीता १७-३ । 'श्रत् सत्यम् दधातीति श्रद्धा' जो सत्यको धारण करे वही श्रद्धा है, मनुष्य जिसको भी सत्य मानकर धारण करलेता है उसीमे उस प्राणीकी श्रद्धा होजाती है । श्रद्धास्वरूप होनेके कारण कोई जीव श्रद्धाके विना नहीं रह सकता । 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' प्रश्न० ६-४ । पुरुषने प्राण सृजा और प्राणसे श्रद्धाको उत्पन्न किया । इसलिये जहाँ प्राण है वहाँ श्रद्धा अवश्य है । श्रद्धाशून्य कोई प्राणी नहीं । षोडश कलावाले पुरुषकी प्राण प्रथम और श्रद्धा दूसरी कला है । श्रद्धा करनेमे जीव परवश है, उसे कहीं न कहीं श्रद्धा करनी ही पड़ेगी । किस वस्तुमे श्रद्धा करे और किसमे न करे वस केवल इसीमे जीवका स्वातन्त्र्य है । तभी तो जो अभागे ईश्वर, धर्म और शास्त्रमे श्रद्धा नहीं करते उनके श्रद्धाके पात्र होते हैं सुत, वित और नारि; लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा । अतएव जबकि श्रद्धासे जीव को अपना पिण्ड छुड़ाना ही असम्भव है तव संसारमे ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो सत्य, धर्म और भगवन्निष्ठासे विमुख होकर कीर्ति, कंचन और कामकी उपासना करने जायेगा । जैसी जिसकी श्रद्धा होती है उसीके अनुरूप योनिमे देवतालोग उस जीवके प्राणको होम देते हैं । किस जीवको कहाँ जाना है उस गतिका निर्णय देहपातके पश्चात् नहीं प्रत्युत श्वास निकलनेके कुछ पहिले ही हो जाता है । जीवदशामे स्थूलकायाके भीतर श्रद्धारूपी साँचेमे एक सूक्ष्मशरीरका निरन्तर निर्माण होरहा है, मरनेके वाद तुरन्त वह काया जीवको मिल जाती है । उसे आगे किस मार्ग से ज़ाना है उसका टिकट मरणपूर्व इसी शरीरमे जीवको मिल जाता है । जिस श्रद्धामे चेतनाको ढाला गया है वही उस

प्रेतात्मा[1] का सूक्ष्म और कारण शरीर होता है। लिङ्गदेहका निर्णय होजाने पर जन्म या स्थूलदेहका मिलना तो इसी प्रकार है जैसे चश्मा, घड़ी, कलम और ब्लेड प्रभृति जो चीजें जैसी होती हैं उसी आकार-प्रकारका उनका वाह्य रक्षक कोश या स्थग[2] भी होता है। मानवचेतना पाकर भी जो पशुवत् आचरण करते हैं वे मरकर पशु होंगे, जिनके आचरण दिव्य हैं वे देवता होंगे और जो मध्य स्थितिमे रहकर मानवधर्मका अनुवर्तन करते हैं वे मनुष्य होंगे। इन्द्रियदमनसे देवयोनि और दानसे मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होती है। सारा जीवन जिसकी जैसी सहज वृत्ति बनजाती है वही मरनेके समय उसके चेतनाकी स्थिति होती है "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" ॥ गी० ८-६ ॥ जीव सर्वदा जिस भावसे भावित रहता है अन्तकालमे वही भावना बलीयसी रहती है और जो जिस भावका स्मरण करते हुए कलेवर त्यागता है उसी भावको वह प्राप्त होता है। अन्तकालमे धर्म करलेंगे, ईश्वरको भज लेंगे ऐसी चालाकी उस समय नहीं चल सकती। कर्मका स्थान तो केवल जीवदशामे ही है। शेष समय परीक्षा का समय है, वह पढ़नेका समय नहीं है। प्रश्नपत्र पर जिस विद्यार्थीने जितना लिखा है उसीसे उसके भाग्यका निर्णय होगा। सुतरां सतत सावधान होकर श्रद्धा और निष्ठामे सुधार करलेना चाहिये। सत्त्व, प्रकृति या बुद्धिके अनुरूप ही सबकी श्रद्धा हुआ करती है 'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत' गी० १७-३। श्रद्धा, धृति और चेतनाकी नितरां स्थिति अर्थात् निष्ठा ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। चूँकि सत्त्वानु-

१—प्रेत (प्र+इतः) देहको छोड़कर जानेवाले जीवकी प्रेत संज्ञा है। २—स्थग=वाह्य आच्छादन या ढक्कन।

रूपा श्रद्धा होती है इसलिये सत्त्वकी शुद्धि प्रथम कर्तव्य है। आहारशुद्धिमें सत्त्वशुद्धि श्रुतिप्रमाण है। "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" छान्दोग्य अ० ७, ख० २६, मं० २। आहार अर्थात् भोगद्रव्यकी शुद्धिसे सत्त्व अर्थात् बुद्धितत्त्व शुद्ध होता है, उससे ध्रुव आत्मस्मृति और देहोऽहं की विस्मृति होजाती है, आत्मबोध उदय हुआ कि हृदयकी सब ग्रन्थियाँ पटापट खुल जाती हैं, तनमनभाजनका जितना भी कष्ट है सब दूर होजाता है, तब 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की विनय सुनकर भगवान् सनत्कुमार ज्ञानावस्थितचेतस् के लिये ज्योतिर्मय मार्ग दिखला देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। आत्मा ही सत्य और भूमा है। सच्ची धारणा ही श्रद्धा है। अतः जो कुछ आत्मासे अन्य, असत्य और अल्प है उसके प्रति कभी भूलकर भी श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। निष्ठाकी निरुक्ति है "निस्तिष्ठति" सम्यक् स्थिति। सुतरां अस्थिर वस्तुके प्रति जो निष्ठा है वह निरर्थक है। आहारानुसारिणी सबकी बुद्धि होती है। जैसी मति वैसी ही श्रद्धा। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसी ही उसके चेतनाकी स्थिति या निष्ठा चेतनाकी जैसी सदा स्थिति, मरनेके बाद जीवकी वही अन्तिम गति। चेतनाकी स्थिति देहकी कृति पर निर्भर करती है। कर्मकी यह प्रवृत्ति सुखानुभूतिके आश्रित है। सुख आत्माके अधीन है। आत्मासे अन्य जो अल्प है उसमे सुख नहीं हो सकता। "यदा वै श्रद्धाति अथ मनुते; यदा वैनिस्तिष्ठति अथ श्रद्धाति; यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति; यदा वै सुखं लभते अथ करोति; यो वै भूमा तत्सुखं न अल्पे सुखम् अस्ति; यो वै भूमा तत् अमृतं अथ यत् अल्पं तत् मर्त्यम् अस्तीति"

छान्दोग्य अ० ७, खण्ड १६ से २४। अतः जो आत्मप्रकाशके ही लिये कर्ममे प्रवृत्त होता है, जो आत्मज्ञ, आत्मनिष्ठ और आत्मरत है जीवन-मरणमे कभी कहीं भी उसकी दुर्गति नहीं हो सकती। आत्मज्ञानी तो अमृतत्व लाभ करता है, मरता वह है जो आत्माको न जानकर नानात्वको जानता है। जीव जिस क्षणमे अपनेको जानता है उस समय वह अन्य सब भूल जाता है और जब नानात्वको जानता है तब आत्म-विस्मृत होजाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य है।

मनुष्य इतना अल्पज्ञ है कि अपने ही हाथों कोई चीज कहीं रखकर दूसरे क्षण उसे भूल जाता है और अन्धेके समान घण्टों खोजता भटकता-फिरता है। अस्तु जो जीवनकी ही सब बातोंको नहीं जानता उसके लिये मरण सम्बन्धी बातोंका विचार करना निःसन्देह एक जटिल पहेली है। कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं कि जो अभी तक प्रश्न ही बने हुए हैं, उनका सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिल सका है। जैसे जबकि सभी लोग इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिको लेकर शरीर छोड़कर जाते हैं तो सभीको निद्रासे जगे हुए मनुष्यके समान स्वभावतः पूर्व-जन्मकी सब बातें याद होनीं चाहिये। भगवान् एक ओर तो यह कहते हैं कि जीव पूर्वदेहके बुद्धिसयोगको लाभ करता है 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' और दूसरी ओर अध्याय ४ के पञ्चम श्लोकमे यह भी कहते हैं कि मेरे-तेरे बहुतसे जन्म बीत गये, मै उन सबोंको जानता हूँ, तू नहीं जानता। पूर्वजन्मकी बातोंको कोई जीव नहीं जानता यह तो प्रत्यक्ष ही है, किन्तु प्राक्तन बुद्धिसंयोगको पाकर भी वह नहीं जानता तो क्यों नहीं जानता? कदाचित् इस प्रश्नका अधिकसे अधिक यही उत्तर दिया जा सकता है कि मनुष्यको जबकि

इसी जीवनकी बचपनसे अबतक की सारीघटनायें स्मरण नहीं तो पूर्वजन्मकी बातोंका ज्ञान तो बड़ी दूर की बात है। जो इस जन्मकी बातें इसी जन्ममे भूल जाय उस क्षुद्र स्मृतिमे पूर्व-जन्मकी बातें भला कहाँसे आयें? मनुष्य कितना श्रम और समयका व्ययकर भाषा, साहित्य, कला और विज्ञानको आयत्त करता है और दूसरे जन्ममे फिर वही डुकृञ् करणे रटना पड़ता है, किसीको कुछ याद ही नहीं रहता। मनुष्योंमे बौद्धिक न्यूनाधिक्य देखकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म की सीखी विद्या परवर्ती जन्ममे दूसरों की अपेक्षा उसे शीघ्रतर आजाती है और यह ठीक भी है। नचिकेताकी मृत्युविषयिणीजिज्ञासा पर इस प्रश्नकी निगूढ़ता सिद्ध करते हुए यमराजने भी 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्, बहून् पशून्, हस्तिहिरण्यमश्वान् वृणीस्व' का प्रलोभन दिखाकर यही कहा कि नचिकेतः! तुम मरणकी बात मत पूछो 'नचि-केतो मरणं मानुप्राक्षीः'। परन्तु अपनी सत्ताका अभाव अनुभव न करते हुए भी जब मनुष्य दूसरोंके मुर्दोंका दाहकर अपने मृत्युकी कल्पना कर ही लेता है तब उसे सहज ही इस तत्त्वकी जिज्ञासा उठती है कि जैसे स्वप्नावस्थामे दैहिक और जागतिक बोध लुप्त होकर भी किसी न किसी रूपमे आत्मप्रतीति तो होती ही है उसी प्रकार देहान्तर होने पर निश्चय आत्मसत्ता विनष्ट नहीं होसकती, अतः उसका क्या होता है? मृत्यु-जिज्ञासाके बिना ब्रह्मजिज्ञासा अधूरी रह जाती है। पुनश्च, जितने भी भारतीय अध्यात्मशास्त्र हैं उनका अन्तिम लक्ष्य जन्ममरणके चक्करसे छूटकर मोक्षलाभ ही बताया गया है। अतः विचार तो करना ही चाहिये परन्तु देहान्तरकी अव्यक्त अवस्थाके सम्बन्धमे विचार-बुद्धिकी अपेक्षा शास्त्रवचन ही

अधिक प्रमाण हैं। मरणकालीन भावनाके अनुसार प्रत्येक प्राणी की गति मानी गई है। अनन्त जीवोंके अनन्त भाव होने के कारण उनकी अनन्त गतियाँ होती हैं, विचारके द्वारा उनका पार पाना बहुत ही कठिन है। सुतरां यहाँ तो शास्त्रोक्त मोक्ष-बन्धन एवं देवयान-पितृयान पथका वर्णनकर प्रस्तुत निबन्ध का अवसान किया जायेगा।

सात्त्विक, राजस, और तामस भेदसे मानुषी प्रकृतिमे त्रिविध भाव होते हैं। जीवनमे तदनुसार ही मनुष्यकी श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान, ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृतिके भी तीन-तीन भेद होगये हैं। गुणभेदसे जैसा जिसका जीवन वैसी ही मरणमे प्राणोंकी त्रिविध गति। मानवीय प्रकृतिके इस त्रिवृत्करणका विस्तार गीता अध्याय १४, १७ और १८ मे देखना चाहिये। पुरुष प्रकृतिस्थ होनेके कारण जिसके जीवनकी निखिल चेष्टायें जिस गुणकी सूचीमे आती हैं तदनुकूल ही उसकी गति होती है। गुणसङ्ग ही इस पुरुषके उत्कृष्ट और निकृष्ट योनियोंमे जन्मका कारण है 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' गी० १३-२१। इस रहस्यको जानकर मनुष्यको अपना जीवन तो सात्त्विक बनाना ही चाहिये परन्तु देहान्तरमे सद्गति लाभके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्यके अन्तिमकालमे प्रकृतिका जो गुण प्रबल रहता है उसी भावको पुरुष प्राप्त होता है। मरणकालमे रहती है बेहोशी, उस समय अपनी कोई इच्छा नहीं चलती। इसलिए आशा यह कीजाती है कि जीवन-भर जैसा अभ्यास पड़ा रहेगा वही भाव प्रकृतिमे शेषसमय प्रधान होगा।

अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह, अज्ञान, आलस्य, निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं। तमसे ढककर मानवीय चेतना

पशु-पक्षियोंके स्तरमे चली जाती है। मनुष्यजन्म पाकर भी आहार, निद्रा, मैथुन, भय उस चेतनाके मुख्यधर्म होजाते हैं। लोकमे भी यह देखा जाता है कि स्वकर्तव्यका पालन न कर जब कोई कर्मचारी अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करता है तो वह पदच्युत करदिया जाता है। ईश्वरने मनुष्यको वुद्धि दिया है मानवधर्मका पालनकर देवत्वलाभके लिये, परन्तु वुद्धिसे काम न लेकर अयोग्यताका परिचय देनेसे ईश्वर मनुष्यको बुद्धितत्त्वसे वंचितकर पशु-पक्षियोंकी अधस्तन चेतनामे ढकेल देता है। "जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:" गी० १४-१८। निकृष्ट गुणवृत्तियोंमे स्थित चेतना-वाले तामसी पुरुष मनुष्यसे पशुयोनिकी ओर अधोगामी हो जाते हैं। ये अवरोहा जीव हैं। "तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़-योनिषु जायते" गी० १४-१५। जिस समय प्रकृतिमे तमोगुण बढ़ा हो उस समय मौत होजानेसे बोधशून्य पश्वादि मूढ़-योनियोंमे जीवका जन्म होता है। "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता: । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:" ईश उ० मं० ३। आसुरीलोक अज्ञानान्धकार से आवृत हैं। काम, क्रोध और लोभसे आत्मनाश करनेवाले तामसी-लोग मरकर वहीं जाते हैं। "अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" छान्दोग्य अ० ५, ख० १०, मं० ७। इस लोकमे जो कुत्सित आचरणवाले होते हैं वे अचिरात् अशुभयोनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं। गीता अ० १६ के १८, १६, २० श्लोकोंमे भगवान् कहते हैं—'अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय लेकर

जो लोग अपने और दूसरोंके देहमे रहनेवाले मुझ परमात्मासे द्वेष करते हुए किसीके गुण ही मे दोष खोजने लग जाते हैं उन क्रूर अधम नरोंको मैं संसारकी असुरयोनियोंमे फेंक देता हूँ। आसुरीयोनिको प्राप्त वे मूढ़ शैलशिखरच्युतशिलाके समान जन्म-जन्ममे नीचे ही ढनगते चले जाते हैं, मुझे कभी नहीं पाते'। यह हुई प्रेतात्मा की तामसी स्थिति।

'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' गी० १६-१८। रजोगुणी जीव मरकर मध्यमे ठहरते हैं, ऊपर-नीचे कहीं नहीं जाते। देवत्व और पशुत्वके बीचमे होने के कारण मानुषी चेतना ही है बीचकी स्थिति। मध्यवर्ती देश सीमावर्ता उभय देशोंसे ही प्रभावित होता है। तस्मात् दैवीभावोंकी तरंग आजानेसे मनुष्यके द्वारा कभी पुण्यकर्म भी होजाता है और पशुभावापन्न होकर वह कभी-कभी पाप भी कर डालता है। पाप-पुण्य दोनोंके मिश्रणसे मनुष्ययोनि मिलती है, सामान्यतया वह होती है रजोगुण प्रधान। राग, तृष्णा, प्रवृत्ति, कर्मासक्ति रजोगुणके धर्म हैं। अतः 'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते' गी० १४-१५। प्रकृतिमे जिस समय रजोगुण प्रबल हो उस समय यदि किसीका निधन[1] होजाय तो वह कर्मसङ्गी मनुष्योंमे जन्म ग्रहण करता है। 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा' छान्योग्य अ० ५, ख० १०, मं० ७। मनुष्योचित आचरणवालेलोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि योनियोंमे शीघ्र ही जन्म लेते हैं। बारम्बार जन्मलेना और मरना ही क्षुद्र राजसी और तामसी जीवोंका स्वभाव है 'इमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व

१—निधन=मृत्यु।

मृयस्व इति'। पाप-पुण्य दोनों प्रकारके कर्म करनेवाले जितने भी मनुष्य हैं उनको मरनेके बाद कुछ दिनके लिये प्रेतियोनि अवश्य मिलती है। उनका वायुमय शरीर होता है। ऊपर-नीचे कहीं जानेका मार्ग उनको नहीं मिलता, वे इस पार्थिव वायुमण्डलमे ही रह जाते हैं। इनके उद्धारके लिये विधिपूर्वक श्राद्ध-पिण्डदानादि करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेतयोनि बड़ी खराब है। यदि कर्म कुछ अच्छे हों, उनके पितरलोग सन्तुष्ट होकर दया करें तो पिण्डदानादिके द्वारा वे पितृलोक जा सकते हैं। ऐसा न हुआ तो भी पिण्डदान व्यर्थ नहीं जाता। वे प्रेतयोनिसे मुक्त होकर जल्दीसे जल्दी जन्म ले लेते हैं। प्रेतयोनिमे पड़े रहनेकी अपेक्षा मनुष्यजन्म ग्रहण करलेना उनके लिये अधिक हितकर होता है। मनुष्ययोनिमे कर्मके द्वारा इनको आत्मविकास का अवसर मिलता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी पशु स्वभावमे स्थिर होकर सर्व कर्म सम्पादन करनेके कारण कभी प्रेतयोनिमे नहीं जाता। रजोगुणी मनुष्य ही मरकर प्रेत होता है। जन्माभिमुख बहुसंख्यक आत्मायें प्रेतयोनिमे रहा करती हैं। जो स्त्री-पुरुष जप-तप, नियम और व्रतसे शुद्ध होकर शुभमूहूर्तमे गर्भाधान नहीं करते, अशुचि और असावधान होकर केवल इन्द्रियाराम के लिये स्त्रीसमागम करते हैं उनके रज-वीर्यसे ज्यादातर निम्न-कोटिकी ये प्रेतयोनिप्राप्त आत्मायें ही जन्म ग्रहण करती हैं और आजकल ऐसा ही होरहा है। सम्प्रति भूलोकमे ऊपरकी आत्माओंका आना बहुत कम होगया है।

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था:" गी० १४-१८। जिनकी प्रकृति सतोगुणमे स्थित है वे मरकर ऊर्ध्वलोकोंमे जाते हैं। इन स्वर्गयात्री जीवोंकी श्रद्धा, मति, धृति, कृति, गति सब

सात्त्विक होती हैं। सतोगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश और अनामयरूप है। मन और इन्द्रियोंकी स्वस्थता ही अनामय है। अन्तर्मुखीन इन्द्रियाँ जब विषयोंसे उपरत होजाती हैं तब अन्तरमे प्रकाशका उदय होता है। अन्तःप्रकाशसे चित्तमे प्रसन्नता और प्रसादसे सर्वदुःखोंकी हानि होती है। वस्तुगत या विषयेन्द्रियसंयोगसे उत्पन्न हुआ सुख क्षणिक होता है। अन्तःसुखमे वाह्यविषयोंकी अपेक्षा नहीं रहती। जैसे निद्रा का सुख जगत्के अभावका सुख है। चार दिन नीद न आये तो सुतवितनारिके समस्त सुख दुःखमे वदल जाँय। वैसे ही सात्त्विक सुख विषयोंके अभावका सुख है, आत्मभावका अन्तः प्रसाद है। जिस समय देहके सव द्वारोंमे प्रकाश और अन्तः-करणमे ज्ञानका उदय हो उस समय प्रकृतिमे सतोगुण बढ़ा हुआ समझना चाहिये। "यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते" गी० १४–१४। सत्त्व-वृद्धिके क्षणमे यदि किसी की मृत्यु होजाय तो वह उत्तमको जाननेवाले देवताओंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है। सात्त्विक पुरुषोंके हृदयमे भी कभी-कभी रज-तमका उदय होजाता है इसलिए 'यदा' पदसे सत्त्वोदयके क्षण पर जोर दिया गया है।

रज-तम क्षीण हुए विना स्वभावमे सतोगुणका उदय नहीं होता। प्रकाशरूप होनेके कारण यह सत्त्व ही वह अग्नि है जो जीवको मृत्युके अनन्तर ऊर्ध्वलोकोंमे आहरण करके लेजाता है। इसी अग्निकी एक धूमायित शिखा वाक् है। इसीलिये लोकमे वाणीका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। मूर्धाके पथमे जहाँसे कि सुषुम्ना मस्तकको भेदकर ऊपर निकल गई है वहीं सूक्ष्मरूपसे यह दिव्य अग्नि विद्यमान है। अज्ञानी जीव इस अग्निमे सर्वदा संकल्प-विकल्प रूपी जल ढालता रहता है, उसे

प्रज्वलित नहीं होने देता। मानसिक संकल्प-विकल्पका ही नाम रजोगुण है। जिनका रज शान्त नहीं हुआ है उनको इस आध्यात्मिक अग्निका पता ही नहीं। रजोभावके द्वारा अधोमुखी होकर प्राण इन्द्रियोंको विचलित करदेनेसे जीवका ऊर्ध्वपथ अवरुद्ध होजाता है। संकल्पशून्यता, निश्चिन्तता और इन्द्रिय-ग्रामके संयमसे प्राण चन्द्र-सूर्य नाड़ियोंको छोड़कर स्वतः सुषुम्नामे विचरने लगता है। शनैः शनैः इस प्रकार अभ्यास करनेसे अपान प्राणसे मिलकर ब्रह्मरन्ध्रका सूक्ष्मपथ खोल देता है। उस पथके द्वारा ऊपरसे किरणें आकर जीवनमे सात्त्विकताकी दिव्य अग्नि प्रज्वलित कर देती हैं। संकल्प-शून्य साधकके द्वारा स्वकर्मकी आहुति पड़नेसे वह अग्नि धधक उठती है। तब यह शरीर वास्तवमे यज्ञशाला होजाता है। अपनी-अपनी अभिरुचिके अनुसार साधकगण इस ज्ञानाग्निमे जीवनकी अखिल चेष्टायें होमकर स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ अथवा ज्ञानयज्ञ किया करते हैं। चिताकी आग जैसे शवको भस्म करडालती है वैसे ही ज्ञानाग्निमे अन्तर्मल जल जाता है। षोडशकलावाला यह पुरुष अपनेको इस अग्निमे होमकर परमपद प्राप्त करलेता है।

दिलमे आग लगे बिना साधनमे वेग नहीं आता। इस आगमे मानवजीवन एक गीली लकड़ीके समान है। भीगी लकड़ीको जब आग पकड़ती है तो जबतक उसका जलांश नहीं जल जाता, उससे धूम निकलता रहता है, आग प्रज्वलित नहीं होती। उसी प्रकार सात्त्विकताकी इस आगमे जबतक अन्तः-करणका सम्पूर्ण मल विदग्ध नहीं होजाता तबतक वह अग्नि धूमाकार ही रहता है। इसीलिये उत्क्रमण या मरके ऊर्ध्व-

गमन करनेवाले जीवोंकी अर्चि[1] और धूमके भेदसे द्विधा गति मानी गई है। प्रकृतिमे सतोगुणका उदय तो होगया हो परन्तु रज-तम सम्पूर्ण विनष्ट न हुए हों उस समय यदि योगीकी मृत्यु होजाय तो वह पितृयान या धूममार्गसे चन्द्रलोक तक जाकर पुण्यक्षीण होनेके बाद इस मर्त्यलोकमे ही पुनः लौट आता है। और यदि रज-तमका विनाशकर प्रकृतिमे सात्त्विकता का पूर्ण उदय होगया हो तो वह साधक पुरुषका साक्षात्कारकर मृत्युके बाद ब्रह्मलोकको जाता है। योगारूढ़का धूममार्ग और अक्षर पुरुषके ज्ञाताका अर्चिमार्ग समझना चाहिये। रज-तम स्वभाववाले मनुष्योंका ऊर्ध्वपथ ब्रह्मरन्ध्र बन्द रहता है, वे उक्त दोनोंमे से किसी भी मार्गसे नहीं जाते 'अथ एतयोः पथोः न कतरेण च' (तौ गच्छतः)—छान्दोग्य।

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' ईश० मं० १८। हे अग्ने, हे राये, हमको सुपथसे ले चलो। यहाँ अग्नि और रयिसे क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गका संकेत है। प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नमे इसका विस्तार देखना चाहिये : सृष्टिकामी प्रजापतिने प्राण और उसका भोग्यान्न रयि बनाया। रयिके उपासक दक्षिणायन और प्राणस्थ पुरुषके उपासक उत्तरायण मार्गसे प्रयाण करते हैं। प्राण और रयिको ही दूसरे शब्दोंमे पुरुष और प्रकृति, परा और अपरा, द्रष्टा और दृश्य अथवा भोक्ता और भोग्य कहा गया है। इस देहमे प्राणमे रहनेवाला जो पुरुष है वह आदित्यसे और प्रकृति चन्द्रमासे आई है। मन सहित ११ इन्द्रियोंका अयन अर्थात् निवासस्थान चन्द्रमा है और प्राणपुरुषका अयन सूर्य है। देहमे जो जिसे भजता है देह छोड़कर अन्तमे वह उसीको प्राप्त होता है। 'रयिरेव

१—अर्चिष्=अग्निशिखा।

चन्द्रमा; मूर्तिरेव रयिः, रयिः दक्षिणायनम्, एष ह वै रयिः यः पितृयाणः कृष्णपक्ष एव रयिः, रात्रिरेव रयिः' प्रश्न०। अहोरात्रमे रात्रि रयि है, मासमे कृष्णपक्ष रयि है, संवत्सरमे दक्षिणायनके छः मास—श्रावण-भाद्र, आश्विन-कार्तिक, अग्रहायन-पौष रयि हैं। जितनी मूर्तियाँ हैं सब रयि हैं, चन्द्र रयि है, पितृयाण या धूममार्ग रयि है।

इष्टापूर्तके करनेवाले चन्द्रलोकको जाकर लौट आते हैं। यज्ञके द्वारा सकाम भावसे देवताओंकी उपासना करना इष्ट है। सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे समाजमे जहाँ जिसकी कमी देखना उसकी पूर्ति करदेना आपूर्त है। 'आदित्यः प्राणः, प्राणः प्रजानाम् उदयति एष सूर्यः, उत्तरायणं प्राणः, शुक्लः प्राणः, अहरेव प्राणः' आदित्य प्राण है, यह सूर्य प्रजाओंका प्राण ही है जो उदय होता है, संवत्सरमे उत्तरायण के छः मास—माघ-फाल्गुन, चैत्र-वैशाख, ज्येष्ठ-आषाढ़ प्राणरूप हैं, मासमे शुक्लपक्ष और अहोरात्रमे दिन प्राण है। "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते…एतस्मात् न पुनरावर्तन्ते इत्येष निरोधः" सात्त्विकी श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य और अध्यात्मविद्याके द्वारा आत्मानुसन्धान करनेवाले उत्तरायणमार्गसे सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं, इस मार्ग से उत्क्रमण करनेवाले जीव मृत्युलोकमे लौटकर नहीं आते। जिनको अक्षर पुरुषका बोध नहीं है उनको सूर्य आगे जानेसे रोंक देता है। देवयानसे जानेवाला सूर्यसे प्रार्थना करता है,—हे पूषन्! तेरे ज्योतिर्मय पात्रसे सत्यलोकका मुख ढका हुआ है, मेरे दर्शनके लिये तू उसे खोल दे क्योंकि मैने सत्यधर्मका पालन किया है "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" ईश० १५। 'तेजो यत्ते

रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' ईश० १६। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं ही हूँ। सूर्य-मण्डलको भेदकर वह ब्रह्मलोक या सत्यलोकको चला जाता है। यह ब्रह्मलोक केवल उन्हींका है जिनमे तप, ब्रह्मचर्य और सत्य प्रतिष्ठित है "तेषामेव एष ब्रह्मलोकः येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" प्रश्न० १-१५। ब्रह्मलोकमे रजोगुण का लेश नहीं इसलिये विरज होकर ही वहाँ जाना पड़ता है। जिनमे कुटिलता, अनृत और मायाका लेश नहीं उन्हींके लिये वह विशुद्ध ब्रह्मलोक है। 'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति' प्रश्न० १-१६।

ब्रह्मलोक और चन्द्रलोकको जानेवाले इन दोनों मार्गोंका शास्त्रोंमे देवयान-पितृयाण, उत्तरायण-दक्षिणायनपथ, अर्चि-मार्ग-धूममार्ग और शुक्लकृष्णगति प्रभृति नाना नामोंसे विशद विवेचन किया गया है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

गी० ८-२६॥

शुक्ल और कृष्ण भेदसे जगत्की दो शाश्वती गतियाँ मानी गई हैं। शुक्लमार्गसे जाकर जीव संसारमे फिर नहीं लौटता और कृष्णमार्गी पुण्य क्षीण होनेके बाद इस मृत्युलोक मे ही फिर लौट आता है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

गी० ८-२५।

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवतागण क्रमसे योगीको वह चान्द्रज्योति प्राप्त कराते हैं जहाँसे कि जीवका पुनरावर्तन होता है।

योगी पदसे यहाँ पर उसी योगसे विचलितमनवाले योगीका संकेत किया गया है जिसका वर्णन गीता अध्याय ६ के श्लो० ३७ से ४५ तक मिलता है।

"अथ ये इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तम् इति उपासते ते धूमम् अभिसम्भवन्ति धूमात् रात्रिं रात्रेः अपरपक्षम् अपरपक्षात् यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान् न एते संवत्सरम् अभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकात् आकाशम् आकाशात् चन्द्रमसम् एष सोमः राजा तद्देवानाम् अन्नं तं देवाः भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ छान्दोग्य अ० ५, खण्ड १०।

यज्ञ, दान और ग्रामसेवाका काम करनेवाले उपासक मरकर धूमको प्राप्त होते हैं। धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको और कृष्णपक्ष से जिन छः महीनोंमे सूर्य दक्षिण मार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरके अभिमानी देवताको प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाश को और आकाश से चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं। 'ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति तांस्तत्र देवाः यथा सोमं राजानम् आप्यायस्व अपक्षीयस्व इति एवम् एनान् तत्र भक्षयन्ति' बृह० ६–२–१६। चन्द्रको प्राप्तकर ये लोग देवान्न होजाते हैं। बढ़ो और घटो ऐसा कहकर देवतालोग जैसे सोम राजाको वैसे ही इनको भी भक्षण करजाते हैं।

कोई व्यक्ति कितना भी धर्मात्मा, सदाचारी, विद्वान, विचारवान्, यशस्वी, योगी, याज्ञिक, करुण और वदान्य क्यों

न हो जबतक आत्मज्ञानके उदयसे उसका देहाध्यास नष्ट नहीं होजाता, वह मरकर प्रकृतिको ही प्राप्त होगा, ब्रह्मको कदापि नहीं। प्रकृति पुरुषकी भोग्या होती है। इसलिये पुण्यकर्माभिमानी ये जीव भी चन्द्रको प्राप्त होकर देवताओंके भोग्यान्न होजाते हैं। इसी कारणशास्त्रोंमे पुरुषतत्त्वकी सहायताके विना स्त्रियोंकी मुक्ति भी प्रायः नहीं मानी गई है। प्रकृतिरूपा होनेके कारण उनका शरीर चन्द्रमाके उपादानसे गठित होता है। अतः यदि वे पतिव्रता और धर्मात्मा हैं तो अधिकसे अधिक स्वर्गमे चन्द्रलोक तक जासकती हैं। परन्तु जो स्त्रियाँ अपवादरूपसे गार्गी और मैत्रेयीके समान ब्रह्मवादिनी हैं उनकी बात निराली है, वे पुरुषके बहुत पहिले ब्रह्मलोकको विजय करलेती हैं। "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परां गतिम्" गी० ९–३२। स्त्री, वैश्य, शूद्र कोई भी हो 'जो हरि भजै सो हरिको पावै'। प्रभुके परमधाममे पहुँचनेका सबको समान अधिकार है, पात्रता होनी चाहिये। कायाकी इस कैलाशपुरीमे अंगुष्ठप्रमाणपुरुष ही ज्योतिर्मय शिवलिंग है, उसके प्रकाशके विना प्रकृति कितनी भी पवित्र क्यों न हो परन्तु रहती वह काली ही है। यही कारण है कि जिनको पुरुषतत्त्वका साक्षात्कार नहीं हुआ है वे देहाभिमानीजन प्रकृतिको प्राप्त होकर कृष्णमार्गसे ऊर्ध्वलोकोंमे जाते हैं। स्थूलदेहको त्याग करते ही उनको धूमाकृतिकी एक काया मिलती है। पथमे उपरोक्त धूमाभिमानी प्रभृति देवताओंकी सहायतासे चन्द्ररश्मिके सहारे वे ऊपर उठते हैं। जैसे परदेश मे पर्यटन करनेवाले पुरुषके गाँठका पैसा समाप्त होते ही वह गृहाभिमुख लौट पड़ता है उसी प्रकार पुण्यशेष होते ही उस जीवको देवतालोग स्वर्गसे निकाल बाहर करदेते हैं। इस सम्पतनके पूर्वतक स्वर्गवास करके वह जिस मार्गसे गया था

उसीसे नीचे आजाता है। आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ और वृष्टिको क्रमशः प्राप्त होता हुआ इस लोकमे व्रीहि (धान), यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष (उड़द) के रूपमे वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह आवर्तन बड़ा ही कष्टप्रद है। जो जो जिस अन्नको खाता और रेतको सींचता है वही वह होजाता है—छान्दोग्य ५, १०–६।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जैसे नवीन वस्त्रकी पूर्व-व्यवस्था होजाने पर ही मनुष्य पुराने फटे वस्त्रोंका परित्याग करता है, विवस्त्र कभी नहीं रहता उसी प्रकार एक देहके त्याग और पुनर्जन्मके पूर्वकी सन्धिमे कोई जीव निरालम्ब नहीं रहता, स्वकर्मानुसार उस प्रेतात्माको एक सूक्ष्मकाया सद्यः प्राप्त होजाती है। जिस प्रकार जलौका[1] एक तृणके अन्तमे पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको सिकोड़ लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी इस शरीरको मारकर इसे अचेतन करके दूसरे आधारका आश्रय ले अपना उपसंहार करलेता है "तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्यऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति" बृह० अ० ४, ब्रा० ४, मं० ३।

ब्रह्मवेत्तागण देहपातके बाद अग्निर्ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होकर ब्रह्मलोकको चले जाते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
गी० ८–२४।

१—जलौका=जोंक।

यहाँ पर ब्रह्मका अर्थ "अक्षरं ब्रह्म परमम्" नहीं लेना चाहिये। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणाचार्य भगवान् व्यासने अर्चि-मार्गके प्रकरणमे इसका स्पष्टीकरण करदिया है "कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः" ब्रह्मसूत्र ४-३-७। यह वर्तमान् कल्प का आदि पुरुष स्वबोधमे स्थित कार्यब्रह्म है, तभी तो इसकी प्राप्तिके लिये गतिकी अपेक्षा है। जो सर्वगत परम ब्रह्म है उसकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मवित्तमको कहीं आने-जाने की कोई जरूरत नहीं। यह कार्यब्रह्म विराट् देहका अभिमानी हिरण्य-गर्भ पुरुष है। यह क्रममुक्तिका उपाय बताता है। जिसने केवल ऐहिक[1] भोगोंका त्याग किया है, आमुस्मिक[2] भोगोंसे जिसे अभीतक पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ है उसीको परा गतिकी सिद्धिके लिये ब्रह्मलोक जाना पड़ता है। ब्रह्मा इन उत्क्रान्त जीवोंको तत्त्वसाक्षात्कार कराता है।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

प्रलयकालमे तत्त्वज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हुए वे जीव ब्रह्माके साथ कल्पावसानमे उस परमपदको प्राप्त करलेते हैं जहाँ जाकर फिर संसारमे लौटना नहीं होता।

देह रहते जिन साधकोंको पूर्ण ब्रह्मज्ञानलाभ नहीं हुआ है उनके लिये कार्यब्रह्मकी प्राप्ति परमपद प्राप्त करनेकी एक युक्ति-मात्र है। परन्तु पञ्चाग्निविद्या आदि के जिन उपासकों को सत्यलोकमे जाकर भी तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता उनकी मुक्ति बस केवल इतने ही दिनों तक है कि वे ब्रह्मकल्पपर्यन्त इस मानव आवर्तमे लौटकर नहीं आते। 'एतेन प्रतिपद्यमाना

१—ऐहिक=लौकिक। २—आमुस्मिक=पारलौकिक।

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' छा० ४-१५-६। तत्त्वतः भगवान् को न जाननेके कारण दीर्घकाल बाद अन्तमे उनका भी च्यवन होजाता है 'न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेन अतः च्यवन्ति ते' गी० ६-२४। यही कारण है कि भगवान्ने गीतामे अर्चिमार्ग से ब्रह्मलोककी यात्रा करनेवाले पथिकके सम्बन्धमे पुनरावर्तन और अनावर्तनकी दोनों ही बातें कहा है "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" ॥ गी० ८-१६ ॥ हे अर्जुन! ब्रह्मभुवन पर्यन्त जितने भी लोक हैं सब पुनरावर्ती हैं। तथाच—'शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते......एकया यात्यनावृत्तिम्' गी० ८-२६। तथापि अर्चिमार्गको मुख्यतः अनावर्तनका ही पथ समझना चाहिये क्योंकि उपनिषदोंमे जिस प्रकार चान्द्रज्योतिप्राप्त जीवोंके आवर्तनका क्रम दर्शाया गया है वैसा ब्रह्मलोकसे लौटकर आने वालोंका कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता। इतनी बात अवश्य है कि ब्रह्मपथसे परमपदकी प्राप्तिमे कुछ विलम्ब अवश्य होजाता है, इसके अलावा वहाँ प्रलोभन भी अधिक हैं। ब्रह्माजी स्नान करके जितनी देरमे आते होंगे उतने कालमे तो हमलोग न जाने कितनी बार पैदा होकर मर जाते हैं। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षका ब्रह्माका एकदिन और इतनी ही बड़ी उनकी रात होती है और इस हिसाबसे वे सौवर्ष तक जिन्दा रहते हैं। अतः मनुष्यदेह रहते परमपदलाभ श्रेष्ठतम है। कुछ ऐसे भी सिद्ध पुरुष होते हैं जो देहमे सब कुछ प्राप्त करलेने पर भी स्वेच्छासे ब्रह्मलोकमे होते हुए परमपदको जाते हैं, जैसा कि महाभारतमे शुकदेवजीके विषयमे वर्णन मिलता है। परन्तु ये क्रममुमुक्षुके समान ब्रह्मलोकमे कल्प-पर्यन्त नहीं ठहरते। ये इच्छाचारी होते हैं, पूर्ण आत्मबोधमे नित्य प्रतिष्ठा होनेके कारण इनकी सर्वत्र अबाध गति होती है।

'एष आत्मा हृदि तस्य एतदेव निरुक्तं हृदयमिति' छा० ८-३-३। यह आत्मा हृदयमे है। 'हृदि अयम्' हृदयमे यह आत्मा, यही हृदयकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति है। हृत्पुरुष और आदित्यमण्डलस्थ पुरुष एक ही है। जैसे आदित्यसे रश्मियाँ निकलती हैं वैसे ही हृदयसे पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत और लोहित वर्णकी अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ निकली हैं। यह आदित्य भी पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत और लोहित वर्णका है। जैसे कोई महापथ उभय ग्रामोंको जाता है वैसे ही आदित्यसे उसी रंगकी रश्मियाँ निकलकर इस और उस दोनों लोकोंमे जाती हैं। आदित्यसे निकली रश्मियाँ हृदयकी नाड़ियोंमे और नाड़ियोंसे निकली हुई आदित्यमे व्याप्त हैं। जैसे तारके द्वारा एक नगरसे दूसरे नगरका सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार इन नाड़ियोंमे व्याप्त रश्मियों के द्वारा इस व्यष्टि कायाका पूरे ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मृत्युके समय पुरुष जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब इन किरणोंके द्वारा ही ॐ ऐसा उच्चारण करके ऊपरकी ओर चढ़ता है। जितनी देरमे मन जाता है उतनी ही देरमे जीव आदित्यलोकमे पहुँच जाता है। निश्चय यह आदित्य ही आत्मविद् जनोंके लिये ब्रह्मलोकमे प्रवेशका द्वार है और जो आत्माको न जाननेवाले अविद्वान् हैं उनके लिये यह निरोध-स्थान भी है। "अथ यत्र एतत् अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति अथ एतैः एव रश्मिभिः ऊर्ध्वम् आक्रमते स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत् क्षिप्येत् मनः तावत् आदित्यं गच्छति एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधः अविदुषाम्" छा० ८-६-५। हृदयमे १०१ नाड़ियाँ हैं। १०० नाड़ियाँ इधर-उधर गई हैं, प्राणका उत्क्रमण इनके द्वारा होनेसे जीव अमरत्व लाभ नहीं करता। इनमे मूर्धाको भेदकर ऊपर जो एक ब्रह्मनाड़ी बाहर

निकल गई है उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमरत्व को प्राप्त होता है। केवल उसीको ब्रह्मपथमे लेजानेवाली रवि-रश्मि मिलती है, इतर जनोंको नहीं। शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानम् अभिनिःसृता एका। तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वं एति विष्वक् अन्याः उत्क्रमणे भवन्ति उत्क्रमणे भवन्ति। छा० ८-६-६। प्रयाणकालमे मन अचल होकर हृदयमे निरुद्ध हो, इन्द्रियोंके सब द्वार संयत हों, भक्ति और योगबलसे प्राण मूर्धामे अवस्थित हो, मुखसे ओमित्येकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण और अनन्य चित्तसे भगवत् स्मरण होरहा हो तब इस देहको त्यागकर जानेसे जीवको वह परा गति मिलती है जिसे वेदविद् अक्षर कहते हैं, वीतराग मुनि जिसमे प्रवेश करते हैं और ब्रह्मचारी जिसकी अभिलाषा करते हैं। प्रयाणकालकी इस निष्ठाको गीता अ० ८, श्लोक ८ से १३ तक देखना चाहिये।

अरण्यमे श्रद्धा और तप करनेवाले जो ब्रह्मविद् योगी उपरोक्त विधिसे ब्रह्मनाड़ीके द्वारा प्राणोंको बाहर निकालते हैं उनको देहत्यागके वाद तत्क्षण अग्निमय एक दिव्यदेह मिल जाता है 'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' छा० ८-३-४। ज्योतिसे युक्त होकर वे देवयानपथसे आगे बढ़ते हैं 'ये च इमे अरण्ये श्रद्धा तपः इत्युपासते ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति अर्चिषः अहः अह्नः आपूर्यमाणपक्षम् आपूर्यमाणपक्षात् यान् षट् उदङ्केति मासान् तान्। मासेभ्यः संवत्सरम् संवत्सरात् आदित्यं आदित्यात् चन्द्रमसं चन्द्रमसः विद्युतं तत् पुरुषः अमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति एष देवयानः पन्थाः इति' छा० ५, १०, १-२। वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके छः मास और

संवत्सरके अभिमानी देवताओंकी अधीनतामे आकर सूर्य-मण्डलमे पहुँच जाते हैं; आदित्यसे चन्द्रमण्डल और चन्द्रसे विद्युत्‌के अभिमानी देवताके पास जाते हैं, यहाँ पर एक अमानव पुरुष है वह इनको ब्रह्मलोकमे लेजाता है, यही देवयानमार्ग है।

देवयानपथमे पड़नेवाले लोकोंके क्रमके सम्बन्धमे श्रुतियोंमे भिन्नभिन्न वर्णन मिलते हैं। उनमे संगति बैठानेके लिये वेदान्त-सूत्रमे इस पर विशद विवेचन करके निम्न क्रमका सिद्धान्त स्थिर किया गया है। अग्नि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, देवलोक, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, तड़ित्, 'तड़ितः अधि वरुणः,' इन्द्र, प्रजापति और इसकेबाद ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोकमे पहुँचकर यह पुरुष ब्रह्माजीके पास तक कैसे जाता है इसका विस्तृत विवेचन कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्‌मे देखना चाहिये।

यहाँ पर चन्द्रमण्डलकी स्थितिके सम्बन्धमे एक बड़े चक्करकी बात है। एक ओर तो यह कहा गया है कि दक्षिणा-यनमार्गसे जानेवाला योगी पितृलोक होते हुए चन्द्रमाको प्राप्त होकर फिरसे इस संसारमे लौट आता है, यह चन्द्रमा राजा सोम है और देवताओंका खाद्य अन्न है। दूसरी ओर देव-यानपथमे सर्वत्र आदित्यमण्डलके बाद ही चन्द्रमण्डलका वर्णन आता है। "संवत्सरात् आदित्यं आदित्यात् चन्द्रमसं चन्द्रमसः विद्युतं तत्पुरुषः अमानवः" छ० ५-१०-२। संवत्सर से आदित्य, आदित्यसे चन्द्रमा और चन्द्रमासे विद्युतको वह जाता है, वहाँसे एक अमानव पुरुष आकर उसे ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। बृहदारण्यक अ० ३, षष्ठ ब्राह्मणमे गार्गीके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने कहा है कि अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोकमे, गन्धर्वलोक आदित्यलोकमे, आदित्यलोक चन्द्र-

लोकमे और चन्द्रलोक नक्षत्रलोकमे ओतप्रोत हैं। पुनश्च—
"यदा वै पुरुषः अस्मात् लोकात् प्रैति स वायुम् आगच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वम् आक्रमते स आदित्यम् आगच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसम् आगच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते......" बृह० ५–१०–१। जब पुरुष देह छोड़कर इस लोकसे जाता है तो वायुको प्राप्त होता है, वायु उसे रथ चक्रके छिद्रके समान थोड़ा सा आकाश दे देता है उससे वह आदित्य को प्राप्त होता है, आदित्य उसके लिये लम्बर नामक बाजेके छिद्रके समान आकाश दे देता है उससे ऊपर उठकर वह चन्द्रमाको प्राप्त होता है, चन्द्रमा भी उसके लिये दुन्दुभिके छिद्रके समान थोड़ा सा मार्ग दे देता है उस छिद्रसे ऊपर उठकर वह ऊर्ध्व लोकोंमे जाता है...। इन वचनोंसे स्पष्ट है कि चन्द्रमण्डल आदित्यमण्डलसे ऊपर है। अतः एक ओर तो दक्षिणायनमार्गका चन्द्र हुआ जहाँसे पुण्यक्षीण होनेके बाद जीव मर्त्यलोकमे लौट आता है और दूसरा हुआ देवयानमार्ग का आदित्यमण्डलके ऊपरवाला चन्द्रमा जहाँसे ब्रह्मलोकको जाकर जीव फिर नहीं लौटता। ये चन्द्र एक हैं कि दो इस सम्बन्धमे श्रुति मौन है, कहीं कोई स्पष्ट आप्तवाक्य नहीं मिलता। कुछ विद्वानोंका कहना है कि चन्द्र एक ही है, वहाँ पहुंचनेके पथ दो हैं, दक्षिणायनका योगी वहाँ जाकर ठहर जाता है और उत्तरायणका योगी उस मार्गसे होकर आगे निकल जाता है। आधुनिक विज्ञानसे यह बात भलीभाँति प्रमाणित होचुकी है कि चन्द्रमा सूर्यकी अपेक्षा भूलोकसे अधिक निकट है, यह प्रत्यक्ष सत्य है और इस तथ्यको

अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थितिमे उत्तरायणका योगी आदित्यमण्डल भेदकर पुनः नीचे चन्द्रमण्डलमे उतर-कर आये यह बात संगत प्रतीत नहीं होती। इतर पण्डित यह कहते हैं कि चन्द्र बहुत विशाल है और वह सूर्यके ऊपर भी व्याप्त है एवम् नीचे भी। नीचेका चन्द्र जो पृथिवीसे दिखाई पड़ता है वह घटता-बढ़ता है और उसमे केवल १५ कलायें व्यक्त हैं, आदित्य मण्डलके ऊपर चन्द्रमामे १६हों कलायें पूर्ण हैं, उसमे क्षय-वृद्धि नहीं होती। एक का सीधा सम्बन्ध इस लोकसे है और दूसरेका ब्रह्मलोकसे। छान्दोग्य श्रुतिमे जहाँ पञ्चाग्निका वर्णन है वहाँ द्युलोकको प्रथमाग्निका रूपक देकर आदित्यको उसका इन्धन और चन्द्रमाको अंगार बताया है "असौ लोकः अग्निः तस्य आदित्यः एव समित् चन्द्रमाः अंगाराः" छा० ५-४-१। दूसरी ओर बृहदारण्यकमे जहाँ पञ्चाग्निका रूपक है वहाँ पृथिवीको इस लोककी तृतीयाग्निका समित् और चन्द्रमाको अंगार कहा है। "अयं वै लोकः अग्निः तस्य पृथिवी एव समित् चन्द्रमाः अंगाराः" बृह० ६-२-११। इस प्रकार द्युलोक और भूलोक दोनों भिन्न स्तरोंमे चन्द्रमाका वर्णन मिलता है।

यद्यपि शास्त्रोंमे अग्नि, वायु आदि नामोंकी भोगभूमियाँ या सूक्ष्मलोक प्रसिद्ध हैं परन्तु देवयान-पितृयाण पथमे जो अग्नि, वायु, धूम आदिका उल्लेख आता है वहाँ लोकसे तात्पर्य नहीं है। उसका दिव्य देहधारी अग्निदेव, वायुदेव, धूमाभिमानीदेव आदि अर्थ करना चाहिये। ये देवता यात्रियोंको अपने लोककी सीमाके पार पहुँचा देते हैं। मृतक जीव मूर्च्छित दशामे होनेके कारण विना किसी चेतनदेवकी सहायताके स्वयं नहीं जा सकता। भोगभूमियाँ भी जड़ ही हैं। अतएव

यात्रा सम्पादित कैसे हो सकती है ? 'उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः' ब्रह्मसू ४—३—५ । इसी प्रकार संसारमे अहः, रात्रि, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन आदि कालवाची शब्द लोकप्रसिद्ध होनेके कारण भी गीता अष्टम अध्यायके २४—२५ श्लोकोंका मर्म समझनेमे भ्रम होजाया करता है। परन्तु यहाँ पर इस बातको बहुत स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये कि गीता और उपनिषदोंके इस प्रसङ्गमे इन शब्दोंका समयके अर्थमे बिलकुल भी प्रयोग नहीं किया गया है। इन श्लोकोंका न तो यह तात्पर्य है कि ब्रह्मविद् योगीको मृत्युके अनन्तर उत्तमगति प्राप्त करनेके लिये दिनमे, शुक्लपक्षमे और उत्तरायणके छः महीनोंमे अनिवार्यरूपसे मरना ही चाहिये और न यही कि कोई पापी-तापी कैसा भी हो केवल दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमे मरनेसे ही उसकी मुक्ति होजायेगी। इस देहघटका कोई ठिकाना नहीं, न जाने कब फूट जाय। सज्जन भी रातमे मरते देखे जाते हैं और दुर्जन दिनमे। मुक्ति इतनी सस्ती होती तो सारा जीवन पाप करके अबतक न जाने कितने शराबी और जुआरी दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणमे जहर खा-खाकर मर गये होते। किसी कारणवश भीष्म पितामहके समान चाहे कोई भले ही अपनी इच्छासे उत्तरायणमे प्राणत्याग करे परन्तु देहान्तरबाद जीवात्माकी गतिसे इन कालवाची शब्दोंका बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्मसूत्र इस बातको बिलकुल साफ करदेता है "अतश्चायनेऽपि दक्षिणे" ४—२—२० । ब्रह्मलोकका अधिकारी ब्रह्मविद् पुरुष रात्रिमे, कृष्णपक्षमे और दक्षिणायन के छः महीनोंमे मरकर भी सीधे सत्यलोकको ही जाता है, उसकी ऊर्ध्वगतिमे कहीं कोई रुकावट नहीं पड़ती। लेटरबाक्स

मे चिट्ठी छूटगई तो कब और कहाँ का फिर कोई मूल्य नहीं, वह ठिकानेसे पहुँच जायेगी। गीताके कुछ टीकाकारोंने इस प्रसंगपर ऐसा लिखा है कि उत्तरायणपथका अधिकारी यदि रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनमे मरजाय तो उसे ऊर्ध्व-गतिके लिये दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आने तक रात्रि आदिके अभिमानी देवताओंकी अधीनतामे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, परन्तु यह बात समीचीन नहीं जचती। २४ घण्टेके रातदिन शरीरधारीके लिये भले ही सत्य हों, विदेहके लिये इनके व्यवधान का कोई मूल्य नहीं। ये रातदिन तो इस लोकमे ही सत्य नहीं, परलोक की कौन कहे। यदि सत्य होते तो भूतलमे सर्वत्र एक समयमे रात ही रात या दिन ही दिन होता। अतः जबकि यहीं एक समयमे कहीं रात और कहीं दिन रहता है तो वहाँ ये झूठी चीजें सत्यधर्मा विदेहीके मार्गमे रुकावट कैसे डाल सकती हैं।

तथाच—"स यावत् क्षिप्येत् मनः तावत् आदित्यं गच्छति" छा० ८, ६, ५। इस शरीरसे जीव जब उत्क्रमण करता है तब जितनी देरमे मन जाता है उतनी ही देरमे वह आदित्यलोकमे पहुँच जाता है। अर्थात् इच्छा किया और पहुँचा। प्रतीक्षाकी बात सत्य मानलेनेसे त्वरा विज्ञापिनी यह श्रुति झूठी पड़ जायेगी। फिर कालानुसारिणी गति कहीं नहीं लिखी है। वेदान्तसूत्र है "रश्म्यनुसारी" ४, २, १८। रश्मि अनुसारिणी योगीकी गतिं होती है। पुनश्च—"निशिनेतिं चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च" ४, २, १६। यदि यह कहा जाय कि यह रश्मि योगीको दिनमे ही मिल सकती है, रातमे नहीं तो ऐसी बात नहीं है। अन्तःसूर्य तो यावज्जीवन कभी अस्त ही नहीं होता, हृत्पुरुषके लिये बाह्यसूर्य भी कभी नहीं अस्त

होता। जबतक देह है, हृदयकी नाड़ियोंसे रविरश्मियोंका अहर्निश सम्बन्ध बना रहता है, एक क्षणके लिये भी वह तन्तु नहीं टूटता। जिसका हृदयद्वार खुलगया है उसे सर्वदा ही उन रश्मियोंके दर्शन होते हैं। दक्षिणायनमे, कृष्णपक्षमे और रात्रिमे साधकके हृदयमे अँधेरा रहे ऐसा कभी नहीं होता। परन्तु अज्ञानी के हृद्गत नाड़ियोंमे सूर्यकी रश्मियाँ सतत व्याप्त रहते हुए भी दिन-दोपहर सदा उसका दिल अँधेरी कालकोठरी बना रहता है। रात तो रात है ही, दिन भी उसके लिये निशा ही है। योगीके लिये कभी निशा नहीं, अविद्यामय जगत् ही उसके लिये निशा है तो उससे वह सदा ही सोता रहता है 'या निशा सर्वभूतानाम्·····' गी० २–६९। यदि इन रश्मियोंका स्थूल अर्थ लियाजाय तब तो उत्तरायण, शुक्लपक्ष और दिनको १२ बजे मरकर भी जिस समय काले घने बादलों से सूर्य आच्छादित रहता है उस क्षण रश्मिसम्बन्ध प्राप्त न होनेसे योगीकी ऊर्ध्वगतिमे बाधा पड़ जायेगी। रात या दिनमे मत्युकेहोने पर यदि जीवका बन्धन-मोक्ष निर्भर करे तो विद्या और तपस्यामे किसीकी रुचि ही न हो। क्योंकि मृत्युकालका कोई नियम नहीं है। अतः रात्रिप्रयाणके अपराधमात्रसे विद्वान्‌की ऊर्ध्वगति नहीं रुक सकती यह ध्रुव सत्य है। "अथ यत्र एतत् अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति अथ एतैः एव रश्मिभिः ऊर्ध्वम् आक्रमते" छा० ८, ६, ५। हृदयमे सर्वदा उपलब्ध जो रश्मियाँ हैं उन्हींके सहारे शरीर छोड़कर योगी ऊपर चढ़ता है। अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण और संवत्सर आदि नामोंके जो तत्तत् काल और लोकके अभिमानी मूर्तिमान् चेतन देवता हैं वे पथिकको मार्गमे सहायता करते हैं। इन शब्दोंको समय और लोकके अर्थमे लेकर भूल नहीं करना

चाहिये। ब्रह्मसूत्र है "आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्" ४-३-४। ये अर्चि आदि चिह्नोंवाले मार्गमे नियुक्त अतिवाही देवता हैं जो जीवको अपने राज्यकी सीमाके पार तक पहुंचा देते हैं। विद्युल्लोकके बाद इनकी गति नहीं इसलिये वहाँ ऊपरसे एक अमानव पुरुष आकर जीवको सत्यलोक लेजाता है "तत्पुरुषः अमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" छा० ५-१०-२।

यहाँ तक ब्रह्मविद्की ब्रह्मलोकगति, सात्त्विककी स्वर्गगति, राजसकी नरलोकप्राप्ति और तामसी प्रकृतिकी अधोगतिका वर्णन हुआ। अब देखना है कि जो देह रहते मायाके गुणोंसे मुक्त हो गये हैं उन त्रिगुणातीत पुरुषोंका क्या होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि गीता और उपनिषदोंमे अर्चि और धूममार्गसे जिन ऊर्ध्वगतियोंकी विपुल व्याख्या कीगई है उससे शास्त्रका तात्पर्य जीवोंकी उस ओर प्रवृत्ति कराना नहीं है। यथार्थता समझाकर सबकी पोल खोल देना और अन्तमे सबसे निवृत्ति करादेना ही शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है। इसका स्पष्टीकरण गीतासे ही होजाता है। शुक्ल-कृष्णगती या सृतीके व्याख्यानका उपसंहार करते हुए अष्टम अध्यायके २७ वें और २८ वें श्लोकोंमे भगवान् कहते हैं, पार्थ! एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति। तस्मात् अर्जुन! सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव। वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् (अस्ति) तत् सर्वं विदित्वा योगी अत्येति, परं आद्यम् स्थानम् उपैति च। युगल मार्गों या गतियोंको जानता हुआ कोई भी योगी मोहमे पड़कर इनके चक्करमे नहीं आता। अच्छा तो फिर यज्ञ, दान, तप और वेदपाठसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है उसके उपदेशका इतना कष्ट क्यों किया गया? भगवान् इसका उत्तर देते हैं 'अत्येति

तत् सर्वमिदं विदित्वा'। अरे भाइ ! सूत्रका मर्म विदित हुए विना सच्चा वैराग्य नहीं होता, प्रलोभनकी आशंका न्यूनाधिक बनी ही रहती है। जो सब जानकर सब छोड़दे वही सर्वज्ञ है, बाँकी सब अल्पज्ञ हैं। तत्त्वज्ञ योगी 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' स्वर्गीय भोगोंकी ओर आँख उठाकर देखता ही नहीं, मुख फेरकर चल देता है। कहाँ जाता है ? 'योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्'। भगवन् ! उस आदि परमस्थानका कुछ नामग्राम भी तो बताइये वह क्या है ? 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' गी० १५—६। अरे, वही तो मेरा परमधाम है जहाँ जाकर मेरा सनातन अंश जीव लौटकर पुनः इस संसारमे मरने नहीं आता। 'स तु तत्पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते' कठ० १—३—८। अच्युतपदसे च्यवन नहीं तो जन्म कौन ले और जब जन्म नहीं तो मरण भी नहीं। इन्द्र, चन्द्र, वरुण जितने भी पद हैं मरण और संसरणके कारण संसार उन सबोंके पीछे लगा हुआ है। परन्तु विष्णुके परमपदको पाने-वाला मृत्युरूप संसारमार्गसे पार पहुंच जाता है अथवा संसार-मार्गसे पार जाकर ही वह विष्णुके परमपदको पाता है "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" कठ० १—३—६। क्या परमात्माके निवासस्थान उस परमधाम, परमपद, परा-गति, अव्ययपद या विष्णुपदसे परे भी कुछ है ? श्रुति उत्तर देती है—नहि नहि 'पुरुषान्न परं किंचित्' परम पुरुष परमात्मा से परे कुछ नहीं। 'सा काष्ठा सा परागतिः' वही तत्त्वकी पराकाष्ठा है और उसके धाममे जाना ही है जीवकी परागति—कठ० १—३—११।

वह परमतत्त्व क्या है ? मनुष्यदेहका अभिमानी प्रत्येक जीव अपने शरीरको लक्ष्य करके कहता है, यह मेरा वपु है,

ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, मै मनसे मनन करता हूँ, मुखसे खाता, पीता और बोलता हूँ इत्यादि। अन्य प्राणियोंके शारीरिक क्रियाकलापको वह अपना नहीं समझता। इसी प्रकार इस व्यक्त सृष्टिमे एक ऐसी समष्टि चेतना है जो इस विराट् जगत्को अपना शरीर मानती है। द्युलोक उसका शिर है। वायु श्वास है। अग्नि उसका वाक् है। चन्द्र मन है। सूर्यरूपी आँखसे वह देखता है। वह सर्व क्षेत्रोंका क्षेत्रज्ञ है इत्यादि। यह ब्रह्मबोध मे स्थित आधिदैवत पुरुष है। देहाभिमानी एक जीवके सोजानेसे दूसरा नहीं सोजाता, न एकके मरनेसे दूसरा मरता। परन्तु सर्व क्षेत्रोंका क्षेत्रज्ञ जो आधिदैवत वैश्वानर पुरुष है उसके सोजानेसे सम्पूर्ण जगत् सोजाता है अर्थात अव्यक्तमे प्रलयको प्राप्त होजाता है। यही ब्रह्माकी रात्रि है। उसके जागनेसे फिर सृष्टि होजाती है। यही ब्रह्माका अहरागम है। यह सब इसी प्रकार होता है जैसे एक प्राणीके सोजानेसे उसकी सब इन्द्रियाँ सोजाती हैं और जागने पर जाग उठती हैं। जाग्रत्मे स्थूलदेह, स्वप्नमे सूक्ष्मदेह और निद्रामे लिंगदेहका बोध बना रहता है। इस विराट्के लिंगदेहका जो साक्षी है गीतामे उसको अव्यक्त संज्ञा दीगई है 'रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके' गी० ८—१८। तस्मात् अव्यक्तात् तु परः यः अन्यः अव्यक्तः सनातनः भावः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति—गी० ८—२०। उस अव्यक्त ब्रह्म कूटस्थ अक्षर पुरुषसे भी परे एक अन्य अव्यक्त सनातन भाव है जो सब भूतोंके नष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता। (यः) अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः तम् परमां गतिम् आहुः। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम—गी० ८—२१। यह जो अव्यक्त अक्षर ऐसा कहा गया है उसीको परमा गति कहते हैं, जिसे प्राप्तकर संसारचक्रमे लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परम

धाम है। पार्थ ! सः परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या तु लभ्यः—गी० ८—२२। पुरुषसे परे जो परम पुरुष परमात्मा है वह अनन्य भक्तिसे उपलब्ध होता है। गीता त्रयोदश अध्यायके श्लोक १९ से २२ तक भगवान्ने इस तत्त्वको पुनः स्पष्ट किया है। प्रकृतिं पुरुषं च एव (त्वं) उभौ अपि अनादी विद्धि—१३, १९। अर्जुन ! तुम प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो। उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा च इति अपि उक्तः अस्मिन् देहे परः पुरुषः—गी० १३—२२। जिसे उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहते हैं वह इस देहमे पर पुरुष है। तथाच—द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरः च अक्षरः एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थः अक्षरः उच्यते—गी० १५—१६। क्षर और अक्षर नामक लोकमे ये दो पुरुष हैं। सब भूत क्षर हैं, जो कूटस्थ है वह अक्षर कहा गया है। भगवान्ने गीता सप्तम अध्यायमे इस क्षर पुरुषको अपरा और अक्षर पुरुषको परा प्रकृति कहा है। उत्तमः पुरुषः तु अन्यः, परमात्मा इति उदाहृतः। यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति—गी० १५—१७। उत्तम पुरुष उक्त दोनोंसे अन्य है, वह परमात्मा ऐसा कहा गया है। यह जो अव्यय और ईश्वर है वह तीनों लोकोंमे प्रवेश करके उनका धारण-पोषण करता है। यस्मात् क्षरम् अतीतः अहम् अक्षरात् अपि च उत्तमः। अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि—गी० १५—१८। क्योंकि मै क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ अतः लोक और वेदमे मै पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध हूँ। धनंजय ! मत्तः परतरं अन्यत् किंचित् न अस्ति—गी० ७—७। अर्जुन ! मुझ पुरुषोत्तमसे परे अन्य किंचित् भी कोई तत्त्व नहीं है।

अक्षर पुरुष ब्रह्मवाची है और जो उसे जानता है उस ब्रह्मविद् को ज्योतिर्मय अग्निदेवता देवयानमार्ग से अतिवहन करके ऊपर लेजाता है—(यत्र यस्मिन् मार्गे वा) अग्निः ज्योतिः अहः……तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति—गी० ८—२४। पुरुषोत्तम और अक्षर परम ब्रह्म एक ही वस्तु है 'अक्षरं ब्रह्म परमम्'—गी० ८—३। यह पुरुषोत्तम परमब्रह्म उक्त ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। तभी तो भगवान् कहते हैं "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" गी० १४—२७। यहाँ पर ब्रह्म और परम ब्रह्म का भेद ध्यानमे रखना चाहिये। ब्रह्मलोकको जानेवाले ब्रह्मविद् प्रलयके अन्तमे परमब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्व साक्षात्कारकर परमपद प्राप्त करते हैं। "इतः ऊर्ध्वं विमुक्ताः" बृह० ४—४—८। अर्थात् जो यहाँ मुक्त नहीं हुए वे अर्चिमार्गसे ऊपर जाकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु जो भाग्यवान् देह रहते यहीं इस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करलेता है उसे देहपातके बाद ब्रह्मलोक जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। येषाम् मनः साम्ये स्थितं तैः इह एव सर्गः जितः—गी० ५—१९। जिनका मन समत्वमे स्थित है उनके द्वारा देह रहते यहीं संसार जीतलिया गया है। सर्वगतमे प्रवेशके लिये लोकलोकान्तर जानेकी क्या जरूरत ? गीता ९—२५ मे भगवान् कहते हैं- पितृव्रती पितरोंको, देवव्रती देवताओंको, प्रेतव्रती प्रेतोंको और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं। केवल भगवान्-भगवान् या ब्रह्म-ब्रह्म कहनेसे काम नहीं चलेगा। परमात्माको तत्त्वसे जानना चाहिये अन्यथा पतन नहीं रुक सकता—ते तत्त्वेन मां न अभिजानन्ति अतः च्यवन्ति—गी० ९—२४ ❀। अक्षर पुरुषका ज्ञाता ब्रह्मविद् है

पादटीका ❀ गीताके श्लोक जनसाधारणमे प्रसिद्ध हैं। अतएव इस अध्यायमे प्रायः सर्वत्र उन्हें उद्धृत न कर उनका

परन्तु जो पुरुषोत्तमतत्त्वको जानता है उसे भगवान्‌ने सर्वविद् की उपाधिसे विभूषित किया है। यः असंमूढ़ः माम् पुरुषोत्तमम् एवम् जानाति, भारत! स सर्वविद् सर्वभावेन मां भजति—गी० १५—१६। जिसका अज्ञान या मोह सम्यक् निवृत्त हो चुका है, जो मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है, हे अर्जुन! वह सर्वविद् सर्वभावसे मुझको भजता है। यह निश्चित है कि तत्त्वतः ज्ञान हुए विना अर्धभाव किम्वा चतुर्थभावसे भले ही परमेश्वरकी भजना हो परन्तु सर्वभावसे उनकी उपासना नहीं हो सकती। सर्वविद् होकर सर्वभावसे ही उनकी शरणमे जाना चाहिये 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' गी० १८—६२। सौभाग्यसे जो निश्चिन्त होसका है उसे सर्वदा सर्वभावसे भगवान्‌को ही भजना चाहिये "सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः" नारद भ० सू० ७६। ब्रह्मज्ञान के विना इस परा भक्तिका उदय नहीं होता—ब्रह्मभूतः मत्परां भक्तिं लभते—गी० १८-५४। जबतक अपनेको पहिचानेगा नहीं तबतक कोई आत्मरति क्या करेगा? आत्माको जानना ही ज्ञान है और आत्मामे रति प्रेम है। भगवान् कहते हैं—यावान् यः च अस्मि माम् तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति। ततः तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरं मां विशते—गी० १८—५५। 'ज्ञानी पुरुष भक्तिसे मै जो और जितना हूँ मुझको तत्त्वतः जानता है और तत्त्वतः जानकर तदनन्तर मुझमे ही प्रवेश

केवल शब्दशः अन्वय देदिया गया है। इससे श्लोकार्थ समझनेमे अधिक सुविधा होगी। हिन्दीके साथ गद्य संस्कृत पढ़ना भी सुगम है। संस्कृत भाषाके प्रचारकी दृष्टिसे ऐसा किया गया है। केवल छन्द नहीं है, शब्द ज्यों के त्यों हैं। दी हुई संख्याके अनुसार मूल ग्रन्थमे श्लोक देख लेना चाहिये।

करजाता है। बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते—गी० ७—१९। बहुत जन्मोंके अन्तमे ज्ञानवान् मेरी शरण ग्रहण करता है। सब कुछ वासुदेवमय जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। ज्ञानिनः अहम् अत्यर्थं प्रियः, स च मम प्रियः, ज्ञानी तु मे आत्मा एव मतम्—गी० ७, १७—१८। मै ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्यारा है। ज्ञानी मेरी आत्मा ही माना गया है'। तत्त्वज्ञानके बहुतसे दुश्मन भक्ति और ज्ञानमे द्वैत और अद्वैतका झगड़ा घुँसेड़ते हैं। एकदिल दम्पतीके पास जाकर कोई कहे, भो भवन्तौ! तुम दो हो इसीलिये प्रेम करते हो, एक होते तो न करते। वे इस बात पर हंसकर बोलेंगे, हाँ जी तुम्हारी दो आखोंमे हम दो दीखते हैं ठीक है, परन्तु यह निश्चिय जानो कि हम दोनों सर्वथा एक हैं इसीलिये प्रेम करते हैं, तन-मनमे कहीं लेश भी द्वैतभेद होता तो प्रेम न जमता। अद्वैत उपासनाका यह बड़ा गूढ़ रहस्य है। यह कोई शुष्क किताबी वेदान्तियोंका जमानी जमा-खर्च नहीं है। ज्ञानीकी भक्ति एकको एक मानकर एकमे एककी भक्ति है। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः विशिष्यते' गी० ७--१७। यह तो एकभक्ति है, यहाँ द्वैतभक्ति कहाँ से आई। द्वैत तो अज्ञान है। अध्यात्मविद्याकी यह विशेषता है कि उसमे अद्वैतभावसे ही सम्यक् उपासना बनती है, जितने अंशमे द्वैत है उतने अंशमे ज्ञान और प्रेममे खामी समझना चाहिये। जिस भी किसीके साथ ऐक्य, अद्वैत और अभेदका नाता जोड़ना हो उसमे अहंग्रह भावका आरोप करनेसे ही इस उपासनाकी सिद्धि होती है। अन्यथा इष्टके साथ तत्त्वतः मिलन-मिश्रण नहीं होता और प्रियके साथ घुलमिलकर एक हुए विना रसकी सृष्टि नहीं होती। तभी तो कहा है **"यच्छ्रद्धः स एव सः"**

गी० १७—३। जो जिस श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है। अतः पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि जिसके भी साथ आत्म-सम्बन्ध स्थापित करना हो 'सः अहम् अस्मि—वह मै ही हूँ' ऐसी भावना करनेसे उसके साथ अपनी आत्माका सम्बन्ध होजाता है। इस भावनाको अहंवृत्तिके साथ मिलाकर किसी को भ्रम न होना चाहिये, यह आत्मतत्वके उपासनाकी एक विधि है, अहंकारकी वृत्तिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसा इसलिये करना पड़ता है कि तत्त्वका साक्षात्कार आत्मरूपसे ही होता है और आत्मरूपसे उपासना किये विना हम किसीको अपना नहीं सकते। मूलमे एक ही आत्मा सबमे है और सब चीजें अपने ही लिये प्यारी होती हैं अतएव तात्त्विक विचारसे भी अहंग्रह उपासनाकी यह विधि समीचीन प्रतीत होती है। स्थूल-दृष्टिमे इस भावनासे प्रेमका विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तवमे यह परम प्रेमकी ही चरमावस्था है। श्रीमद्‌भागवतके रासलीलाके प्रसंगमे प्रेमभावमे विभोर एक कृष्णमना गोपी कहती है "कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः" भा० १०-३०-१६। 'अरी सखियों! तुमलोग मेरी ललित गतिको देखो, कृष्ण मै ही हूँ'। जीवसे मनको छीनकर बदलेमे जीवको भगवान् यही ज्ञान दिया करते हैं। निश्चित है कि जो जिससे मिलना चाहता है वह उससे भेद मिटाकर अभिन्न होना चाहता है और अपना आपा जो यह आत्मा है वही सबमे अभिन्न है। अतः भेदमयी इस सृष्टिमे लोकोंके असम्भेदके लिये उन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला यह आत्मा ही एक-मात्र सेतु है "अथ यः आत्मा स सेतुः विधृतिः एषां लोकानाम् असम्भेदाय नैतं सेतुम् अहोरात्रे तरतः न जरा न मृत्युः न शोकः न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानः अतः निवर्तन्ते अपहत

पाप्मा हि एष ब्रह्मलोकः" छा० ८-४-१। भेदको मिटाकर दो देशोंको एकसूत्रमे बाँधनेवाले आत्मारूप इस सेतुको अहोरात्र अतिक्रमण नहीं करते; जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत और दुष्कृत उसे नहीं छूते, सब पाप वहाँसे लौट आते हैं, निश्चय यह निष्पाप आत्मा ही ब्रह्मलोक है। आत्मा सबको प्रिय है। अपनेआपको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रतर्दनने इन्द्रसे कहा, भगवन्! आप मनुष्यके लिये जो अधिकतम हितकर समझें वही वर हमको दें। "स होवाच माम् एव विजानीहि एतत् एव अहं मनुष्याय हिततमं मन्ये" कौषी० उ० ३-१। इन्द्रने कहा, अच्छा यदि ऐसा है तो हमीको विशेषरूपसे जानो, मनुष्यके लिये मै यही अधिकतम हितकर मानता हूँ। सच्चे अहम्को पहिचान लेनेसे बढ़कर विश्वमे अन्य कोई हितैषिणी बात मनुष्यके लिये नहीं है। इसी प्रकार गीतामे भी श्रीभगवान्ने जहाँ कहीं अर्जुनके प्रति करुणा, प्रेम और ऐश्वर्यका परिचय दिया है वहाँ अस्मद् शब्दके रूपोंका इतना अधिक प्रयोग किया है कि यदि उनको गीतासे निकाल दिया जाय तो स्यात् शेष गीता कुछ पन्नोंमे आजाय। मामनुस्मर, मां भज, मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वां मोक्षयिष्यामि, मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते, अहं बीजप्रदः पिता, अहं माता, अहं धाता, वेदैः अहं वेद्यः···इत्यादि। यह अहम् किसी पिण्डका वाचक नहीं, किसी गुणका अहंकार या अन्तःकरणकी कोई वृत्ति नहीं। यह सृष्टिका सर्वोच्च और सर्वोत्तम तत्त्व है। परमात्मतत्वके प्रकाशके लिये परमब्रह्म पुरुषोत्तमके अर्थमे इस अहंपदका प्रयोग हुआ है। व्याकरणशास्त्रमे अहम् पद उत्तम पुरुष है। उत्तम और पुरुष की सन्धिसे 'प्रथितः पुरुषोत्तमः' होजाय तो कौन बड़ा आश्चर्य है। इस अहम् पदको जानना ही परमपद-

पाना है। अहम्, त्वम्, सः पद कोई भी हो तत्त्व एक ही है। जिसके सब नाम हैं उसके लिये तीन सर्वनाम कोई अधिक नहीं। श्रुतियाँ तीनों सर्वनामोंमे इस तत्त्वका उद्गान करती हैं। 'अहम् ब्रह्म अस्मि, तत् त्वम् असि, अयमात्मा ब्रह्म, सः अहम् अस्मि' इति। मै, तू, वह इन तीनों सर्वनामोंमे अहम् ही मनुष्यका प्रियतम निकटतम और सर्वोत्तम होनेके कारण उत्तम पुरुष पुरुषोत्तम है और इसीलिये लोक और वेदमे इसका सर्वाधिक प्रयोग देखा जाता है। सनत्कुमारजी इस भूमामे प्रथम पुरुष (तत्) का आदेशकर नारद से कहते हैं 'स एव अधस्तात् स उपरिष्टात्......स एव इदम् सर्वम् इति" नारद जी! दायें-बायें, ऊपर-नीचे वही सब कुछ है। "अथ अतः अहंकारादेश एव अहम् पश्चात् अहम् पुरस्तात्......अहम् एव इदम् सर्वम् इति" अब उसी तत्त्वमे अहम् का आदेश करके कहते हैं 'मै ही आगे, मै ही पीछे, मै ही यह सब कुछ हूँ'। "अथातः आत्मादेश एव आत्मा एव दक्षिणतः आत्मा उत्तरतः आत्मा एव इदम् सर्वम् इति" अब सनत्कुमारजी उसी सोऽहम् भूमामे आत्माका आदेश करके कहते हैं, आत्मा ही दक्षिणमे और आत्मा ही उत्तरमे है......आत्मा ही यह सब कुछ है—छा० ७, २५, १–२। उपरोक्तियोंसे परिस्फुट है कि अहम् त्वम् तत् आदिके द्वारा एक आत्मतत्त्वका ही अनेक प्रकारसे प्रवचन किया गया है। इस विवेकके समस्त ज्ञान और भक्तिका विरोध एवं द्वैत और अद्वैतके भेदका मोह हवा होजाता है। जहाँ आत्मातिरिक्त अन्यका श्रवण, अन्यका दर्शन और अन्यका ज्ञान नहीं वह भूमा है। जो भूमा है वही सुख है। आत्मासे भिन्न किसी अन्यमे, अल्प और क्षुद्रमे सुखलेश नहीं "यत्र न अन्यत् पश्यति......स भूमा, यो वै

भूमा तत् सुखं न अल्पे सुखम् अस्ति"। जो इस प्रकार देखता, जानता और मानता है वह आत्मासे रति करता है, आत्मासे खेलता है, आत्ममिथुन होता है और आत्मानन्दमे मस्त रहता है। आत्मराज्यमे निवासके कारण वह अपना राजा स्वराट् है, यही सच्चा स्वराज्य है। ऐसे आत्मपरायणकी सब लोकोंमे स्वेच्छा-गति होती है, उसे कहीं कोई रोकटोक नहीं। एष एवम् पश्यन् एवम् मन्वानः एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्म-मिथुनः आत्मानन्दः स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः भवति—छा० ७—२५—२। 'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' शरीर छोड़नेके पहिले जो इसी देहमे आत्माको और आत्मा की सच्ची कामनाओंको विना जाने मरकर चले जाते हैं उनकी सब लोकोंमे यथेच्छगति नहीं होती "ये इह आत्मानं अननुविद्य व्रजन्ति एतान् च सत्यान् कामान् तेषाम् सर्वेषु लोकेषु अकाम-चारः भवति"। इसके विपरीत जो इसी जीवनमे आत्माको और आत्माकी सच्ची आकांक्षाओंको जानकर परलोकगामी होते हैं उनकी सम्पूर्ण लोकोंमे यथेच्छगति होती है "अथ ये इह आत्मानं अनुविद्य व्रजन्ति एतान् सत्यान् कामान् तेषाम् सर्वेषु लोकेषु कामचारः भवति" छा० ८—१—६। आत्मज्ञ जिस-जिस लोक या भोग की इच्छा करता है सब उसके संकल्पमात्र से सामने आकर उपस्थित होजाते हैं "यं यं अन्तम् अभिकामः भवति यं कामं कामयते सः अस्य संकल्पात् एव समुत्तिष्ठति" छा० ८–२–१०। आत्मतृप्त पुरुष जैसे यहाँके कर्मार्जित लोकों को, तथैव परलोकके पुण्यजित लोकोंको क्षयशील मानकर सब ओरसे उपरत होजाता है। यह बात अनुभव और शास्त्र दोनोंसे सिद्ध है कि कामनाके ही कारण ब्रह्मलोकसे लेकर मृत्युलोक पर्यन्त जीवकी गति हुआ करती है और यह गति ही

इस जीवकी दुर्गति है। कामना ही समस्त अशान्तियोंकी जड़ है। कुछ चाहना ही पूर्णसे वंचित होजाना है। जीव जो चाहता है उसीके अधीन होकर दुःख पाता है और जो नहीं चाहता उसी को अपने अधीन करके सुखी होता है। अतएव जो देह रहते इसी जीवनमे उस परमपदको पानेकी अभिलाषा रखता हो जिससे बढ़कर और कोई पद नहीं और जहाँ जाकर कि जीव का पुनरावर्तन नहीं होता उसको दृढ़निश्चयी होकर विना आगापीछा सोचे दो काम करना चाहिये—एक आत्मजिज्ञासा और दूसरा आत्मलाभके अतिरिक्त अन्य कामनाओंका अशेष त्याग। हम जिससे हृदयके काम संकल्पको देखकर जानते हैं वह आत्मा है, वही हम हैं, उसे पकड़ना चाहिये। तब पता चलता है कि अन्तःकरणकी शुभाशुभ वृत्तियाँ आत्माकी नहीं हैं अतः आत्म-भूतकी सब कामनायें स्वतः निवृत्त होजाती हैं। हृदयमे शून्य का यह अखण्ड साम्राज्य ही कैवल्यपद है। जिसके द्वारा शून्य अर्थात् कुछ नहीं है इसका ज्ञान होता है वह अवश्य कुछ है, उसे पकड़ना चाहिये, वह आत्मा है वही हम हैं। यह ब्रह्मज्ञानकी भूमिका है। यहाँ अत्तर पुरुषका प्रकाश होता है। ततः तत् पदं परिमार्गितव्यम् यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति—गी० १५-४। तब उस पदका परिमार्गण[1] करना चाहिये जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता। ब्रह्मभूत इस पुरुषकी स्थिति है निर्मानमोह, जितसङ्गदोष, विनिवृत्तकाम, द्वन्द्वैर्विमुक्त और अध्यात्मनित्य। उस समय ब्रह्मबोधमें स्थित यह पुरुष परानिष्ठा, परम ज्ञान और परा भक्तिका प्रसाद पाकर बोल उठता है "तमेवचाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी" गी० १५-४। 'मै उस आदि पुरुष परमेश्वरके शरण हूँ, शरण हूँ जिससे कि विश्वकी इस

१—परिमार्गण=खोज, पता लगाना।

पुरानी प्रवृत्तिका प्रसार हुआ है' । इतना कहकर वह परमब्रह्म परमात्मामे प्रवेश करजाता है 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् गी० १८–५५ । यह शाश्वत अव्यय परमपद है जिसे जीव भगवत्प्रसादसे ही प्राप्त कर सकता है "मत् प्रसादात् अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्" गी० १८–५६ । कुछ लोग इस सर्वतोमुख अद्वैत परमात्माको तत् या त्वम् मानकर पृथक् भावसे भजते हैं और कुछ लोग अहम् मानकर एकत्व-भावसे उपासते हैं, बात एक ही है, तत्त्व और गतिमे कोई अन्तर नहीं पड़ता । "अन्ये च अपि ज्ञानयज्ञेन यजन्तः एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् माम् उपासते—गी० ६–१५ । गीताका भगवान् शरीरधारीके लिये अव्यक्तोपासनाको क्लिष्टकर वताकर अनन्य भक्तके समुद्धारका भार जबकि स्वयं अपने ऊपर ही लेना अधिक अच्छा समझता है और यह भी कहता है कि विना देरी लगाये वह शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसागरसे पार उतार देगा तो अपना बोझ दूसरे के शिर पर रखकर निश्चिन्त होजानेसे बढ़कर उत्तम सौभाग्य देही के लिये भला और क्या हो सकता है। पार्थ ! ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः अनन्येन एव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते तेषाम् मयि-आवेशितचेतसाम् मृत्युसंसारसागरात् अहम् नचिरात् समुद्धर्ता भवामि—गी० १२, ६–७ ।

मानवदेहकी प्रशंसा करते हुए उपनिषद्के ऋषि परमपद-प्राप्तिकी सरल युक्ति वताते हैं । वे कहते हैं कि मनुष्यकी यह काया अत्यन्त कौशलसे रची गई साक्षात् ब्रह्मपुरी है । मर्त्य-लोकसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त बाहर जो कुछ है वह सब इसके भीतर है । स्वर्गादिकी अपेक्षा यहाँ पर दुःखकी मात्रा अधिक-

होनेके कारण दीनबन्धु परमेश्वरकी कृपा भी अल्पायाससे अचिरात् प्राप्त होती है। तस्मात् लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका अशेष सन्यासकर हृदयमे ही सत्यं परं का अनुसन्धान करना सर्वाधिक निरापद है। अन्यथा जीवका लिंगदेह और मन जिसमे अत्यन्त आसक्त होता है वहीं सक्त हुआ यह जीव भी किये हुए कर्मोंको साथ लेकर चला जाता है। वह यहाँ जो कुछ करता है उस कर्मका फल भोगकर उस लोकसे पुनः इसी लोकमे कर्म करनेके लिये चला आता है "तदेव सक्तः सहकर्मणा ऐति लिङ्गं मनः यत्र निषक्तम् अस्य, प्राप्य अन्तं कर्मणः तस्य यत् किञ्च इह करोति अयम्, तस्मात् लोकात् पुनः ऐति अस्मै लोकाय कर्मणेइति" बृह० ४-४-६। अतः धूमादिमार्गसे स्वर्गलोक जाना व्यर्थ समय खोना है। किसी दिन सुस्वप्न दिखाई पड़गये तो समझलेना चाहिये कि स्वर्गसुख भोग लिया,, ऐसे ही प्रगाढ़ निद्रा आगई तो मानो ब्रह्मलोकके दर्शन होगये। इससे अधिक सुख वहाँ नहीं है। रही अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोक होते हुए परमपद प्राप्तकरने की बात तो सुख-सुविधाके बाहुल्यके कारण प्रमादवश यदि कहीं तत्त्व-जिज्ञासा भूलगई तब तो वहाँसे भी गिरकर अन्तमे इसी संसारमे आना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ तो भी कल्प पर्यन्त करोड़ों वर्ष प्रतीक्षाके बाद तब कहीं प्रियतम परमेश्वरके परम-धाममे प्रवेश होगा "ब्रह्मणा सह......परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्"। इस लम्बी प्रतीक्षाकी अपेक्षा दश-बीस बार मनुष्य जन्म लेकर साधनके द्वारा परमपद प्राप्त करना कहीं अधिक सुगम है। सुतरां प्राणोंकी अन्यत्र गति रोंक देनेके लिये निष्काम होकर देहपातके पूर्व इस ब्रह्मपुरमे ही तत्त्वसाक्षात्कार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। "अथ

यत् इदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरः अस्मिन् अन्तराकाशः तस्मिन् यत् अन्तः तत् अन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् इति'' छा० ८-१-१। इस ब्रह्मपुरमे एक सूक्ष्म कमलाकार गुहा है। उसके अन्तर दहर नामक चिदाकाश है। उस दहराकाशके अन्तरमे जो रहता है उसीका अन्वेषण और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। 'किं तत् अत्र विद्यते यत् अन्वेष्टव्यम्' उसमे क्या है कि जिसे खोजना चाहिये? ''यावान् वा अयम् आकाशः तावान् एषः अन्तर्हृदयः आकाशः उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तः एव समाहिते उभौ अग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ उभौ विद्युत् नक्षत्राणि यत् च अस्य इह अस्ति यत् च नास्ति सर्वं तत् अस्मिन् समाहितम् इति'' छा० ८-१-३। बाहर यह जितना बड़ा अनन्त आकाश है, हृदयान्तर्गत आकाश भी उतना ही बड़ा है। द्युलोक और पृथिवी, अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र एवम् इस आत्माका इस लोकमे जो कुछ है और जो नहीं है वह सब इस दहराकाशमे सन्निहित है। यदि यह आशंका कीजाय कि तब तो इस देहके जर्जर और विध्वंसमे उन सबोंका भी विनाश होजायेगा? तो कहते हैं कि नहीं, घटभङ्गसे घटाकाशका नाश नहीं होता। इस नश्वर देहमे जो ब्रह्मपुर है वह सत्य है। इसीमे सब कामनायें सन्निहित हैं। यह आत्मा जरा, मृत्यु, शोक, पाप, क्षुधा और पिपासासे रहित सत्यकाम और सत्यसंकल्पस्वरूप है। ''एतत् सत्यं ब्रह्मपुरं··· ··एष आत्मा सत्यकामः'' छा० ८-१-५। जीवके हृदयको आश्रय करके रहनेवाली समस्त कामनायें जिस समय नष्ट होजाती हैं तदा यह मरणधर्मा अमृत होजाता है और इस शरीरमे ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति होजाती है ''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य

हृदि स्थिताः, अथ मर्त्यः अमृतः भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते इति'' बृह० ४-४-७। निष्काम आत्मविद्को सर्वव्यापी परम-ब्रह्म परमात्मासे मिलनेके लिये मरकर कहीं जानेकी आवश्य-कता नहीं, उसके लिये सर्वत्र ही परमपद है। "यः अकामः निष्कामः आप्तकामः आत्मकामः न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्म एव सन् ब्रह्म अप्येति'' बृह० ४-४-६। जो केवल आत्मा की कामनावाला अकाम, निष्काम और पूर्णकाम है उसके प्राण देहपातके अनन्तर अर्चि या धूममार्गसे ऊपर नहीं जाते। वह ब्रह्म रहकर सीधे ब्रह्मको ही प्राप्त होता है, कहीं इधर-उधर नहीं जाता। अशरीरी अमृत प्राण तो ब्रह्मतेज ही है, उसके विना यह शरीर ऐसे ही सोता है जैसे सर्पके द्वारा छोड़ी हुई मरी केंचुल वामीमे सोती पड़ी रहती है 'यथा अहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवम् एव इदम् शरीरं शेते'······बृह० ४-४-७। एक ने पूछा याज्ञवल्क्य ! जब यह मुक्त पुरुष मरता है तब इस शरीरसे प्राण कहाँ जाते हैं ? "यत्र अयं पुरुषः मृयते उत् अस्मात् प्राणाः क्रामन्ति आहो''। याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है, वे यहीं लीन होजाते हैं। मुमूर्षु गंभीर श्वास खीचकर फूल जाता है, वायुसे पूर्ण हुआ ही मृतक सोता है। "नेति नेति हा उवाच याज्ञवल्क्यः अत्र एव समवनीयन्ते स उच्छ्वयति आध्मायति आध्मातः मृतः शेते'' बृह० ३-२-११।

गीतामे श्रीभगवान्ने परमपद, परमधाम, परागतिकी चर्चा अनेक स्थलोंमे किया है, परन्तु गोलोकका कहीं उल्लेख नहीं किया। कदाचित् इसको उन्होंने अपनी परम प्रेमिका महाभागा गोपिकाओंके लिए नियत रख छोड़ा हो। भक्तलोग ब्रह्मलोकसे भी विलक्षण परमपदान्तर्गत भगवान्का नित्यली-

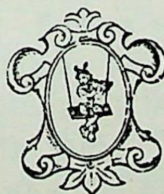
लाधाम गोलोक मानते हैं। भक्ति ग्रन्थोंमे इसका विस्तार देखना चाहिये ।

जो भी हो देह गिरनेके पूर्व ही चरमपद पाने पर शास्त्रोंने वहुत अधिक जोर दिया है। अतः हम लोगोंको देह रहते यहीं उस परमात्माको जानलेना चाहिये "इह एव सन्तः अथ विद्मः तत् वयम्, (त्वम्) न चेत् अवेदीः महती विनष्टिः" वृह० ४-४-१४ । श्रुति कहती है कि यदि तुम ऐसा नहीं करते तो समझो कि महान् क्षति होगई। जो आत्माको जानते हैं वे अमर हैं, जो नहीं जानते वे दुःख पाते हैं "ये तत् विदुः अमृताः ते भवन्ति, अथ इतरे दुःखम् एव अपियन्ति"। आत्मज्ञान और आत्मरति उपनिषदों की सर्वोच्च स्थिति है, यहाँ मृत्युका कोई भय नहीं, यही अभयपद परमपद है।

मृत्युसे भयभीत प्राणियों की धर्ममे प्रवृत्ति हो, परमात्मामे अनुरक्ति हो, चित्तमे परमा विरक्ति हो और हो अहंकारकी समाप्ति तो मृत्युका भय सर्वथा निवृत्त होजाय और तभी यह भय सार्थक है। असत्य मरदेहके द्वारा इसी पृथ्वी पर सत्य और अमृत तत्त्व परमात्माकी प्राप्ति ही नरदेहकी एकमात्र विशेपता है। अस्ति एषा वुद्धिमतां वुद्धिः—

"यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्"

भा० ११-२९-२२।



अथातो आत्मजिज्ञासा

परमात्मामें विश्वास है और बहुतोंको नहीं भी है, परन्तु आत्मविश्वास तो सभीको है. अपनी सत्ताको कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है। कोई कहे भी कि मैं आत्माको नहीं मानता तो उसका अर्थ भी यही होता है कि वह आत्माको मानता है, हाँ जानता नहीं है। यदि आत्मा न होता तो यह कहने भी कौन आता कि मैं आत्माको नहीं मानता। पत्थर तो किसीसे यह कहने आता नहीं कि मैं कुछ नहीं मानता। लोकमें जब कोई कह देता है कि मैं आपको नहीं मानता तो उसकी यह बात वज्रके समान लगती है और मनमें ऐसा भाव उठता है कि देखो मैं हूँ और यह कहता है कि मैं आपको नहीं मानता, कैसी उल्टी बात है; उस समय हृदय यही चाहता है कि जैसे भी हो इससे अपनेको मनवालूँ। नास्तिक वह है जो अपना अस्तित्व न माने, जो अपना अस्तित्व न माने ऐसा कोई नहीं. इसलिये संसारमें कोई नास्तिक नहीं, सभी आस्तिक हैं। मनुष्य जो अपना आप है वही अपना आत्मा है, वही हम हैं; परमेश्वर कोई हो न हो, हम तो हैं ही हैं, अतः उस 'अहम्' को हमें खोजना चाहिये, यही आत्म-जिज्ञासा है।

जो अपना अस्तित्व मानता है, जैसे कि वास्तवमें सब कोई मानता है, उसे आपसे सब कुछ मानलेना पड़ता है, वह कोई चीज अमान्य नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ न मानने का अर्थ होता है अपनी सत्ताको ही अमान्य करदेना और ऐसा करना किसी जीवके लिये संभव नहीं। इसलिये परमात्मा

को जब कोई कहता है कि मै तुमको नहीं मानता तो उसका अर्थ होता है कि वह स्वयं को ही नहीं मानता और तब हसकर परमात्मा कहता है कि आत्मा ही तो मै तुम्हारा हूँ, हमको मानो या न मानो, तुम अपनेको मानकर जानो, फिर तो हमको बिना माने तुम रह नहीं सकते और हमारे बिना न काम ही चल सकता तुम्हारा। भला कौन ऐसा है जो जरूरत की चीजको न माने। बात ऐसी है कि जो है वह किसीके न मानने पर भी है और जो नहीं है वह किसीके मानने पर भी नहीं है। "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" गी० १०-२०। 'सब प्राणियोंके अन्तःकरणमे स्थित जो आत्मा है, वही मै हूँ, वही परमात्मा है'। भगवान्का यह प्रियतम सन्देश है और निद्राजित सखाको ही नहीं, विरहतप्ता प्रियतमा गोपिकाओंको भी उद्धवके द्वारा उन्होंने यही मन्त्र प्रेषित किया था।

कोई यह कह सकता है कि जबकि आत्मा ही मै हूँ तो उसको न जानने पर भी निश्चय मै आत्मा ही हूँ, तव आत्मज्ञानका क्या प्रयोजन। परन्तु बात इतनी सीधी नहीं, बड़ी गुह्य है; इस रहस्यको हृदयङ्गम करनेके लिये आर्य ऋषियोंको अनेक जन्म कठिन तप करना पड़ा था। अन्तर यह पड़ता है कि अनुमानका यह मानना और अनजानका यह जानना जीवके राग-द्वेष और शोक-मोहको ऐसे ही नहीं हरता जैसे आँगनमे गड़ा सुवर्णका खजाना उसके ऊपर प्रतिदिन विचरते हुए भी अनभिज्ञका दारिद्र्य दूर नहीं करता। सत्यको न जाननेके कारण असत्यके द्वारा प्रजाकी आत्मा हरली गई है। तत् यथापि हिरण्यनिधिं निहितं अक्षेत्रज्ञाः उपरि उपरि संचरन्तः न विन्देयुः एवम् एव इमाः सर्वाः प्रजाः अहः अहः

गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः— छा० ८-३-२। विना माने जाननेकी इच्छा नहीं होती और विना जाने जो मानलेना है वह तो हृदयके ऊपरी स्तरकी एक ऐसी निर्मूल वेल है जो किसी क्षण सूख सकती है। अतएव दृढ़प्रतिज्ञ होकर निश्चयपूर्वक आत्माको स्वीकारकर उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।

आत्माको जो कहता है कि नहीं है उस नास्तिकको वह होते भी नहीं मिलता। अस्ति कहनेवालोंसे भिन्नको इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? "अस्तीति ब्रुवतः अन्यत्र कथं तत् उपलभ्यते" कठ० २-३-१२। निश्चयात्मिका मतिसे आत्माको स्वीकार करलेना अस्तिभाव है और उसे अनुभवसे प्रत्यक्ष करलेना तत्त्वभाव है। अस्तिभाव और तत्त्वभाव उभय भावों से ही आत्माकी उपलब्धि करनी चाहिये। प्रथम अस्तिभावकी उपलब्धि होनेसे अतः पर तत्त्वभावका प्रसाद प्राप्त होता है। अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ कठ० २-३-१३। आत्माका अस्तित्व माने विना यत्नमे प्रवृत्ति नहीं होती और विना यत्नके तत्त्वका प्रकाश नहीं होता। अस्तिभावकी उपलब्धि जीवके बौद्धिक प्रयत्न पर निर्भर है और तत्त्वभावकी अनुभूति कृपासाध्य है। यम् एव एषः वृणुते तेन लभ्यः तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूम् स्वाम्—कठ० १-२-२३। आत्मा अपने स्वरूपका विस्तृत विवरण उसीको देता है जिसे यह स्वयं वरण करता है और जिसे यह स्वयं वरण करता है उसीको आत्मदर्शनका अलभ्य लाभ प्राप्त होता है।

आत्मकथाका शीर्षक देकर देहकथा लिखनेकी देशमे आजकल एक प्रथा सी चलगई है। इससे अधिक इस वातका

प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या मिल सकता है कि लोकमे देहने आत्माका स्थान ग्रहण करलिया। अहम् यदि देह है तो मृत्यु-भयसे पिण्ड नहीं छूट सकता और तब आत्मजिज्ञासाकी भी कोई जरूरत नहीं। मृत्यु अनिवार्य जानते हुए भी क्या कोई अपना विनाश चाहता है ? कदापि नहीं, न जातु[1]। इसलिये मर्त्य देहसे परे अमृतात्माकी, अपने आपकी जिज्ञासा[2] करनी चाहिये। आत्मसत्ता प्रत्यक्ष ध्रुव सत्य है।

आत्मानुभवके पथमे कुछ यात्रा तो जीवको अपने पुरुषार्थ से तैं करनी पड़ेगी एवम् उसमे बिलकुल कोई रियायत न होगी चाहे कोटि जन्म लग जाँय, ईश्वरीय सहायता भी यहाँ जो कुछ मिलेगी वह अप्रत्यक्षरूपसे ही मिलेगी और पथका शेष अंश पार करनेके लिये केवल परमात्माकी कृपा पर निर्भर रहना होगा, जिस कृपाने कि आजतक किसी भी सच्चे साधकको करुणासे वंचितकर निराश नहीं किया। परमधामकी यह बड़ी विकट यात्रा है, और तो और वहाँ चन्द्र-सूर्यकी भी गति नहीं "न तत् भासयते सूर्यः न शशांकः न पावकः"। कठश्रुतिके कवि तो कहते हैं कि इस दुर्गम पथमे आदिसे अन्ततक छूरेकी तेज धार पर ही चलना पड़ेगा। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः तत् कवयः वदन्ति। अपने करने का जो काम है उसे करके स्वातिविन्दुके लिये पपीहाके समान व्याकुलित चित्तसे अनन्तकालको सामने रखकर आशा लगाये निरन्तर ऊपरकी ओर देखते हुए अटूट विश्वास और धैर्यके साथ इस प्रतीक्षामे बैठना है कि परमात्मा हमको वरण

१—न जातु=हरगिज नहीं, त्रिकालमे भी नहीं।

२—जिज्ञासा=जाननेकी इच्छा।

करे। विस्तर बाँधकर सब समय प्रस्तुत ही रहना चाहिये, न जाने कब उसका आह्वान कलगान सुनाई पड़ जाय। असावधानीमे कहीं इधर-उधर फँस गये और उधर क्लीमृगान करती कृष्णवंशी बज गई तो फिर यहीं माया-मोहके जेलखानेमे बन्द करदिये जायेंगे, वहाँ पहुँच नहीं सकते। दुश्चरितसे विरत होकर शान्त, समाहित और सुस्थिर मनसे प्रज्ञाके द्वारा उसे प्राप्त करना होगा, इतरथा वह मिल नहीं सकता। न अविरतः दुश्चरितात् न अशान्तः न असमाहितः, न अशान्तमानसः वापि प्रज्ञानेन एनम् आप्नुयात्—कठ० १-२-२३। वास्तवमे यह करनेका नहीं वल्कि कुछ न करनेका, चेष्टाका नहीं वल्कि निश्चेष्टताका पथ है। चेष्टा तो कुछ न कुछ सभी करते हैं, चेष्टा जीवका स्वभाव है, इसमे कौनसा पुरुषार्थ है। करनेकी अपेक्षा कुछ न करना, चेष्टाकी अपेक्षा निश्चेष्ट होजाना कहीं अधिक कठिन है। साधन-पथमे जहाँ कहीं भी कुछ क्रिया या चेष्टा बताई गई है वह निष्क्रिय और निश्चेष्ट होने ही के लिये है। शास्त्रोक्त अखिल प्रवृत्तियाँ निवृत्तिके निमित्ति हैं। गीताने केवल उस तामसी अकर्मण्यताको मिथ्याचार कहा है जहाँ पर लोग हाथ-पैर समेटकर मनसे सर्वदा गन्धर्वनगरी बसाते रहते हैं। जिनका अन्तर निवृत्त होगया है, हृदयकी समस्त कामनायें जहाँ शान्त हैं, रज-तमसे उपरत होकर सत्से भी परे साम्यावस्थामे जिनकी प्रकृति पहुँच गई है उन कृतार्थ, समाधिस्थ, आत्मरत महापुरुषोंके लिये शास्त्रोंमे कर्मका कहीं कोई आदेश नहीं है, 'तस्य कार्यं न विद्यते' फिर भी यदि वे जनहितार्थ कभी कुछ करदेते हैं तो इसे समाजपर उनकी कृपा समझनी चाहिये। विद्युतके समान स्वयं कुछ न करते हुए भी उनकी

सन्निधिमात्रसे समाजको अनन्त कर्मकी प्रेरणा मिलती है। अभिमानवश अकर्मी कहकर जो इनकी अवहेलना या इनका उपहास करता है वह पाँच मिनट मन, प्राण शरीर और इन्द्रियों को निश्चेष्ट करके बैठे तब उसे इस बातका पता चले कि कुछ करने की अपेक्षा कुछ न करना कितना कठिन काम करना है। जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्ण स्थिर होजाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती उसीको श्रुतियोंने परमा गति कहा है "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्"॥ कठ० २-३-१०। इस प्रकार योगसाधन प्रयत्नसाध्य और कृपासाध्य दोनों है। अपना काम करनेके लिये तो भगवान् सर्वदा ही प्रस्तुत बैठे हैं, विलम्ब जीवकी ही ओर से है अतः जीवको निश्चेष्टताकी चेष्टा करनी चाहिये। इन्द्रियसंयममे तत्पर होकर श्रद्धापूर्वक योगसाधनमे जुट जाना है, आत्मज्ञान तो समय आने पर स्वयं ही प्रकट होगा, परमात्माकी कृपामे भी क्या कभी किसीको कोई सन्देह हो सकता है "तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति" गी० ४-४ ३८।

जीवके प्रयत्नमे तीन प्रमुख बातें हैं—दृष्टिस्थिर, वाक्-स्थिर, बिन्दुस्थिर। आचार्यपरम्परा, अभिरुचि और पात्रभेदसे तीनों कार्य सिद्ध करनेके सहस्रों उपाय हैं। सब उपाय ही गौण हैं। काम होजाना चाहिये, जैसे भी हो, उपायोंसे कोई मतलब नहीं। जो साधक लोहेके ये तीन चने चबा गया उसका बेड़ा पार है, उसीके लिये सिद्धि है, कृपा है, सब कुछ है। साधनाका वेग कितना भी प्रबल क्यों न हो इस कार्यके सिद्ध होनेमे कुछ समय लग ही जाता है। जन्मजन्मान्तर लग सकते हैं और एक क्षणमे भी हो सकता है, इसका कोई भी एक

नियम सबके लिये समान नहीं है। देवानुग्रहके विना यद्यपि ये कार्य भी सिद्ध नहीं होते, परन्तु हैं ये मुख्यतः पुरुषार्थ-प्रधान, कृपा इनसे भी परे एक महान् वस्तु है। स्थिरताकी इस त्रिविध सिद्धिमे जितनी देर है, तत्त्वप्रकाशमे भी केवल उतना ही विलम्ब समझना चाहिये, उससे कम और अधिक नहीं।

महात्मागण साधनके सम्बन्धमे दो से तीन बात कोई नहीं कहते, उनमे एक तो ध्यान है और दूसरा है जप। जपसे वाक् स्थिर होती है और ध्यानसे दृष्टि एवम् दोनोंके फलस्वरूप होता है बिन्दुस्थिर। इसलिये जप और ध्यानकी ओषधि आध्यात्मिक सभी रोगोंमे काम आती है। जप शब्दकी साधना है और ध्यान रूपकी, शब्दके विना जप नहीं और रूपके विना ध्यान नहीं। जपके मन्त्र और ध्यानके देवता अनन्त होसकते हैं, अथवा साकार और निराकार उपासनाके भेदसे जप और ध्यानके सहस्रों प्रकार हो सकते हैं परन्तु व्यापक अर्थमे जप और ध्यानका आलम्बन लेकर शब्द और रूपकी यह साधना प्रायः सभी साधकोंको करनी पड़ती है। जपका मन्त्र वैदिक, तान्त्रिक या मिश्रित हो अथवा मन्त्रके स्थानमे कोई उत्तम विचार, भाव या श्लोकका मनन हो, प्रकृति-पुरुष का विवेक कहाजाय या वेदान्तविचार, जिसे जो मनभावे नाम दे डाले—है सब किसी न किसी रूपमे शब्दकी ही साधना। ऐसे ही ध्येय कोई देवता हो, चित्तकी अवस्था हो, शब्दादिक दिव्य विषय हों, चन्द्र सूर्य नक्षत्र अग्नि वा आकाशतत्त्वका ध्यान हो अथवा प्रत्याहारकी[1] विधिसे देहके किसी अंगविशेष

---

१ प्रत्याहार=इन्द्रियोंको वाह्य विषयोंसे खींचकर अन्तर्मुखीन करनेका अष्टांगयोगका पंचम अंग।

या सप्तचक्रोंमे धारणा कीजाय, आत्मचिन्तन हो या हृदयमे हो किसी ज्योतिका दर्शन, जो भी हो और जिस किसी भी नामसे उसे पुकारा जाय—है वह रूप, ध्यान या दृष्टिकी ही साधना। शब्द-रूप कहाजाय या नाम-रूप बस इतना ही संसार है और इन्हींमे है इन्द्रियोंके अन्य विषयोंका अध्याहार[1]। नाम-रूपकी प्रवृत्तिमे सारी प्रवृत्तियाँ आजाती हैं और इनके निवृत्त होजानेसे सम्पूर्ण संसार निवृत्त होजाता है। अब देखना यह है कि जप और ध्यानके द्वारा शब्द और रूपकी निवृत्ति होकर वाक् और दृष्टि स्थिर कैसे होती हैं।

काल या चित्तकी अवस्थाके अनुसार मनुष्यका जीवन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके तीन अध्यायोंमे बँटा है। स्वप्न-शून्य घोर निद्रा किसीको तीन-चार घंटेसे अधिक नहीं होती। केवल इसो बीचमे मनुष्य कोई शब्द उच्चारण नहीं करता और कोई रूप नहीं देखता। शेष बीस घंटे प्रत्यह[2] जाग्रत् और स्वप्नमे तैलधारावत् निरन्तर मनुष्य कुछ न कुछ शब्द करता रहता है और कोई न कोई रूप देखता रहता है। एक क्षणके लिये भी शब्द और रूपका यह ताँता नहीं टूटता, श्वास-प्रश्वासके साथ ही चलता रहता है। स्थूल और सूक्ष्म भेदसे जाग्रत्मे शब्द और रूपकी द्विविध लीला चलती है। मुख खोलने पर ध्वन्यात्मक शब्द निकलते हैं जोकि वैखरी है और अधरोष्ठ बन्दकर शब्दोंका चिन्तन चलता है जिसे मध्यमा वाणी कहते हैं। स्वप्नकी भाषा और जाग्रत्मे मुख बन्दकर शब्दोंका विचार एक ही वस्तु है। ऐसे ही आँख खोलनेसे

१—अध्याहार=ऊह्य, विना कहे जिसमे बात आजाय, समझ लीजाय अथवा अस्पष्ट अर्थको स्पष्ट करनेका पद।

२—प्रत्यह=प्रतिदिन, रोज।

दृश्य जगत् देखा जाता है और नयन मूद्‌लेनेसे कल्पनात्मक संसारका छायाचित्र दिखाई पड़ता है। स्वप्नमे जो सिनेमा दीख पड़ता है और जाग्रत्‌के निमीलित[1] नेत्रमे जो चित्र दृष्टि गोचर होता है वह एक ही प्रक्रिया है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमे शब्द और रूपके तीन-तीन भेद होजाते हैं, परन्तु तीन भेद केवल समझानेके लिये हैं वास्तवमे वाक् और दृष्टिके कोई तीन रूप नहीं हैं। मनुष्य जब स्वप्न देखता और स्वप्नकी भाषा बोलता है तब जाग्रत्‌का संसार नहीं देखता और मुखसे नहीं बोलता। ऐसे ही जाग्रत्‌मे जब वह कंठ, ओष्ठ और तालुसे ध्वनि करता एवं चर्मचक्षुसे देखता है तब न तो मनकी आँखसे कल्पनाकी छवि आँकता और न विचार करके मनमे कल्पनाका राज्य ही बसाता। इसी प्रकार मनोमय नाम-रूपका व्यापार करते समय वाह्य दर्शन और वचन अवरुद्ध रहते हैं। अभिप्राय यह कि बाहर हो या भीतर एक समयमे एक ही क्रिया होती है। इससे सिद्ध है कि एक वाक् और एक ही दृष्टि है। दीपशिखाको जैसे वायु नचाता है वैसे ही ये शब्द और रूप एक क्षणके लिये भी वाक् और दृष्टिको स्थिर नहीं रहने देते सर्वदा चंचल करते रहते हैं। इस अशान्तिसे घबड़ाकर जीवका प्राण निद्रादेवीकी शरण लेता है परन्तु आनन्दमयीमा भी तीन-चार घंटेसे अधिक जीवको अपने गोदमे नहीं रखतीं। स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा ही आनन्दमयीमा हैं। नींदसे बढ़कर सुख भूलोकसे ब्रह्मलोक तकके किसी भी भोगमे नहीं। तभी तो भूर्भुवः स्वः की उपेक्षा-कर जीव निद्राकी कामना करता है। मनुष्यको चारदिन गाढ़ी नींद न आये तो विधुवदनी स्वर्गसुन्दरी ललना कालके

१—निमीलित=बन्द, मुदी हुई आँख

समान प्रतीत हो और खान-पानका समस्त सुख जान पड़े कि शैतानकी खान है। संसारसे घबड़ाये हुए प्राणी पर करुणा करके परमात्माने प्रकृतिमे सहज निद्रा दिया है। निद्रा अज्ञानी जीवोंकी निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि है। स्मरण रहे निद्रा का सुख नामरूपमय स्थूल और सूक्ष्म संसारके अभावका सुख है और वह जीवको यह पाठ पढ़ाता है कि आत्माके अतिरिक्त जो कुछ भी संसार प्रतीत होरहा है उसके अभाव या त्यागमें ही में सच्चा सुख है, नानात्वके योगक्षेममे लेश भी कोई सुख नहीं। परन्तु संकल्पप्रभवान् कामान्का अशेष त्याग जबतक नहीं होता तबतक बाह्य त्याग करके भी तत्त्वतः कोई लाभ नहीं। जाग्रत् और स्वप्नमे नाम-रूप चिन्तनकी प्रतिदिन बीस घंटे जो आदत पड़गई है वह नहीं छूटती। यहाँ तक कि नामरूपत्याग का संकल्प भी एक नवीन वृत्ति या संकल्प बनजाता है। अतः इस कार्यको बड़ी युक्तिसे करना पड़ेगा। स्वप्नावस्थामे जो शब्द और रूपका व्यापार चलता है उससे यद्यपि साधनकी क्षति होती है परन्तु वह आदती दुनिया है एवं उस समय जीवका साधन या पुरुषार्थभाव प्रसुप्त रहता है इसलिये इस अवस्थाको तो आरम्भमे छोड़ ही देना चाहिये, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं; साधनामे प्रगति होने पर आगे चलकर ऐसा हो सकता है कि साधक प्रगाढ़ निद्रा भङ्ग होनेके उपरान्त स्वप्नमे न जाकर सीधे जाग्रदवस्थामे आजाय। साधन जाग्रद्दशामे ही होता है। परन्तु जाग्रत्मे भी शब्द और रूपका सर्वथा त्याग तो बहुत ही कठिन है और मानलिया यदि किसी प्रकार ऐसा संभव भी हो तो फिर उस व्यक्तिके द्वारा कोई लोकव्यवहार नहीं होसकता। अतः विद्या ऐसी हाथपड़नी चाहिये कि जब चाहें तत्क्षण शब्द और रूपको अन्तरसे अशेषतः निकाल फेंकें

एवम् हृदयको बिलकुल खाली, शून्य, नीरव और निःसंकल्प करलें और जब इच्छा हो तब लोकसंग्रहके लिये व्यवहारमे आजाँय। लौकिक विद्या-बुद्धि इसमे काम न आयेगी, एम० ए० और आचार्यकी डिग्री यहाँ बेकार है; इस योगमे उच्चकोटिके विचारोंका उदय होना कोई महत्व नहीं रखता और न यह ज्ञानका ही कोई लक्षण है। उच्च विचारसे किसीका जीवन भी उच्च ही होगा इसका कोई ठीक नहीं और मानलिया कि जीवन भी उच्च या सात्विक हो तो इतना ही पर्याप्त नहीं है, अरे यहाँ तो अच्छे-बुरे जितने भी विचार हैं सब अज्ञान ही हैं, होनी चाहिए निर्विचार चेतनाकी अखण्ड स्थिति और जो ऐसा कर सके वही सबसे बड़ा बुद्धिमान् है। अब देखना यह है कि जाग्रत्मे नामरूपका त्यागकर जिस मनको एक क्षणके लिये भी रोंकना अत्यन्त कठिन है वही मन विना किसी प्रयत्नके अपने आप निद्राकी निर्विकल्प समाधिमे कैसे चला जाता है? वह विद्या और कला कहीं जाग्रत्मे मनुष्यके हाथ लगजाय तो नर नारायण होजाय। कंचनकी शय्यामे पार्श्वमे कामिनीको लेकर सोजाइये निद्रित पुरुषको लोभ और कामका कोई भी पाप स्पर्श न करेगा। सोये हुए आदमीके कानके पास मुख लेजाकर उसे हजार गाली दे डालिये अथवा उसकी प्रशंसाके पुल बाँध दीजिये परन्तु उसे न क्रोध होगा और न अभिमान। माके गोदका बच्चा या युवतिका प्राणपति मृत्युशय्यामे पड़ा हो, उसी समय शोक-तापकी मारी देवीजीको कहीं नींद धर दबोचे तो गायाके छायाकी रेख भी श्रीमतीजीके चन्द्रवदनमे कहीं खोजनेसे न मिलेगी। यह निद्रा पाप-पुण्यसे अतीत आत्मा-लिङ्गित अवस्था है। मनुष्यका मन छोटे बच्चेकी तरह है। घास, पात, कंकड़, धूलि समेटकर बच्चे इतनी तन्मयतासे रास

रचाते हैं कि किसी बड़े-बूढ़ेका मजाल क्या कि उनकी गोटी इधरसे उधर करदे। परन्तु थोड़ी देरमे वे स्वयं ही सब फेंक-फाँककर किलकारी मारते भगदेते हैं। ऐसे ही जाग्रत्‌मे मनसे कहो, भैया मानिक! जरा थिर होजाओ परन्तु ये भले मानुष मनीराम तो वृन्दावनके माखनचोर नीलमणिसे भी चारसौबीस खेलनेवाले, स्थिर होना तो इन्होंने सीखा ही नहीं। किन्तु निदरियामे ये चंचल गोपाल बड़े ही निर्लिप्त शान्त देवता होजाते हैं। निद्राकी प्रशंसासे किसी साधकको यह अर्थ न लेना चाहिये कि सुअरकी तरह बस रातदिन पड़े-पड़े सोते रहना ही ठीक है। वह तो अज्ञान और घोर तमस्‌की अवस्था है, उसकी अपेक्षा तो रजोगुणमे आसक्त होकर दण्डाहत सर्पिणीके समान छटपटाते रहना, कुछ करते रहना कहीं अधिक अच्छा है। निद्रा किस कामकी? सच्चे अहम्‌को ही तो खोजना है? निद्रामे जीव उसीको खो देता है। जाग्रत्‌मे देह-गेहका ही अहम सही, अहमका या अपने आपका कुछ बोध तो रहता है? जाग्रत्‌का बोध बना रहे और फिर भी मन एवम् इन्द्रियोंमे प्रगाढ़ निद्राकी सहज शान्ति आजाय, सुषुप्तिकी स्तुतिसे केवल इतना ही अभिप्रेत है। यही ज्ञानी जनोंकी निर्विकल्प समाधि है। देहीको तत्त्वका यह प्रसाद बड़े भाग्यसे मिलता है। मन जिस मार्गसे निद्रामे जाता है जाग्रत्‌मे पूर्ण प्रबुद्ध होकर उसी मार्गसे हृदयगुहामे प्रवेश करना होगा। सोते समय सीधा लेट जानेसे मनुष्यका शिर बराबर नहीं रहता, लटक जाता है, इसलिये शिरको रीढ़की हड्डीसे नीचेसे ऊपर तक सीधा रखनेके लिये मनुष्य उपधान अर्थात् तकिया लगा लेता है। परन्तु लेटनेमे मनप्राण तमसे अभिभूत होजाते हैं, इसलिये साधनके समय कटिसे शिर पर्यन्त मेरुदण्ड

को सीधा करके काशी विश्वनाथकी मूर्तिके समान बिना हिले-डुले स्थिर, दृढ़ एवम् अचल आसनसे बैठना चाहिये। मनुष्यको छोड़कर, अन्य कोई भी जन्तु मेरुदण्ड पूरा सीधा करके नहीं बैठ सकते। मेरुदण्ड सीधा करके यदि मनुष्यको परमात्मा खड़ा न करदिया होता तो उसके हाथ जमीनमे पड़जाते और वह भी एक चौपाया जानवर होता एवम् तब परमेश्वरका अनुभव नरदेहसे असम्भव होजाता। पशुपक्षियोंमे जो जितना ही मेरुदण्डको सीधा करके खड़ा हो सकता है उसमे बुद्धिकी मात्रा उतनी ही अधिक है। इसके अतिरिक्त निद्रामे ऊपर-नीचे की दन्त पंक्तियाँ कभी जुड़ी नहीं रहतीं अत: उन्हें अलग-अलग करके जीभको इधर-उधर बिना मोड़े सीधे ऊपरी तालुसे चिपकाकर योगसाधनमे प्रवृत्त होना चाहिये। आँखें बन्द हों या खुली हों, शवके समान अर्धनिमीलित शिवनेत्र हों अथवा ऊर्ध्वदृष्टि करके चक्षुके दोनों तारे ऊपरी पलकसे ढके हों, जिसे जिसमे अधिक सुविधा जानपड़े कर सकता है। केवल इतना ध्यान रहे कि दृष्टि भ्रूमध्य या नाशिकाग्रमे स्थिर हो परन्तु निद्रासे बचनेके लिये नेत्र खुली छोड़ देना अधिक अच्छा है। चित्तका चलना ही पलकका चलना है। चित्तस्थिर हुआ कि पलक भी अचल होजाते हैं। बाहर-भीतर बिना किसी अवलम्बके चक्षुके दोनों तारे स्थिर होजाने चाहिये। ये तारे स्थिर हुए कि चिदाकाश खुल गया। स्मरण रहे नेत्र दो हैं परन्तु दृष्टि दो नहीं, वह एक ही है। यह दृष्टि जीवरूपी शिवका तृतीय नेत्र है, इसे कोई-कोई लक्ष्य और कोई चित्त कहते हैं। नेत्रके सहित सभी इन्द्रियोंसे इसका सम्बन्ध है। बात सुनते-सुनते लक्ष्य दूसरी ओर चला गया तब श्रोता कहता है कि फिर कहो मेरा चित्त

दूसरी ओर बँट जानेसे मैं सुन नहीं सका। लक्ष्य अन्तर्मुखीन होनेसे आँखें खुली रहने पर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता। एवम् प्रकारेण प्रकृतिके विज्ञानको समझकर नामरूपसे दृष्टिको उद्धार करके उसे आत्मामे भलीभाँति स्थिर करना चाहिये।

जो महाप्राज्ञ एवम् उत्तम अधिकारी पुरुष हैं उन्हें दृष्टि, वाक् और बिन्दुको स्थिर करनेके लिये जप, तप, ध्यान और योग-यागकी भी कोई आवश्यकता नहीं। जिसने मानवीय प्रकृतिके बारीक विज्ञानको पूरा-पूरा समझ लिया है, गुरुमुखसे तत्त्वज्ञान श्रवणमात्रसे आत्मस्मृति उदय होकर जिसकी सांख्यमे अचला निष्ठा उत्पन्न होगई है उसे सब कुछ सहज प्राप्त होजाता है। जिसे जो सहज प्राप्त है उसकी प्राप्तिके लिये क्या किसीको कोई साधन या अभ्यास करना पड़ता है ?

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

कठ० १-३-६।

जो विज्ञानवान् होता है उसका मन सदा ही योगयुक्त रहता है और जिसका मन सर्वदा योगयुक्त है उसकी इन्द्रियाँ ऐसे ही वशमे रहती हैं जैसे सारथीके अच्छे घोड़े।

इस कोटिके महापुरुषोंकी इच्छा ही उनकी साधना है। उन्होंने इच्छा किया कि बस समाधि लग गई। जैसे किसी-किसीको होता है जब इच्छा किया सोगए; बच्चोंकी नीद उनके पलकोंमे ही घर बनाकर रहती है, कोई ढोल पीटे तो पीटता रहे, दुन्दुभिके तालमे नींद भी नाचते-नाचते आजाती है। खैर, सोना तो पशु भी जानता है परन्तु समाधि मनुष्यके सिवाय दूसरा कोई नहीं लगा सकता वास्तवमे समाधि सभी

मनुष्योंका सहजधर्म होना चाहिये, परमात्माने मनुष्यका शरीर ही समाधियोग्य बनाया है, सुतरां सहज समाधि न लगनेका एकमात्र कारण प्रज्ञादोषके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मनुष्यने इच्छा किया कि मुख बन्द होगया एवम् जब इच्छा किया और जानी हुई जिस भाषामे इच्छा किया मुखसे शब्द चूने लगते हैं। इस इच्छा और क्रियामे भी क्या कोई देर लगती है ? कुछ नहीं देखना चाहता आँख मूदलिया और जब चाहा तब खोल लिया, दश-बीस वर्ष बैठकर क्या इसके लिये भी किसीको कोई प्रकार सीखना या अभ्यास करना पड़ता है ? पाठक कहेंगे कि अरे यह कौन सी नई बात है, ऐसा तो एक मूर्ख भी करलेता है। परन्तु रुक जाइये, इतनी सहज कहकर लाख रुपयेकी बातको उड़ाना ठीक नहीं। इस सीधी सी बात पर गंभीर विचार करनेसे अध्यात्मका पूरा विज्ञान समझमे आजायेगा। अपने आपसे प्रश्न कीजिये। इस देहमे वह कौनसा सम्राट् है कि जिसकी इच्छामात्रसे नेत्रके पलक और अधरपल्लव विना ननु-नच किये तुरन्त खुलते और तुरन्त ही बन्द होजाते हैं ? वाक् और दृष्टिका नियामक, इनसे पर और उत्कृष्ट वह सम्राट् पुरुष ही मै हूँ और जिसकी इच्छासे जो काम होता है उसीकी अनिच्छासे यदि वह काम बन्द होजाता है तो इसमे आश्चर्यकी कौनसी बात है। और आगे चलिये। चमड़ेका मुख और चमड़ेकी आँख तो सहज ही रुद्ध होगईं, वाह्य शब्द और वाह्य रूप निकल गये परन्तु हृदयमे देखिये, मनका मुख और मनकी आँख अभी बन्द नहीं हुई है। घबड़ाइये नहीं, एक फूँकमे चिदाकाशके सारे बादल उड़ जायेंगे और तब कभी अस्त न होनेवाला अन्तःसूर्य उदय होजायेगा। मनमे नाम-रूपकी जो

अनन्त राशियाँ आती और जाती रहती हैं उन्हींमे से मुख्य-मुख्य पाँच-सात शब्द-रूप चुन लीजिये। अथवा कोई अन्य ही मन-पसन्द दश-पाँच वस्तुओं और व्यक्तियोंका रूप चिन्तन कीजिये एवं कुछ शब्द सोचिये। एक-एक शब्द और रूपको क्रमशः लीजिये, अल्पक्षण सोचिये, देखिये और फिर उनको छोड़ दीजिये। घंटे-आधघंटे ऐसा करके अपने आपसे पूछिये। सूक्ष्म शब्दों और सूक्ष्म रूपोंका यह ग्रहण और त्याग किसकी इच्छा से होरहा था ? मनके मुख और मनकी उस आँखका नियामक कौन है ? अरे वही तो मनका राजा मैं हूँ। ऐ मन ! अब तू अपनी आँख मूदले, अपना मुख बन्द करले। हमारी इच्छा ही तो हमारा मन है, इसलिये हमारी इच्छाके विरुद्ध वह कोई काम कैसे कर सकता है ? अब मेरी इच्छा कुछ देखने और सोचने की नहीं है। इसलिये ऐ मन ! जैसे प्रगाढ़ निद्रामे वैसे ही अब तू निच्छन्द और निरूप होजा। इस प्रकार मनको अपने आत्मासे अभिन्न मानकर उसे अपने आपमे लय करलेने से खेल-खेलमे अनायास हृदय सम्पूर्ण निस्तब्ध होजाता है। जिस देवताकी प्रेरणासे चित्तकी समस्त चेष्टायें होरही हैं वही होकर हम मनकी हलचलोंको तत्क्षण रोंक सकते हैं इसमे सन्देहकी तो कहीं कोई गुञ्जायश ही नहीं है। उस समय, अपने आपके अतिरिक्त अन्य कुछ भान नहीं रहता। अपनी स्मृतिमे केवल अपना अस्तित्व शेष रह जानेसे दृष्टि स्थिर होजाती है और विचारोंका उठना जब एकदम बन्द होजाता है तब वाक् स्थिर होजाती है। दृष्टि और वाक् स्थिर होनेके अनन्तर जब ब्रह्मरन्ध्रका मार्ग खुलता है तब बिन्दुस्थिरताकी प्रक्रिया आरम्भ होती है। यह ज्ञानीजनोंके सहज समाधिका मार्ग है। साधारण प्राणीकी अहन्ता केवल स्थूलदेहमे मूलबद्ध होनेके कारण हस्त,

मुख और नेत्रादिकी चेष्टाओंको तो वह सद्यः निरोध करलेता है परन्तु अन्तःकरणकी वृत्तियोंको वह इच्छामात्रसे नहीं रोक पाता अतएव उसे सविधि योगकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसमे समय लगता है और उसके सहस्रों उपाय हैं जिनमे कतिपयका संकेत किया जायेगा। आधुनिक नवयुवक समाज जपध्यान नहीं करना चाहता, कहता है कि वह बेकार है, उसमे हमारी प्रवृत्ति नहीं। वैद्य कहता है कि बेटा! ईश्वर करे तुम स्वस्थ रहो हम तुम्हें दवाई नहीं खिलाना चाहते, परन्तु तुम्हें रोग होगा तो फिर तुम्हारी एक न चलेगी, तुमको ओषधि सेवन करना ही होगा और न करोगे तो भोगोगे। ऐसे ही शास्त्र और परमेश्वर जीवसे कहता है कि तुम शब्द और रूप की व्यर्थ चिन्ता छोड़दो क्योंकि उसने तुमको अध्यात्मसे विमुखकर चंचल और अशान्त करदिया है, उस चिन्ताके कारण घरमे सुखके सब साधन होते हुए भी तुम दुःखी रहते हो। चूँकि नामरूपकी व्यर्थ चिन्ता किये विना एक क्षण भी जीवसे नहीं रहा जाता इसीलिये उसे जप और ध्यानके लिये वाध्य किया जाता है।

शिक्षितगण बहुतसे शब्दोंको सीख लेनेके कारण सर्वदा मनके महल बनाते और गिराते रहते हैं। अपनेको जो जितना ही अधिक बुद्धिमान् समझता है वह उतना ही अधिक रातदिन विचारोंके उधेड़बुनमे फँसा रहता है। कर्तव्यको स्थिर करनेके लिये कर्मकी शोधमे विचारोंका महत्त्व है इसमे सन्देह नहीं परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखाजाय तो मनुष्य चौबीस घण्टेमे आकाश-पातालकी जितनी बातें सोचता है उनका शतांश भी शरीरके द्वारा कर्ममे परिणत नहीं करपाता। कोई भी यह नहीं जानता कि आगे आनेवाले दूसरे क्षणमे हमारे मनमे कौनसा

भाव उदय हो जायेगा और हम क्या कर बैठेंगे। कर्मकी प्रेरणा करनेवाली शक्ति तो कोई अव्यक्त ही है और कर्मके बिना कोरा वन्ध्या विचार बेकार मनोविकार है, इसलिये साधकोंको विचारोंका मोह एकदम छोड़देना होगा। दैनिक नियतकर्मसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाली अपरिहार्य बातोंको छोड़कर व्यर्थ चिन्ताकी बुरी आदत कभी न डालनी चाहिये। श्रुति भगवतीकी आज्ञा है "न अनुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचः विग्लापनम् हि तत्" बृह० ४-४-२१। 'बहुतसे शब्दोंका निरन्तर चिन्तन मत करते रहो, वह वचनका अर्थहीन परिश्रममात्र है, उससे कोई लाभ नहीं'। इच्छा न रहते हुए भी शब्द और रूपका जो व्यापार अन्तरमे सब समय चला करता है उसमे विचारोंका इन्धन न डालकर जपके द्वारा शब्दको और इष्टध्यानके द्वारा रूपको मारकर हृदयको शून्य और स्तब्ध बनानेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। शब्द और रूपको रोकनेके ही निमित्त जपध्यानका विधान किया गया है। दयालु आचार्य नामरूपके समुद्रमे निमग्न मानवोंसे कहते हैं कि यदि तुम एक झटकारमे फटकारकर इस व्याधि को बाहर नहीं निकाल फेंकते तो जप और ध्यानके द्वारा उस पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त करनेकी इच्छा करो। यद्यपि अपने भीतर सब कुछ है और तत्त्व स्वयं ही स्फुटित होता है, तत्त्व-ज्ञान घोलकर कोई किसीको नहीं पिला सकता फिर भी सिद्ध-पुरुषोंसे ही जप और ध्यानकी विधि सीखना उत्तम है। घरके दूधको दधिमे परिणत करनेके लिये बाहरसे थोड़ा दही आवश्यक होता है। जपध्यानके समय सर्वदा सतर्क रहकर इसका विशेष ख्याल रखना चाहिये कि हृदयमे मन्त्रजप विचारोंका और इष्टध्यान मानसिक मिथ्या चित्रोंका सम्पूर्ण

स्थान ग्रहण करले अन्यथा जपध्यानका उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायेगा और कोटि-कोटि जपध्यान कीजिये उससे कोई लाभ नहीं, जिस कलशकी पेंदीमे छिद्र है उसमे चाहे जितना जल ढालिये, एक चुल्लू भी पानी ठहरनेको नहीं। जो लोग शूद्र प्रकृतिके हैं और ऐसा नहीं कर सकते उन्हें बकध्यानी बनकर व्यर्थ समय नष्ट न करके भगवदर्पणबुद्धिसे शरीरके द्वारा कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, वैसा करते-करते कर्म की वृत्ति क्षीण होने पर कालान्तरमे जपध्यानकी योग्यता उनमे आसकती है। अन्तःकरणके जिस यन्त्रसे विचार और रूपोंका पिष्टपेषण हुआ करता है ठीक उन्हीं खीले-पुर्जोंके द्वारा जपध्यान न करनेसे न तो अन्तरमे जागरित मन्त्रकी क्रिया होती और न इष्टदेवका प्रकाश। मन और शरीर प्रायः साथ-साथ नहीं रहते, यही जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है। शरीर तरुतलमे बैठा ध्यान कररहा है और मन चला गया मैदानमे फुटबाल खेलने। तन-मनको सर्वदा एक साथ रखना चाहिये। प्रायः देखा ऐसा जाता है कि मन अपनेको दो हिस्सोंमे बाँटकर एक अंशसे मंत्रजप करता रहता है और दूसरे भागसे गोरखधंधेकी बातें भी सोचता रहता है। मनमे ये दोनों क्रियायें जब साथ-साथ चलती हैं उस क्षणमे अपना लक्ष्य उन विचारों की ही ओर रहता है और मनमे उन्हींकी सुध रहती है, हम जप भी कररहे हैं इसकी स्मृति उस क्षणमे नहीं रहती, जप तो बेगार काटनेकी तरह अभ्यासवश हृदयके एक कोनेसे होता रहता है। इस कठिनाईसे पार होनेका उपाय यह है कि हम चित्तपट पर मंत्रके एक-एक अक्षरको लिखनेकी कल्पना करें और साथ ही मनके द्वारा किये हुए मंत्रके सूक्ष्म उच्चारण को अपने बारीक कानोंसे सुनते भी रहें। जिस समय ऐसा

भान होगा कि मन्त्रोच्चारणकी सूक्ष्मध्वनि हृदयसे उठकर कर्णकुहरोंमे गूँज रही है उस समय अन्य विचार बन्द हो जायेंगे। यदि किसीको ऐसी शंका हो कि मानसिक जपकी सूक्ष्म ध्वनि कानोंसे कैसे सुनें तो इसका उत्तर यह है कि स्वप्नावस्थामे जब हम किसीके साथ सम्भाषण करते हैं तो उन बातोंको किन कानोंसे सुनते हैं। स्वप्नमे या जाग्रत्मे मनुष्य जब किसीसे कुछ कहता है तो अपनी कही बातको वक्ता पहिले स्वयं सुनता है, यही कारण है कि बधिर जोरसे बोलता है। मानलीजिये किसी कारण मानसजपकी सूक्ष्मध्वनि यदि पकड़मे नहीं आती और विचारोंका ताँता भी नहीं टूटता तो जितने धीमे स्वरसे मनुष्य दूसरेके कानमे मुख लगाकर कोई गुप्त बात कहता है उतने ही स्वरमे केवल अपने कानोंको सुनाते हुए मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। जप मानसिक हो या उपांशु[1] मन्त्रके एक-एक शब्दको पृथक्-पृथक् बहुत स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये और जितनी विलम्बित गतिसे मन्त्रजप किया जाय, अच्छा है। कोई हानि नहीं यदि एक-माला गायत्री जप करनेसे एक घंटा लगजाय। सहस्र कौड़ी की अपेक्षा एक सुवर्णमुद्रा अधिक मूल्यवान् है। साधकको हजारामाला जप करनेकी बिलकुल कोई जरूरत नहीं।

परमेश्वर किसीके जप संख्याका रजिष्टर नहीं रखता। परमेश्वरके ऊपर दावा चलता है भावका, जपसंख्याका नहीं। शिशुने दो-चार बार माईको बुलाया और कहीं माईने अन-

१—उपांशु=मानसिक जप उत्तम, वाचिक निकृष्ट और उपांशु दोनोंके बीचका मध्यम जप है, यह जप इतने धीमे स्वरसे किया जाता है कि केवल अपने कानोंमे ध्वनि जाय दूसरा न सुन सके।

सुनी करदिया तो वह गुस्सामे हाथ-पैर पीटते हुए चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगता है। बच्चा समझता है कि माई उसकी अपनी है और इसलिये उसका माईके ऊपर दावा है। ऐसे ही भगवान्‌को परम स्वजन समझकर दावेके साथ बड़े भावसे उनको बुलाना चाहिये। मंत्र और कुछ नहीं, देवताके आह्वान का एक साधन है। जप मानसिक हो और उसमे अपने ही कानोंको सुनानेका भाव हो। हृद्गुहामे कीहुई जपकी ध्वनिको सुनते-सुनते विचारधारा जब एकदम सूखजाय तब मन्त्रजपका भी त्याग करके नीरवताके अगाध सुधासिन्धुमे डूबकर शान्तिका आनन्द लेना चाहिये और जब विचारोदयकी सम्भावना दिखाई पड़े तब पुनः जपचक्र चलाना चाहिये; इस प्रकार कुछकाल अभ्यास करनेसे जपकी औषधिके द्वारा विचारव्याधि मरजाने पर साधक समाधिमे पहुँच जाता है। इस साधनामे उत्तरोत्तर प्रगतिके साथ क्रमशः छोटा मन्त्र अधिक सहायक होता है सुतरां तब केवल प्रणव या तान्त्रिक बीजमन्त्रोंका जप करना चाहिये। जपके द्वारा चित्तको एकाग्र करनेकी द्वितीय विधि यह है कि हृद्गतिको छोड़कर हाथ या शरीरके किसी भी भागमें नाड़ीकी गतिका अनुभव करके उसी गतिके साथ मंत्रके एक-एक शब्दको मिलाकर जप किया जाय। इनमे ज्ञानमुद्राका जप सर्वोत्तम है। ध्यान दूसरी ओर बँटा न हो तो हाथके अँगूठेकी शिराको मध्यमा या अनामिका अँगुलीके शिरासे हलकेसे स्पर्श कराने पर नाड़ीकी अत्यन्त सूक्ष्म गतिका पता चलता है; उस गतिसे मन्त्रका एक-एक शब्द मिलाकर मानसजप करनेकी प्रणाली बड़ी प्राचीन, गुह्य और प्रशस्त मानी गई है। इससे चित्त सद्यः निरुद्ध होजाता है। यह भी एक तृतीय युक्ति है कि हृदयगुहामे तप्तसूर्य या

प्रज्वलित अग्निकी कल्पनाकर उसमे जो भी शब्द और रूप मनमे स्वयं उदय हों उन्हें इष्टमन्त्रके अन्तमे स्वाहा कहकर होम दिया जाय। अथवा हृदयमे प्रतिष्ठित इष्टदेवको अग्निमय विग्रह मानकर उन्हींके चरणोंमे मिथ्या मनोरथोंकी आहुति छोड़कर उन्हें भस्म करदिया जाय। कहाँतक गिनायें ऐसी अगणित युक्तियाँ हैं जो साधकोंको समय-समय पर स्वतः सूझा करती हैं।

विशालकाय पशुको दृढ़ खूँटा और रस्सीमे बाँध देनेसे वह स्थिर होजाता है। मंत्र मनमतङ्गको बाँधनेका निगड[1] और इष्टध्यान खूँटा है। जपके द्वारा विचारोंको बन्दकर अन्तमे मंत्रका भी त्याग करके साधक जैसे नीरवताके राज्यमे प्रवेश कर जाता है वैसे ही वह इष्टध्यानके द्वारा अन्य रूपोंको बन्द-कर अन्तमे ध्येयका भी त्याग करके हृदयके शून्य दहराकाशमे दृष्टिको अचलभावसे स्थिर करलेता है। जपके ही समान ध्यानके भी अनेक प्रकार हैं। कुछ लोग शिव, दुर्गा, गणेश. विष्णु और सूर्य प्रभृति पंचदेवोंकी मूर्ति या चित्रोंकी वाह्यो-पचारसे पूजाकर हृदयमे उन्हींका ध्यान करते हैं और कुछ मूलाधार, स्वाधिष्ठान प्रभृति चक्रोंमे क्रमशः भू, जल, अग्नि, वायु, आकाश प्रभृति तत्त्वोंकी चिन्ता करते हैं। शेषनागके ध्यानकी विधि भी बड़ी सुन्दर है। भवसागरमे स्थित यह शरीर ही शेषनाग है, सहस्रदलचक्र सहस्रफण हैं किम्वा पंचप्राण या पंचज्ञानेन्द्रिय सर्पके पंचमुख हैं, हृदयके अष्टदल-कमलकी शेषशय्यामे विष्णु भगवान् सोये हैं, मत्थे पर पृथ्वी रक्खी है, एक तिल भी आसन हिल जाय तो भूमण्डलमे हाहाकार मच जाय और इधर भगवान्की नींद टूट जाय, इसलिये साधकको

१—निगड=जंजीर, साँकर।

बड़ी सावधानीसे स्थिर होकर बैठना पड़ता है। बहुसंख्यक साधक अपने गुरुदेवका ध्यान करते हैं। कुछ अपने सामने दर्पण रखकर अपना ही विग्रह देखते हैं और अन्तमे उसे भी त्यागकर आत्मचिन्तन करते हैं। कुछ लोग परमात्माको अपनी दिव्य-काया और अपनेको उनकी नित्य संगिनी छाया मानकर निरन्तर ध्यान करते रहते हैं। बहुतसे अपनी प्रकृतिमे राधा भावका आरोपकर कृष्ण परमात्माको भजते हैं। स्त्रीदेहमे कृष्णभाव और पुरुषदेहमे राधाभावको लेकर उपासना करनेसे साधनामे शीघ्र प्रगति होती है और इसका मनोवैज्ञानिक कारण है किन्तु अत्यन्त सावधान होकर इस भावको बाहर प्रकट न करके अन्तःकरणमे ही छिपाकर रखना चाहिये। श्रीरामकृष्ण परमहंस और चैतन्य महाप्रभुने इस भावकी साधना किया था। इस पथसे हृद्गत भावोंको हृदयमे ही गोपनकर न रखनेसे साधनामे अनिवार्य क्षति होती है। अपने और भगवान्के मध्यमे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि लौकिक सम्बन्धोंकी कल्पना करके भी उपासनाकी अनेक विधियाँ हैं। बाँसकी ग्रन्थियोंको भीतरसे छेदकर जानेवाले छिद्रके समान कुछ लोग चक्रोंके भीतरसे होकर ब्रह्मरन्ध्र या मूर्धाको भेदकर जाने वाले सुषुम्नाके शून्यपथकी अहर्निश चिन्ता करते हैं। योगियोंमे अपने पैरके अंगुष्ठ अथवा मस्तकके ऊपर आकाशके ध्यानकी विधि भी प्रचलित है। कुछ श्वास-प्रश्वासके आवागमनकी चिन्ता करते हैं और उसके साथ-साथ जप भी करते जाते हैं। बारह अंगुलकी दूरी पर पूरे शरीरको आवेष्टित करके विद्यमान ज्योतिर्मय चक्रके ध्यानकी भी एक विधि है। बहुतसे साधक शरीरकी बनावटको प्रणवाकार मानकर इसीकी चिन्ता करते रहते हैं। इस विधिके अधिक अभ्याससे ऐसा प्रतीत होता है कि संसारमे पशुपक्षि-

मानवादिकोंके जितने भी शरीर हैं सब एक-एक प्रकारके प्रणव हैं। प्रणवाकृतिका जीवदेह और विशेषकर मानवदेहसे सारूप्य है। कुछ लोग अपने आत्माको विश्वमे और विराट् जगत्की मूर्तियोंको अपने आत्मामे देखनेका अभ्यास करते हैं। कर्मयोगके भीतरसे चित्तको एकाग्रकरनेवाले योगी अन्यचिन्तासे विरत होकर अपना शरीर जब जिस काममे लगा रहता है उस समय केवल उसीका ख्याल रखते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्मे बताया गया है कि उदरकी वैश्वानर अग्नि प्राण और अपानको समकर जब चार प्रकारका अन्न पचाती है उस समय उससे 'सोऽहम् हंसः' की एक ध्वनि निकलती है जिसे कान बन्दकर सभी लोग सुन सकते हैं। कुछ साधक इसीको सुननेका अभ्यास करते हैं। इस प्रकार ध्यानके बहुतसे विधि-विधान हैं और सभी स्तुत्य हैं, जिसे जो मनभावे करे परन्तु इतना स्पष्ट समझलेना चाहिये कि सबका एकमात्र लक्ष्य है दृष्टिको स्थिर करना। जिस विधिसे भी हो गुरु, देवता और आत्मा इन तीनोंमे अभिन्न बुद्धि रखकर ही उपासना करनी चाहिये, यही शास्त्रका आदेश है। शंकराचार्यके मठोंमे शान्तिपाठ पढ़ा जाता है— ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने। व्योमवत् व्याप्त-देहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥ अपनेसे भिन्न सातवें आसमानके किसी परमात्माको भजनेसे वह कभी न मिलेगा। जो अपना नहीं है वह अपनेको क्यों मिलने लगे और जो अपना है वह अपनेसे सदा अभिन्न है। अतः अपने आपमे, गुरुकी कायामे, देवताके विग्रहमे, अखिल विश्वकी मूर्तियोंमे आकाशवत्व्याप्त एक अखण्ड अद्वैत परमात्मतत्त्वको अनन्य प्रेमसे भजना चाहिये। अपना हो, गुरुका हो, किसीका भी हो विग्रह सबका जड़ ही होता है। कुछ साधक चिन्मय तत्त्वकी उपेक्षा

कर इस नाशवान् जड़ विग्रहके पूजापाठमे ही फँसे रहते हैं। कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि मन्दिरके देवता और गुरुके शरीरकी समुचित सेवा न कीजाय, आत्मवत् सेवा तो सभी की करनी चाहिये, हीरेसे बँधी गुदड़ीको भी मनुष्य यत्नसे रखता है फिर गुरु-गोविन्दका तो कहना ही क्या है परन्तु हीरेकी ओरसे आँख मूदकर गुदड़ीको ही सब कुछ मानलेना बड़ी भारी मूर्खता है। गुरुदेवके अमृतवाणीमे अनन्य निष्ठा रखकर तत्त्वसाक्षात्कारकी ओर लोगोंका ध्यान आजकल कम जाता है, वे केवल उनके बहिरङ्ग व्यक्तित्वसे आकृष्ट होकर उसीमे सन्तुष्ट रहते हैं और जब कालके चपेटाघातसे गुरुदेव का देह गिर जाता है तब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पथभ्रष्ट होजाते हैं अथवा आत्मचिन्तनसे उपरत होकर अपने ही शरीरकी आराधना आरम्भ करदेते हैं। ऐसे ही कुछ लोगोंका भगवान् चित्रकी दुकानोंमे दोआनेमे बिका करता है। वे बाजारसे देवी-देवताओंका चित्र लाकर ध्यान करते हैं और जब उस छविके ध्यानमें कुछ तन्मयता होजाती है तब कहते हैं कि उन्हें भगवान्के दर्शन होगये, भगवान्ने यों वार्तालाप किया, ऐसा प्यार किया इत्यादि और यदि कहीं आरम्भिक दो-चार छोटी-मोटी सिद्धियाँ मिल गईं तब तो वे स्वयंको ही भगवान् घोषणा कर देनेमे तनिक भी नहीं सकुचाते। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि प्रारम्भिक साधनमे देव-देवियोंके चित्रोंका ध्यान न किया जाय। अरे असली भगवान् जबतक नहीं मिलता तबतक नकली भगवान्को भी छोड़दें तो कहाँ जाँय। मनमे जो मिथ्या चित्र अहर्निश उदय होते रहते हैं उनकी अपेक्षा भगवान्के चित्रोंका ध्यान अवश्य उत्कृष्टतर है। भगवान्के चित्रोंमे तो फिर भी भगवान्की छाप लगी है और

उन्हें देखकर मनमे पुण्यस्मृतिका उदय होता है किन्तु मनःकल्पित चित्र तो मनमे विषयोंकी छाप छोड़ जाते हैं। रज्जुके सर्प और स्वप्नके हाथीका कोई अस्तित्व नहीं परन्तु उनसे जो भय होता है वह तो प्रत्यक्ष सत्य है। इन झूठे दृश्योंमे जब कि इतनी शक्ति है तब तो भगवद्ध्यान किसी प्रकार व्यर्थ जाही नहीं सकता। अतः देव-देवियोंके कल्पितचित्रोंका श्रद्धा सह ध्यान करके उससे मनके संस्कारजन्य मिथ्या चित्रोंको मिटा देना और अन्तमे उन देव प्रतिमाओंको भी आत्मामे विलीन करलेना चाहिये। संस्कृत ग्रन्थोंमे राधाकृष्णके रूपका जो वर्णन मिलता है उसीके आधार पर बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, जर्मनी और इंगलैण्डके सिद्धहस्त चतुर चित्रकार चित्र खींचें तो उन कलाकारोंके युगलसरकार देखनेमे एकसे कदापि न होंगे। रूप और गुणमे उन-उन देशोंके आदर्श स्त्री-पुरुषों की कुछ छाप राधाकृष्णके चित्रमे अवश्य होगी। सार बात यह कि इन चित्रोंमे भगवद्बुद्धि रखकर ध्यान करनेसे आरम्भमे कुछ सहायता अवश्य मिलती है परन्तु इनको स्वयं भगवान् मानकर सन्तोष करके बैठ जाना भारी भूल है। इन बातोंका यह भी अर्थ नहीं लेना चाहिये कि शिव, दुर्गा, गणेश प्रभृति हिन्दू देव-देवियोंको कोरी कविकल्पनाने जिन्दा कर रक्खा है और इनका कोई अस्तित्व नहीं। वस्तुतः ये सब देवता सत्य हैं और उनका अपना एक-एक दिव्यरूप है। परन्तु उनका दर्शन और प्रसाद प्राप्त करनेके लिये बाजारमे उपलब्ध उनके कल्पित चित्रोंका ध्यान अनिवार्य नहीं है। जो है उसके रूपकी पूर्वकल्पना करनेकी क्या जरूरत और विना देखे किसीके रूपकी कल्पना करें भी तो कैसे करें? इसलिये कौन देवता द्विभुज है, कौन चतुर्भुज और दशभुज है इस सम्बन्धमे

दिमाग गरम करना बिलकुल बेकार है। देवी, देवता, ईश्वर जब जो मिलेगा देख लेंगे वह कैसा है। मनुष्यका दिल यों ही अनन्त कल्पनाओंसे दबा हुआ है अब उसे और ज्यादा कल्पनाओंके आवरणसे ढकना ठीक नहीं। बाजारू चित्रोंका ध्यान कोई करे चाहे न करे दिव्यदृष्टि खुल जानेसे दयालु देवता अधिकारियोंको स्वयं ही आकर दर्शन देजाते हैं। इसलिये निरपवाद सर्वरूपोंसे दृष्टिका उद्धारकर उसे शून्यमें अचल स्थिर करना चाहिये। इसी प्रकार निर्गुण निराकार परम ब्रह्म परमात्माके सम्बन्धसे भी व्यर्थकी विवादास्पद बातों में पड़कर माथापच्ची करना निष्प्रयोजन है। जब कि तत्त्व स्वयं ही यथासमय आत्मरूप-प्रकाशकी प्रतिज्ञा करता है तब सत्यके अनुसन्धान करनेवाले साधकको उचित है कि वह ईश्वर-सम्बन्धी किम्-कथम्की सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सन्यास लेकर शुद्धान्तःकरणसे एकमात्र परमतत्त्वमें लक्ष्य रक्खे और अपनेको भगवत्कृपाका भाजन बनानेमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे। जैसे असत्य कल्पना सत्यके दर्शनमें बाधक है वैसे ही सत्यके सम्बन्धकी कल्पना भी साधकको सत्यसे दूर करदेती है; कल्पनामात्र सत्यका शत्रु है। इसलिये सत्यके जिज्ञासुको उसे विषवत् छोड़ देना चाहिये। परमसत्य जैसा है स्वतः आयेगा और अवश्य आयेगा। साधकको पात्र बनकर अनन्त कालको सामने रखते हुए धैर्यपूर्वक भगवत्कृपाकी मौन प्रतीक्षा करनी चाहिये। विविध युक्तियोंसे वाक् और दृष्टि स्थिर होजानेके अनन्तर जब बिन्दुकी भी सहज स्थिति होजाती है तब परमात्मा साधकको निःसन्देह वरण करता है।

चालकने जिधर घुमा दिया यन्त्र उसी दिशामें दौड़ पड़ता है। वैसे ही प्रकृति जीवके लक्ष्यके पीछे दौड़ती है। मनमें

रूपका उदय तब होता है जब उस ओर लक्ष्य जाता है। इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण तब करती हैं जब उस ओर लक्ष्य जाता है। बिन्दुक्षोभ तब होता है जब उस ओर लक्ष्य जाता है। कोई विचार तब उठता है जब उस ओर लक्ष्य जाता है। जीव जब विचार करता है तब वह विचारोंका द्रष्टा नहीं रहता, द्रष्टा होते ही विचार रुक जाता है। अन्नपाचन प्रभृति प्राणकी सहज क्रियाओंको छोड़कर कामनाजन्य मनोवाक्कायकी जितनी भी चेष्टायें हैं उनकी ओरसे तटस्थ होजाने या अपना लक्ष्य उठा लेनेसे प्रकृति उन क्रियाओंको बन्द करदेती है। इसलिये बिन्दु और वाक् स्थिर करनेके पूर्व सर्व प्रथम दृष्टिस्थिरताकी साधना ही आरम्भ करना चाहिये। जपध्यानादिका जो कार्य करना हो उस ओर लक्ष्य दे और जो न करना हो उस ओरसे दृष्टि उठाले—यही अभ्यासका क्रम है। अथवा मन-बुद्धिकी जिस चेष्टाको रोकना हो उस चेष्टाकी अधिष्ठातृशक्ति आत्माको मानकर और स्वयंको आत्मा ही जानकर उस चेष्टाको रोक दे। आकाशसे शब्दकी उत्पत्ति होती है इसलिए विचारोंने ब्रह्मरन्ध्रका सूक्ष्ममार्ग वन्दकर चिदाकाश या दहराकाशसे प्रवेशका द्वार रुद्ध कर रक्खा है। तेजसे रूपकी उत्पत्ति होती है इसलिए मनके कल्पित चित्रोंने ब्रह्मतेजको छिपा रक्खा है। दृष्टि स्थिर होजानेसे अपनी स्मृतिमें केवल हम रह जाते हैं और कुछ नहीं रहता, उस समय आत्मस्मृति जागती और ब्रह्मतेज प्रकट होता हैं। विचार बन्द होजानेसे शून्यपथ खुल जाता है। तब दक्षिण और वाम स्वरोंसे श्वास-प्रश्वास नहीं चलता, उन्हें छोड़कर वायु सम होजाता है। जैसे गाढ़ निद्रामें कंठके द्वारा नाभिसे मूर्धा पर्यन्त पूरा गंभीर श्वास चलता है उसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्र खुल जानेसे प्राण-अपान एक होकर मूर्धाके पथमें

विचरण करने लग जाते हैं। एक विचित्र तरहका प्राणायाम होने लगता है। इसमे रेचक-पूरकके समय नाकके दायें-बायें छिद्रोंको खोलने और बन्द करनेकी आवश्यकता नहीं होती। सम होकर ही वायु स्वभावतः आताजाता रहता है। इस प्राणायामका दीक्षासे घनिष्ट सम्बन्ध है। उस समय अपनेको ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मरन्ध्रपथसे ही वायु चल रहा है और कभी-कभी एकदम रुक जाता है। कभी अन्तःकुम्भकमे[1] प्राण अपानसे मिलता है और कभी बहिः कुम्भकमे[2] अपान प्राणसे जाकर मिलता है। बिन्दुको धारण करनेवाला वायु अपान ही है इसलिए जब अपान प्राणसे जाकर मिलता है तभी वह बिन्दुको ऊपर उठाता है। इस प्राणायामके द्वारा साधक ऊर्ध्वरेता होजाता है। ऊर्ध्वरेता होजाने पर चलते-फिरते, उठते-बैठते, साधारण व्यवहार करते फिर प्रकृतिमे कामका उपद्रव नहीं होता। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी लोकसमाजके भयके कारण अथवा भोगकी सुविधा प्राप्त न होनेके कारण ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करता। ब्रह्मचर्य उसका स्वाभाविक सहज धर्म होता है। प्रत्येक साधकको यह विदित हैं कि बिन्दुमे अधोगामी तरंग उठनेके पूर्व आज्ञाचक्र, हृदय और स्वाधिष्ठानमे वायुकी एक अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया होती है; ऊर्ध्वरेता होजाने पर उक्त स्थानकी नाड़ियोंका मुख ऊपरकी ओर होजाता है और तब वीर्यमे ऊर्ध्वमुखी तरंगें ही उठा करती हैं। प्रकृतिका यह एक रहस्यमय विचित्र व्यापार है। यहाँ यह स्मरण रहे कि उपरोक्त प्राणायामसे वीर्यका शोधन होकर रेत जब ओज बनता है केवल तभी उसकी ऊर्ध्वगति

१—अन्तःकुम्भक=वायुसे उदर पूरितकर कुम्भक।
२—बहिः कुम्भक=वायु निकालकर खाली पेट कुम्भक।

होती है। ऊर्ध्वरेता का यह अर्थ नहीं कि वीर्य कभी नीचे जा ही नहीं सकता, इस सम्बन्धमे प्रमाद तो कभी किसीको करना ही नहीं चाहिये, उसका इतना ही अर्थ है कि प्रकृति वीर्यकी अधोगतिमे एक दृढ़ बन्धन लगा देती है। कोई साधक अपनी इच्छासे बिन्दुकी अधश्चालना करना चाहे तो वह खुशीसे कर सकता है परन्तु ऐसा करनेमे एक तो उसे कष्ट होता है, ऐसा ही कष्ट जैसे कामुकको वीर्यके निरोधमे और दूसरे इस आत्मघाती कार्यमे उसकी सहज प्रवृत्ति नहीं होती। इस स्वाभाविक प्राणायामके होते समय गात्र पुलकित और शीतल होजानेसे अपनेको बहुत ही अच्छा लगता है। विस्तारसे क्या, अनुभवी लोग इसका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। जैसे लोकमे स्त्रीप्रकृति पुरुषके बिन्दुको धारणकर पुत्र प्रसव करती है उसी प्रकार साधककी अन्तः प्रकृति शुक्रका त्याग न कर जब उसे अपने गर्भमे धारण करलेती है तब यथासमय आत्मज्ञान प्रसूत होता है। वीर्यनाश करनेवाला सच्चा ज्ञानी कभी नहीं हो सकता।

दृष्टि, वाक् और बिन्दुकी स्थिरतासे जीवका पुरुषार्थ समाप्त होजाता है, इसके आगे अब वह अपने बलसे एक तिल भी नहीं जा सकता। अन्तर्शुद्धि पूरी होगई। विश्वका अश्वत्थ-वृक्ष भीतरसे कट गया। साधक संसारके पार पहुँच गया। देखनेको उसका शरीर संसारमे रहता है किन्तु उसके भीतरसे संसार निवृत्त होजाता है। योगकी इस स्थितिको संसार और भगवद्राज्यकी सीमा कहना अधिक उपयुक्त है। इसके आगे अलौकिक दिव्यतत्त्व है। महाशून्य और महती शान्तिकी इस स्थितिको जिसने प्राप्त करलिया उसके लिये आत्मप्रकाश की भूमिका प्रस्तुत होगई। जीवसे मिलनेके लिये जीवकी

अपेक्षा परमेश्वर कहीं अधिक व्याकुल है, अब वह बिना मिले नहीं रह सकता। योगमायाके परदेको फाड़कर भगवान् प्रकट होजाता है। तब आत्मरति होती है। जो आत्मरति है वही तत्त्वदृष्टिसे गोपियोंके साथ भगवान्‌का महारास है। स्वरुचि और निष्ठाके अनुसार कुछ सिद्ध आत्मायें नित्य-लीलामें रहती हैं और कुछ परमधाम या परमपदमें प्रवेश करजाती हैं, बात एक ही है उसमें कोई अन्तर नहीं। परमपद सर्वोच्च स्थिति है।

जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है उन्हें विदित है कि भगवत्कृपाका श्रीगणेश अन्तःसूर्यके उदयसे होता है। कुछ साधक इसे हृदयका तारा कहते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनीमें लिखा है कि उन्हें सर्वदा इसका दर्शन होता था। अन्तःसूर्य हमारी गुरुदेवता परमपदप्राप्ता श्रीसिद्धिमाताका दिया नाम है। अन्तःसूर्य नाम बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है। दहराकाशमें एकबार उदय होजाने पर मृत्युपर्यन्त जीवनमें फिर यह कभी अस्त नहीं होता। विना इसके उदय हुए, चाहे जितना कठोर तप किया जाय, दिल सूना मालुम पड़ता है, तत्त्वका पता नहीं चलता। जैसे तीर्थोंमें यात्रियोंको पर्वतीय प्राचीन भूगर्भ देखानेके लिये पण्डालोग दिनमें मसाल जलाकर उन्हें भीतर लेजाते हैं उसी प्रकार हृदयगुहामें तत्त्वको खोजनेके लिये परमात्मा जीवको यह ज्योति देता है। इसके बाद ही दूसरे अनुभव होते हैं। विज्ञानी भक्तोंकी भावनाके अनुसार भगवान् उनसे भिन्न-भिन्न क्रीड़ा करते हैं, सबके साथ एक सी लीला नहीं होती परन्तु जहाँ तक तत्त्वका प्रश्न है उसमें किंचित् भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। सुवर्ण कुण्डलके आकारमें सामने आये या कङ्कणके तत्त्वमें

और तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवत्कृपासे भगवान्‌का जितना भी दिव्यैश्वर्य दृष्टिगोचर हो तत्त्वदर्शी ऋषिको तो 'उनमे हम कौन हैं' ऐसी आत्मजिज्ञासा करके तत्त्वानुसन्धान ही करना चाहिये। तत्त्वज्ञानके बाद भगवान्‌को लेकर कोई कुछ भी खेल करे सभी शोभनीय है। हम जो कुछ भी कहते, देखते और जानते हैं वह आत्मा नहीं है प्रत्युत जिससे सब कुछ देखते और जानते हैं निश्चय वही आत्मा है, हम वही सच्चिदानन्द हैं। जो ऐसा जानता है वह अमर है, जो नहीं जानता उसके लिये श्रुति कहती है 'महती विनष्टिः'। भगवती श्रुति सोते बच्चोंका हाथ पकड़कर प्यारसे कहती है [illegible]टा! तुमलोग उठो, जागो और जिनको इस आत्माने वरण [illegible]िया है उन वरपुरुषोंको प्राप्तकर उनसे इस आत्माको जानलो [illegible]उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत" कठ० १-३-१४। [illegible] सप्तम अध्यायमे भगवान् कहते हैं 'नित्ययुक्त एकभक्ति [illegible]विशिष्ट ज्ञानीका मै अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे भी बहुत प्रिय है' इतना कहकर भी भगवान्‌को सन्तोष नहीं हुआ, तब वे कहते हैं "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" अरे ज्ञानी तो प्रत्यक्ष मेरा आत्मा ही है। ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, आत्मज्ञानी जो कहिये सब एक के ही अनेक नाम हैं। अब इसीको महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दोंमे सुनिये। अरी मैत्रेयी! जो अपना-आप है वही आत्मा है। अपने ही प्रयोजनके लिये अखिल विश्व प्रिय होता है। आत्मा ही देखने, सुनने, जानने और ध्यान करने योग्य है। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे ही अन्य सब विदित होजाता है। ये व्यक्ति और वस्तु सब आत्मरूप ही हैं। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयी आत्मनो वा

अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्। इमानि भूतानि इदं सर्वं यत् अयम् आत्मा। छा० द्वि० ४, ५–६।

जो आत्मक्रीड, आत्मरत और क्रियावान् है वह ब्रह्मवेत्ताओंमे सर्वश्रेष्ठ है।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

तृ० मुण्डक प्र० ४।

वैशाखी पूर्णिमा,
गुरुवार
वि० स० २०१०
२८ मई १९५३ ई०

हरिः ओ३म् तत्सत
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

